खण्ड

1

पश्चिम में समाजशास्त्र का उद्भव एवं विकास. कोंत के विशेष सन्दर्भ में

इकाई 1

समाजशास्त्र के उदय की सामाजिक पृष्ठभूमि

इकाई 2

समाजशास्त्र के उदय की बौद्धिक पृष्ठभूमि

इकाई 3

अगस्त कोंत : जीवन परिचय एवं कृतियाँ

इकाई 4

कोंत का विज्ञानों का वर्गीकरण एवं पदानुक्रम तथा त्रिस्तरीय सोपानों का सिद्धान्त

इकाई 5

कोंत का प्रत्यक्षवाद एवं सामाजिक स्थिति विज्ञान तथा सामाजिक गतिविज्ञान

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

परामर्श समिति

प्रो० देवेन्द्र प्रताप सिंह — अध्यक्ष
कुलपति
उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय,
इलाहाबाद

डॉ० एच० सी० जायसवाल — कार्यक्रम संयोजक
परामर्शदाता
उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इला०

डॉ० आर० के० बसलस — सचिव
कुल सचिव
उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय,
इलाहाबाद

विशेषज्ञ समिति

प्रो० वी० के० पंत — विषय विशेषज्ञ
से०नि०आचार्य एवं विभागाध्यक्ष
कुमाऊँ विश्वविद्यालय, नैनीताल

प्रो० डी० पी० सक्सेना — विषय विशेषज्ञ
से० नि० आचार्य
गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर

प्रो० पी० एन० पाण्डेय — विषय विशेषज्ञ
आचार्य एवं पूर्व विभागाध्यक्ष
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

डा० मंजूलिका श्रीवास्तव — संरचनात्मक विषय विशेषज्ञ
स्ट्राइड, इग्नू, नई दिल्ली

पाठ्यक्रम लेखन समिति

MASY-02 : – *पाश्चात्य सामाजिक विचारधारा*

खण्ड एक : अनूप कुमार सिंह, प्रवक्ता , डी०ए०वी० कालेज, कानपुर 5 इकाई (आकारगत 3)
खण्ड दो : पवन कुमार मिश्र, प्रवक्ता, लखनऊ विश्वविद्यालय 4 इकाई (आकारगत 3)
खण्ड तीन : डॉ० अनिल कुमार मिश्र, प्रवक्ता, डी०ए०वी० कालेज, कानपुर 4 इकाई
खण्ड चार : मणीन्द्र कुमार तिवारी, प्रवक्ता, डी०ए०वी० कालेज, कानपुर 4 इकाई
खण्ड पाँच : पवन कुमार मिश्र, प्रवक्ता, लखनऊ विश्वविद्यालय 5 इकाई (आकारगत 4)
सम्पादन : प्रो० वी० के० पंत

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद
सर्वाधिकार सुरक्षित, इस कार्य के किसी भी अंश की उ० प्र० राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद की लिखित अनुमति के बिना मिमियोग्राफ अथवा किसी अन्य साधन से पुनः प्रस्तुति अनुमन्य नहीं है।

दूरस्थ शिक्षा परिषद, नई दिल्ली के सहयोग से प्रकाशित।

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद की ओर से डॉ0 **अरूण कुमार** गुप्ता कुलसचिव द्वारा मुद्रित एवं प्रकाशित, अगस्त, 2019
मुद्रक : चन्द्रकला यूनिवर्सल प्राइवेट लिमिटेड, **42/7 जवाहरलाल नेहरू रोड, प्रयागराज–211002**

खण्ड परिचय

पश्चिम में समाजशास्त्र का उद्‌भव एवं विकास : कोंत के विशेष सन्दर्भ में

वस्तुत: पिछले एक सौ पैंसठ वर्षों के अध्ययन में प्रथम बार 1938 ई0 में फ्रांसीसी दार्शनिक आगस्त कोंत ने 'समाजशास्त्र' शब्द का प्रयोग किया। लेकिन समाज के बारे में गम्भीर चिन्तन यूरोप में 19वीं शताब्दी में हुए महत्वपूर्ण परिवर्तनों से प्रारम्भ हुआ है। 18वीं शताब्दी की फ्रांस क्रान्ति, औद्योगिक क्रान्ति एवं यूरोपीय पुनर्जागरण सम्मिलित रूप से पश्चिम में समाजशास्त्र के उदय के लिए उत्तरदायी हैं, साथ ही बौद्धिक परिवर्तनों जिनमें उद्‌विकास का जीव शास्त्रीय सिद्धान्त, सामाजिक सर्वेक्षण विधि का विकास, राजनीतिक-सामाजिक आन्दोलन, महत्वपूर्ण हैं, के कारण भी समाजशास्त्र के अविर्भाव की पृष्ठभूमि तैयार हुई। समाज में महान आर्थिक और राजनीतिक परिवर्तन 19वीं शताब्दी के यूरोप में हुए और वहां के विज्ञान और दर्शन में जो परम्पराएं बड़े सजीव रूप में क्रियाशील थीं, उनके बीच समाज के अध्ययन का वैज्ञानिक स्वरूप उभरने लगा। केवल यह कहना पर्याप्त नहीं है कि समाज विज्ञान का उदय पश्चिम में हुआ। पश्चिम में भी 19वीं सदी के विशिष्ट अनुभव और इतिहास ने उन परिस्थितियों और प्रयासों को जन्म दिया, जिसमें यह विचारधारा विकसित हुई।

इस खण्ड को 5 इकाइयों में विभाजित किया गया है। इकाई 1 का शीर्षक **समाजशास्त्र के उदय की सामाजिक पृष्ठभूमि** है। इस इकाई में पाठकों को समाजशास्त्र विषय के अविर्भाव के लिये उत्तरदायी सामाजिक पृष्ठभमि के बारे में जानकारी मिलेगी। अर्थात प्राचीन लेखों में सामाजिक चिन्तन प्रतिचिन्तन के रूप में समाजशास्त्र की झलक किस प्रकार मिलती है, इस विषय की विश्लेषण पद्धतियाँ कौन-कौन सी हैं। वैज्ञानिक क्रान्ति, वाणिज्यिक क्रान्ति, फ्रांस की क्रान्ति, औद्योगिक क्रान्ति किस तरह उस सामाजिक चित्र के लिये उत्तरदायी हैं, जिसके विश्लेषण के लिये समाजशास्त्र जैसे समाज को वैज्ञानिक तरीके से विश्लेषित करने वाले विषय की आवश्यकता पड़ी, इस पर भी इस इकाई में प्रकाश डाला जायेगा।

इकाई 2 का शीर्षक **समाजशास्त्र के उदय की बौद्धिक पृष्ठभूमि** है। जिसके अन्तर्गत अठारहवीं व उन्नीसवीं शताब्दी के पाश्चात्य दर्शन, जिसने समाज के विभिन्न महत्वपूर्ण अंगों, संस्थाओं के बारे में एक विचारोत्तेजक विमर्श प्रारम्भ किया, फलस्वरूप एक समाज विज्ञान की आवश्यकता पड़ी, जिसका स्थान समाजशास्त्र ने लिया। इतिहास का दर्शन एवं जीवशास्त्र का उद्‌विकासीय सिद्धान्त जिसे स्पेन्सर समनर में समाज के विश्लेषण के लिए अनुप्रयोगित किया, पर भी इस इकाई में चर्चा की जायेगी। सामाजिक सर्वेक्षण विधि का विकास भी समाजशास्त्र के उदय में सहायक रहा है, इस पर भी प्रकाश डाला जायेगा।

इकाई 3 में **अगस्त कोंत : जीवन परिचय एवं कृतियां** पर विवेचन किया गया है। चूँकि आगस्त कोंत को समाजशास्त्र का जनक मानाजाता है। अत: इनके जीवन परिचय, मुख्य विचारों एवं इनकी कालजयी कृतियों को इस इकाई में उल्लिखित किया गया है।

इकाई 4 में **कोंत का विज्ञानों का वर्गीकरण एवं पदानुक्रम तथा त्रिस्तरीय सोपानों के सिद्धान्त** का विश्लेषण किया गया है।

इकाई 5 का शीर्षक **कोंत का प्रत्यक्षवाद तथा सामाजिक स्थिति विज्ञान तथा सामाजिक गतिविज्ञान** है।

कोंत के मौलिक योगदानों में सर्वाधिक महत्वपूर्ण कृतित्व प्रत्यक्षवाद है, जिसने समाजशास्त्र को वैज्ञानिक दिशा प्रदान की। प्रत्यक्षवाद की चर्चा इस इकाई में विज्ञान और धर्म के रूप में की गयी है। तथा सामाजिक व्यवस्था के सिद्धान्त के रूप में सामाजिक स्थिति विज्ञान तथा सामाजिक प्रगति के सिद्धान्त के रूप में सामाजिक प्रगति विज्ञान की चर्चा एवं विश्लेषण इस इकाई के अन्तर्गत किया गया है।

इकाई 1 समाजशास्त्र के उदय की सामाजिक पृष्ठभूमि

इकाई की रूपरेखा

1.0 उद्देश्य

1.1 प्रस्तावना

1.2 समाजशास्त्र के उदय की पृष्ठभूमि

1.2.1 प्राचीन लेखों में समाजशास्त्र

1.3 समाजशास्त्र का उदय : विश्लेषण पद्धतियां

1.4 यूरोप पुनर्जागरण

1.4.1 वैज्ञानिक क्रान्ति

1.4.2 वाणिज्यिक क्रान्ति

1.5 फ्रांस की क्रान्ति

1.6 औद्योगिक क्रान्ति

1.7 सारांश

1.8 बोध प्रश्न

1.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

1.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप:

- समाजशास्त्र के उदय की पृष्ठभूमि का उल्लेख कर सकेंगे।
- यूरोप की उन परिस्थितियों का वर्णन कर सकेंगे जिनमें समाजशास्त्र का उदय हुआ।
- फ्रांस की क्रान्ति और औद्योगिक क्रान्ति की समाजशास्त्र के उदय में भूमिका का विवरण कर सकेंगे।
- यूरोपीय पुनर्जागरण की समाजशास्त्र के उदय में भूमिका का उल्लेख कर सकेंगे।

1.1 प्रस्तावना

फ्रांस के दार्शनिक विद्वान अगस्त कोंत ने "सोशियोलाजी" शब्द का प्रयोग प्रथम बार किया। इसी कारण कोंत को समाजशास्त्र का जनक (father of Sociology) कहा जाता है। समाजशास्त्र की उत्पत्ति के मूल स्रोतों पर प्रकाश डालते हुए गिन्सबर्ग (Ginsberg) ने लिखा है कि "मोटे तौर पर यह कहा जा सकता है कि समाजशास्त्र की उत्पत्ति राजनीतिक दर्शन, इतिहास, विकास के जैविकीय सिद्धान्त एवं उन सभी सामाजिक और राजनीतिक सुधार आन्दोलनों पर आधारित है जिन्होंने सामाजिक दशाओं का सर्वेक्षण करना आवश्यक समझा।" गिन्सबर्ग के इस कथन से स्पष्ट होता है कि समाजशास्त्र की उत्पत्ति के लिये राजनीतिक दर्शन, इतिहास, एवं विकास के जैविकीय सिद्धान्त उत्तरदायी हैं।

वैज्ञानिक एवं वाणिज्यिक क्रान्ति दोनों सम्मिलित हैं।

फ्रांस की क्रान्ति और औद्योगिक क्रान्ति से क्रमश: समाज में व्यवस्था और संरचना के स्तर पर जो परिवर्तन हुए उससे सम्पूर्ण सामाजिक व्यवस्था में नवीन अविष्कारों एवं राजनीतिक स्वातन्त्र्य के मूल्यों की स्थापना पर बहस होने लगी, तो विघटित एवं विश्रंखलित होती सामाजिक व्यवस्था के पुनर्गठन के लिये विचारकों ने समाजशास्त्र को वैज्ञानिक विषय के रूप में स्वीकारा तथा साथ ही इसकी महत्ता को स्पष्ट किया।

इस इकाई के भाग 1.2 एवं भाग 1.3 में समाजशास्त्र के अविर्भाव की पृष्ठभूमि की चर्चा की गयी है। उन विश्लेषण पद्धतियों का विवरण भी दिया गया है। जो विषय के उद्‌भव को आधार देने में महत्वपूर्ण रही हैं। इस इकाई के भाग 1.4 एवं भाग 1.5 के अन्तर्गत वैज्ञानिक क्रान्ति तथा वाणिज्यिक क्रान्ति एवं फ्रांस की क्रान्ति के बारे में सम्पूर्ण विश्लेषण मिलता है।

भाग 1.6 में विचारों में परिवर्तन, समाज में परिवर्तन लाने वाली महत्वपूर्ण घटना जो वैश्विक पटल पर घटी जिसे औद्योगिक क्रान्ति कहते हैं, का विवेचन किया गया है।

1.2 समाजशास्त्र के उदय की पृष्ठभूमि

प्रारम्भिक समाजशास्त्रियों द्वारा विकसित विचारों की जड़ें उन सामाजिक परिस्थितियों में हैं जो उस समय के यूरोप में मौजूद थीं। अत: एक वैज्ञानिक विषय के रूप में समाजशास्त्र के उदय के प्रारम्भिक संकेत हमें यूरोपीय इतिहास के उस काल में तलाशने होंगे, जिसमें फ्रांसीसी क्रान्ति तथा औद्योगिक क्रान्ति के रूप में इतने व्यापक सामाजिक, राजनीतिक, और आर्थिक परिवर्तन हुए। यूरोपीय समाज में परिवर्तन का यह युग प्रबोधन युग (Enlightenment period) के नाम से जाना जाता है। क्योंकि इसमें 18वीं शताब्दी के फ्रांसीसी दार्शनिकों की चेतना को निश्चित रूप से व्यक्त किया गया है। प्रबोधन युग में सामंतवादी यूरोप के परम्परागत चिन्तन में क्रान्तिकारी परिवर्तन आया। इससे यथार्थ की नई दृष्टि और उसके चिन्तन के नए तरीके ने जन्म लिया। लोग जीवन के हर पहलू पर तार्किक चिन्तन करने लगे तथा इस समय धर्म, सरकार या राजा की कही बात को सत्य मानने की प्रवृत्ति समाप्त होने लगी।

यह विश्वास किया गया कि प्रकृति तथा समाज, दोनों का वैज्ञानिक ढंग से अध्ययन किया जा सकता है। मनुष्य अनिवार्यत: तार्किक प्राणी है। तर्कपूर्ण सिद्धान्तों पर आधारित समाज मनुष्य को अपनी अनन्त क्षमताओं को पहचानने में अधिक सहायक होगा। ऐसे विचारों की जड़ें यूरोप में विज्ञान तथा वाणिज्य के विकास में निहित थीं। वाणिज्यिक क्रान्ति तथा वैज्ञानिक क्रान्ति के फलस्वरूप एक नया दृष्टिकोण पनपा तथा यह फ्रांसीसी तथा औद्योगिक क्रान्तियों के दौरान पुष्ट हुआ। इस नये दृष्टिकोण से समाजशास्त्र का उद्‌भव हुआ।

यूरोपीय समाज में हो रहे सामाजिक परिवर्तन को समझने के लिए सबसे पहले हमें उस समाज का अध्ययन करना होगा, जो परम्परागत यूरोप में, अर्थात प्रबोधन युग से पूर्व वहां मौजूद था। औद्योगिक क्रान्ति के फलस्वरूप अर्थव्यवस्था में काफी नये परिवर्तन हुए, जैसे - कल कारखानों का विकास, आधुनिक मुद्रा व्यवस्था, बहुमा उत्पादन (Mass Production) दूसरी ओर सामाजिक क्षेत्र में पुराने सांस्कृतिक मूल्यों एवं धर्म की जड़ें हिलने लगीं। बुद्धिवाद (Rationalism) तथा तर्क (Logic) का विकास हुआ। गांव के स्थान पर नगरों का विकास, सामन्ती वर्ग के स्थान पर औद्योगिक वर्ग का विकास, विस्तृत एवं संयुक्त परिवार के स्थान पर मूल परिवारों (Nuclear family) का विकास होने लगा।

राजनीतिक क्षेत्र में वैयक्तिक स्वतन्त्रता, लोकतन्त्रीय मूल्यों एवं समानता जैसे विचारों का विकास होने लगा। समाजशास्त्र के विकास में जिन प्रमुख बौद्धिक परम्पराओं का योगदान सबसे अधिक रहा है। इन्हें हम चार भागों में बांट कर देख सकते हैं।

1. **राजनीतिक दर्शन (Political Philosophy)** उस काल के विचारकों ने आधुनिक राजनीतिक व्यवस्थाओं जैसे प्रजातन्त्र के सामाजिक आयामों की चर्चा की, पुराने राजनीतिक मूल्यों एवं परम्पराओं को उखाड़ फेंकने का सुझाव दिया। उनका मानना था कि पुराने मूल्यों के आधार पर नये समाज का निर्माण नहीं हो सकता है।

2. **इतिहास का दर्शन (Philosophy of History)** इस काल के प्रमुख विचारकों जैसे स्मिथ (Smith), हीगल (G.W.F. Hegal), फर्गूसन (Adam Ferguson) , कोंत (A. Comte)ने समाज के विकास एवं परिवर्तन का एक नया विश्लेषण एवं दर्शन दिया, जिसका बौद्धिक प्रयास आज भी देखने को मिलता है।

3. **उद्‌विकास के जैविक सिद्धान्त (Biological theories)** लैमार्क (Lamarck) एवं डार्विन (Darwin) जैसे विचारकों ने मानव के उद्‌विकास का एक नया सिद्धान्त प्रतिपादित किया जिसका प्रभाव स्पेन्सर तथा मार्गन जैसे विद्वानों के विचारों में भी दिखाई पड़ता है। जैविक उद्‌विकास के सिद्धान्त ने समस्त परम्परागत मान्यताओं को उखाड़ फेंका और एक नये वैज्ञानिक चिंतन का मार्ग प्रशस्त किया।

4. **सामाजिक एवं आर्थिक सुधार का आन्दोलन (Movement for social and economic reforms)** कुछ विचारकों ने औद्योगिक एवं फ्रांसीसी क्रान्ति से उत्पन्न विभिन्न प्रकार की सामाजिक और आर्थिक समस्याओं के अध्ययन हेतु सर्वेक्षण पद्धति के प्रयोग पर बल दिया।

इरविंग जेटलिन (E. Zeitlin) ने लिखा कि समाजशास्त्र की उत्पत्ति दो विरोधी विचारधाराओं के बीच अन्त: क्रिया से हुई है। प्रथम विचारधारा को प्रगति की विचारधारा (Ideology of progress) और दूसरे को व्यवस्था की विचारधारा (Ideology of order) की संज्ञा दी है। पहली विचारधारा 18वीं सदी की विचारधारा मानी जाती है। प्रगति की विचारधारा को मानने वालों की मान्यता यह थी कि समाज प्रकृति का एक अंग है इसलिए प्रकृति का नियम समाज पर भी लागू होता है, दूसरी ओर औद्योगिक तथा फ्रांसीसी क्रान्ति के फलस्वरूप यूरोपीय समाज एक संक्रान्ति काल से गुजरा था। पुराने नियम, मूल्य एवं विचार टूट रहे थे, और उनकी जगह पर नये सामाजिक नियम व कानून उदित हो रहे थे। इसके परिणामस्वरूप बुद्धिजीवी जगत में विरोधी विचारधारा का विकास 19वीं सदी के प्रारम्भिक काल में हुआ जिसे व्यवस्था की विचारधारा (Ideology of order) के नाम से जाना जाता है।

औद्योगिक क्रान्ति और फ्रांसीसी क्रान्ति से सामाजिक रूपान्तरण की प्रक्रिया प्रारम्भ हुई। क्रान्ति के बाद की सामाजिक व्यवस्था ने फ्रांस के विचारकों – विशेष रूप से सेन्ट साइमन और आगस्त कोंत को उद्वेलित किया। व्यवस्था, सामाजिक पुनर्गठन तथा समाज की वैज्ञानिक व्याख्या की तलाश में उन्होंने एक नए विज्ञान की आवश्यकता पर जोर दिया।

फ्रांस क्रान्ति तथा औद्योगिक क्रान्ति के फलस्वरूप जो नया यूरोप उभरकर आया, उसने प्राचीन यूरोप के मुख्य पहलू को चुनौती दी। फलस्वरूप वर्गों का पुनर्गठन हुआ। पुराने वर्ग ध्वस्त हो गये तथा नये वर्गों ने जन्म लिया। धर्म को चुनौती दी जाने लगी। समाज की मुख्य धारणाओं – धर्म, समुदाय, सत्ता, सम्पत्ति आदि की नई व्याख्याएं होने लगी और उन्हें नए सन्दर्भ मिलने लगे।

1.2.1 प्राचीन लेखों में समाजशास्त्र

समाजशास्त्र के अविर्भाव की पृष्ठभूमि पर दृष्टिपात किया जाय तो दार्शनिक परिप्रेक्ष्य में लिखी गयी काल. जयी कृतियां भी समाजशास्त्र के उदय के लिए मार्ग प्रशस्त करती प्रतीत होती हैं। इस सन्दर्भ में दार्शनिक प्लेटो (Plato) की पुस्तक दी रिपब्लिक (The Republic) अत्यन्त महत्वपूर्ण है। प्लेटो ने जो तथ्य व विवेचना समाज के बारे में 347 ई0 पू0 प्रकट किये थे वे आज भी प्रासंगिक हैं। प्लेटो के अनुसार व्यक्ति ठीक उसी प्रकार व्यवहार करता है जिस प्रकार से समाज उसे व्यवहार करना सिखाता है। प्लेटो का विश्वास है कि प्रत्येक व्यक्ति में सीखने की क्षमता अलग-अलग होती है इसलिये सामाजिक समानता होने पर भी व्यक्तिगत भिन्नताएं बनी रहेंगी। इसलिये सामाजिक ढांचे के अन्तर्गत पूर्ण समानता की कल्पना करना अनुचित है। प्लेटो के अनुसार आदर्श समाज का एक आवश्यक नियम यह होना चाहिए कि प्रत्येक व्यक्ति को उसकी क्षमता के अनुसार कार्य करने दिया जाय। प्लेटो ने समाज को एक शरीर के रूप में माना है,जिसमें अंगों के स्वरूपों में भिन्नता होने पर भी शरीर के सभी अंगों में सहसम्बन्ध होना आवश्यक है।

प्लेटो के शिष्य अरस्तू (Aristotle) ने अपनी पुस्तकों "Ethics" तथा "Politics" में अपने गुरु की मान्यताओं को पलट दिया।

प्लेटो का मत था कि मानव व्यवहार उसके समाज की उपज है इसके विपरीत अरस्तू का समाजशास्त्रीय सिद्धान्त यह स्थापित हुआ कि समाज की प्रकृति व्यक्ति के स्वभाव पर निर्भर है। मनुष्य के स्वभाव को परिवर्तित नहीं किया जा सकता, इसलिये समाज को बदलना सम्भव नहीं है। अरस्तू के अनुसार परिवार का स्थान राज्य से पहले है। मानव के अस्तित्व को बनाये रखने के लिये पारिवारिक जीवन प्रकृति की प्रणाली है और उसका विकास मानव की भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए हुआ है। समुदाय परिवारों का संकलन है इस प्रकार परिवार सामाजिक जीवन की आधारभूत इकाई है (Aristotle) ।

1.3 समाजशास्त्र का उदय : विश्लेषण पद्धतियां

समाजशास्त्र के उद्भव और विकास पर विचार करते समय मुख्य रूप से तीन विश्लेषण पद्धतियाँ दिखाई पड़ती हैं।

1. विश्लेषण की पहली पद्धति मानव चिंतन की निरन्तरता पर बल देती है। इस तरह से विश्लेषण में ऐतिहासिक रीति से प्राचीन और मध्ययुगीन सामाजिक चिंतन से समाजशास्त्र के उदय और विकास को जोड़ने की चेष्टा की जाती है।

सामाजिक चिंतन के इतिहास से सम्बन्धित विभिन्न पाठ्यपुस्तकों के लेखकों, विशेष रूप से बार्न्स (1948) और टिमाशेफ (1954) ने इस पद्धति को अपनाया है। इनके अनुसार समाजशास्त्र का आरम्भ चिंतन के एक निरन्तर प्रवाह का अंग है। इसकी शुरुआत ग्रीस, रोम, भारत, चीन, अरब, देशों में प्राचीन काल में हुई। मध्य युग से होते हुए सामाजिक चिंतन आधुनिक युग तक पहुंचा है।

2. विश्लेषण की दूसरी पद्धति निरन्तरता तथा ऐतिहासिकता के स्थान पर सिद्धान्तों एवं तथ्यों के विवेचन पर बल देती है।

3. विश्लेषण की तीसरी पद्धति के प्रतिपादकों का विचार है कि सामाजिक विचारों की ऐतिहासिक व्याख्या प्रस्तुत करने वाले लेखकों ने चिन्तन की निरन्तरता पर अनावश्यक बल दिया है। इन लोगों ने समाजशास्त्र के उद्भव पर तत्कालीन यूरोप के सामाजिक और आर्थिक परिप्रेक्ष्य में विचार किया है।

रेमण्ड एरन (1957) और राबर्ट निस्बेट (1967) द्वारा प्रस्तुत समाजशास्त्रीय चिंतन की मुख्य धाराओं और समाजशास्त्रीय परम्परा के विवेचन में इस तरह की विश्लेषण पद्धति दिखाई पड़ती है। (निस्बेट 1967)।

1.4 यूरोप पुनर्जागरण

पुनर्जागरण काल के आरम्भ का मुख्य कारण यूरोप पर तुर्कों का आक्रमण था। पूर्वी रोमन साम्राज्य की राजधानी इस्ताम्बुल मध्य युग में विद्या का केन्द्र थी। जब इस नगर पर तुर्कों ने आक्रमण कर दिया तो बहुत से विद्वान भागकर इटली पहुँच गये। वे अपने साथ यूनानी और लैटिन भाषा के ग्रन्थों की अनेक प्रतियां भी ले आये। पुनर्जागरण की उत्पत्ति 14वीं और 15वीं शताब्दी में इटली में हुई। फिर भी प्रत्येक देश में इस प्रवृत्ति की अलग-अलग विशिष्टताएं विकसित हुईं। 16वीं शताब्दी में पुनर्जागरण अपनी पराकाष्ठा पर पहुंचा। बड़े-बड़े लेखक, चित्रकार, शिल्पकार, वैज्ञानिक पैदा हुए। रोमन सभ्यता के भग्नावशेषों की खोज होने के कारण इटली इस प्रवृति का मुख्य केन्द्र बना रहा।

1. बारहवीं शताब्दी से विश्वविद्यालय में संस्कृति का प्रचार।
2. मुद्रणालय का अविष्कार और कागज का प्रयोग।
3. उच्च मध्यवर्गियों द्वारा कलाओं का प्रयोजन।

इन सबके कारण पन्द्रहवीं शताब्दी का मनुष्य मध्य युग की धार्मिक यथार्थताओं से दूर होकर मोदक यथार्थताओं की ओर देखने लगता है। यूरोप में दो क्रान्तियों का काल पुनर्जागरण युग कहलाता है (चौहान, 1994)

1. वैज्ञानिक क्रान्ति
2. वाणिज्यिक क्रान्ति

1.4.1 वैज्ञानिक क्रान्ति

पुनर्जागरण काल में यूरोप में वैज्ञानिक क्रान्ति हुई। इस वैज्ञानिक क्रान्ति के प्रभाव से न केवल मनुष्य के भौतिक जीवन में परिवर्तन हुआ बल्कि प्रकृति और समाज के प्रति मनुष्य के विचारों में भी बदलाव आया। विज्ञान के इतिहास का अर्थ घटनाओं और उनकी तिथियों की सूची मात्र नहीं है। यह एक ओर समाज, राजनीति, अर्थव्यवस्था तथा संस्कृति और दूसरी ओर विज्ञान के बीच आदान-प्रदान का वृत्तान्त है।

विज्ञान के सामाजिक प्रकार्य

विज्ञान का विकास समाज से अलग होकर नहीं होता, बल्कि यह मानवीय आवश्यकताओं की प्रक्रिया में ही विकसित होता है। समाज के भौतिक जीवन को प्रभावित करने के साथ-साथ विज्ञान का विचारों से गहरा सम्बन्ध है। समाज में विद्यमान सामान्य बौद्धिक वातावरण विज्ञान के विकास को प्रभावित करता है। इसी प्रकार विज्ञान में नई प्रगति से अन्य क्षेत्रों में लोगों के दृष्टिकोण तथा आस्थाओं में परिवर्तन आ जाता है। मध्यकालीन समाज में सामंतवादी व्यवस्था हावी थी। सत्ता और ज्ञान का केन्द्र बिन्दु धर्म था। शिक्षा मुख्यत: धार्मिक प्रवृत्ति की दी जाती थी। इसलिए विज्ञान की प्रगति की उपयोगिता केवल उत्पादन की तकनीकों को सुधारने तक सीमित थी। 'पुनर्जागरण काल' में वैज्ञानिक क्रान्ति की प्रक्रिया प्रारम्भ हुई। इससे विज्ञान के क्षेत्र में व्याख्या एवं समालोचना के युग का सूत्रपात हुआ। यह अतीत से एक स्पष्ट विच्छेद था । इस समय विलियम हार्वे ने रक्त परिसंचरण की खोज की। इससे कई प्रकार के नये चिन्तन को बल मिला। मनुष्य के शरीर को एक दूसरे से जुड़े अवयवों एवं परस्पर सम्बद्ध प्रणालियों के सन्दर्भ में देखा जाने लगा।

इसी समय में 1859 ई0 में चार्ल्स डार्विन द्वारा लिखी गयी पुस्तक "The Origin of Species" विकासवादी विचारकों के लिये प्रेरणादायक पुस्तक बनी, जिनमें हर्बर्ट स्पेन्सर तथा दुर्खीम का नाम लिया जा सकता है।

1.4.2 वाणिज्यिक क्रान्ति

वाणिज्यिक क्रान्ति का अभिप्राय व्यापार तथा वाणिज्य के विस्तार से है। यह विस्तार इतना व्यापक तथा सुव्यवस्थित था कि इसे क्रान्ति का नाम दिया जाता है। यह विस्तार वास्तव में कुछ यूरोपीय देशों द्वारा अपनी आर्थिक एवं राजनीतिक सत्ता को बढ़ाने तथा सुदृढ़ करने के लिए किये गये प्रयासों का परिणाम था। भारत, चीन जैसे पूर्वी देशों के साथ यूरोप का व्यापार स्थल मार्ग से होता था।

यूरोपीय मण्डियों में पूर्व से मसाला, कपड़ा, दक्षिण अमरीका में चाकलेट, उत्तर अमरीका में तम्बाकू, कोको और कुनैन तथा अफ्रीका से हाथी दाँत जैसी वस्तुएं खूब पहुँचने लगीं। इसके अतिरिक्त अफ्रीका से लोगों को दास बनाकर भी लाया जाने लगा। अमरीका की खोज के बाद व्यापार का क्षेत्र फैल गया। शुरू में दूसरे देशों से मसाले तथा कपड़ा अधिक मँगाये जाते थे।

बैंकिंग का विकास वाणिज्यिक क्रान्ति का मुख्य पहलू था। सोने और चांदी के सिक्कों के स्थान पर कागज की मुद्रा का चलन हो गया। व्यापार तथा वाणिज्य में लगातार वृद्धि को देखते हुए नये प्रकार के व्यापार संगठनों की आवश्यकता होने लगी। 17वीं शताब्दी के अंत तक लगभग सभी यूरोपीय देशों में मध्यम वर्ग प्रभावशाली वर्ग के रूप में उभर चुका था।

1.5 फ्रांस की क्रान्ति

1789 में फ्रांस की क्रान्ति स्वतंत्रता तथा समानता के लिये मानव संघर्ष के इतिहास को नया मोड़ देने वाली घटना सिद्ध हुई। इस क्रान्ति ने सामंतवाद के युग को समाप्त करके नई समाज व्यवस्था का सूत्रपात किया। 'स्वतंत्रता, समानता, भ्रातृत्व यही फ्रांस की क्रान्ति का मूल मंत्र है। फ्रांस की क्रान्ति का योगदान सम्पूर्ण यूरोप तथा विश्व के लिए एक नवीन युग का सूत्रपात करता है। यह क्रान्ति सामन्तवाद की जीर्ण-शीर्ण सामाजिक व्यवस्था, वर्गीय विशेषाधिकार और शोषण, निरंकुश शासन और नौकर शाही के विरोध का तथा मनुष्य मात्र की समानता और अधिकार के आधार पर मानव समाज के निर्माण के प्रयत्न का साकार रूप थी।

फ्रांस में बौद्धिक विकास का सिलसिला

18वीं शताब्दी में अन्य यूरोपीय देशों की भाँति फ्रांस ने भी तर्क और बुद्धिवाद के युग में प्रवेश किया। उस समय के कुछ प्रमुख दार्शनिक तर्कवादी थे जिनका यह विश्वास था कि सत्य को तर्क के आधार पर प्रमाणित किया जा सकता है। इन दार्शनिकों के विचारों का फ्रांसीसी लोगों पर काफी प्रभाव पड़ा। इनमें से कुछ थे - मांटेस्क्यू, लॉक, वाल्टेयर तथा रूसो।

माटेस्क्यू ने अपनी पुस्तक "The Spirit of Laws" में यह विचार व्यक्त किया कि प्रशासनिक, विधायी और न्यायिक सत्ता का एक स्थान पर केन्द्रीयकरण नहीं होना चाहिए।

लॉक की मान्यता थी कि प्रत्येक व्यक्ति के कुछ अधिकार हैं, जीवन का अधिकार, सम्पत्ति का अधिकार और व्यक्तिगत स्वतंत्रता का अधिकार।

फ्रांसीसी दार्शनिक वाल्टेयर ने धार्मिक सहिष्णुता और बोलने की स्वतंत्रता (Freedom of speech) का समर्थन किया। रूसो ने अपनी पुस्तक 'The Social contract', में लिखा है कि किसी देश की जनता को अपना शासक चुनने का अधिकार है।

इस क्रान्ति ने यूरोपीय समाज में राजनीतिक स्वरूप को बदल डाला। सामंतवाद के युग के स्थान पर लोकतंत्र के युग का सूत्रपात हुआ।

इस क्रान्ति के काण ऐसे अनेक नये विषय उभरे, जिन पर प्रारम्भिक समाजशास्त्रियों ने विचार किया। इन महत्वपूर्ण विषयों में सम्पत्ति का सामूल रूपान्तरण भी एक विषय है। राजनीतिक ढांचे में परिवर्तन से जो सामाजिक अव्यवस्था पैदा हुई उसने आर्थिक ढांचे को भी प्रभावित किया।

1.6 औद्योगिक क्रान्ति

अट्ठारवीं शताब्दी के अन्तिम चालीस वर्षों, व उन्नीसवीं शताब्दी के प्रथम 30 वर्षों के लम्बे अन्तराल में हुये व्यापक परिवर्तन इंग्लैण्ड के आर्थिक, राजनैतिक व अन्य सामाजिक क्षेत्रों को इतना बदल चुके थे कि इतिहासकार अर्नोल्ड टायनबी ने उन्हें 1880 ई0 में औद्योगिक क्रान्ति की संज्ञा दी । औद्योगिक क्रान्ति के दौरान नये औजारों तथा नई तकनीकों का विकास हुआ, जिनसे व्यापक पैमाने पर वस्तुएं तैयार हो सकती थीं। 1760 ई0 से 1830 ई0 के बीच औजारों, तकनीकों और उत्पादन के प्रबन्ध में कई नये अविष्कार हुए, जिनसे उत्पादन की कारखाना व्यवस्था अस्तित्व में आई। इस प्रकार उत्पादन की सामंत वादी व्यवस्था के स्थान पर पूंजीवादी प्रणाली विकसित हुई।

औद्योगिक क्रान्ति आधुनिक सभ्यता का आधार है। इसके समाज पर विविध, व्यापक, स्थायी व गम्भीर प्रभाव हुए। जिन्हें सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक व सांस्कृतिक क्षेत्रों में देखा जा सकता है।

नोल्स के अनुसार ''यह कहना सच होगा कि ब्रिटेन के अविष्कारों ने औद्योगिक उत्पादन की सम्पूर्ण प्रणाली को बदल दिया। तथा इसके प्रभाव से कोई देश अछूता न रहा। वरन विश्व की कृषि, जनसंख्या के वितरण, औद्योगिक संहिता, सफाई श्रम आन्दोलन तथा व्यापार में इसने क्रान्ति ला दी।'' एल. सी. ए. नोल्स ने सामाजिक व आर्थिक प्रभावों को इन रूपों में व्याख्यायित किया है-

1. नये उद्योगों का उदय
2. व्यापार व वाणिज्य में क्रान्ति
3. नये जिलों की प्रमुखता
4. नये कस्बों का विकास
5. घरेलू उद्योग धन्धों का पतन
6. श्रम और पूंजी में नये सम्बन्ध
7. राष्ट्रीय आय में वृद्धि
8. नये वर्गों का उदय
9. साम्राज्य का विस्तार
10. राजनीतिक प्रभाव

परम्परावादी तथा परिवर्तनवादी दोनों तरह के विचारकों पर इन परिवर्तनों का प्रभाव पड़ा। परम्परावादियों को आशंका हुई कि इन स्थितियों से अराजकता और अव्यवस्था फैलेगी। एंगेल्स जैसे परिवर्तनकारी चिंतकों का विचार था कि औद्योगिक श्रमिकों द्वारा परिवर्तन का सिलसिला शुरू होगा।

1.7 सारांश

इस इकाई में आपने पढ़ा कि सामाजिक स्थितियाँ किसी विषय विशेष के उदय के लिये उत्तरदायी हो सकती हैं। सन 1800 से लेकर 1825 के सामाजिक तथा बौद्धिक हलचल भरे काल में यह धारणा तेज होती चली गयी कि अब तक विकसित विज्ञान नई सामाजिक संरचना के विश्लेषण और सामाजिक अव्यवस्था को समाप्त कर सामाजिक पुनर्गठन की नई पद्धति विकसित करने में असमर्थ है। तब समाजशास्त्र विषय के उद्भव के लिये पृष्ठभूमि तैयार हुई। यद्यपि सामाजिक मुद्दों पर विचार विमर्श तो प्लेटो एवं अरस्तू के समय से ही चल रहा था। प्राचीन लेखों में इसके दर्शन होते हैं और फिर 17वीं से उन्नीसवीं शताब्दी के बीच हुए परिवर्तन भी, जिनमें फ्रांस की क्रान्ति, औद्योगिक क्रान्ति एवं यूरोपीय पुनर्जागरण महत्वपूर्ण हैं। अत: सारांशत: कह सकते हैं कि उपरोक्त सभी कारकों ने समाजशास्त्र के अविर्भाव में महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाहन किया।

1.8 बोध प्रश्न

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

प्र.1 समाजशास्त्र के जनक हैं-

(अ) कोंत (ब) वेबर (स) मार्क्स (द) इनमें से कोई नहीं ।

प्र. 2 'दि रिपब्लिक' पुस्तक के लेखक हैं -

(अ) प्लेटो (ब) सेन्ट साइमन (स) अरस्तू (द) मैकाइवर ।

प्र. 3 "The Origin of Species" पुस्तक के लेखक हैं -

(अ) चार्ल्स डार्विन (ब) लैमार्क (स) डार्विन (द) इनमें से कोई नहीं।

प्र. 4 "The Spirit of Laws" पुस्तक के लेखक हैं -

(अ) क्वेटलेट (ब) मांटेस्क्यू (स) लॉक (द) इनमें से कोई नहीं।

प्र. 5 औद्योगिक क्रान्ति की संज्ञा किसने दी है-

(अ) अनार्डड टायनबी (ब) स्पेन्गलर (स) वेबलिन (द) मैकाइवर

1.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

प्र. 1 अ

प्र. 2 अ

प्र. 3 अ

प्र. 4 ब

प्र. 5 अ

इकाई 2 : समाजशास्त्र के उदय की बौद्धिक पृष्ठभूमि

इकाई की रूपरेखा

2.0 उद्देश्य

2.1 प्रस्तावना

2.2 समाजशास्त्र का उदय एवं अठारहवीं एवं उन्नीसवीं शताब्दी में पाश्चात्य दर्शन

2.3 इतिहास का दर्शन

2.4 उद्विकास का जैविकीय सिद्धान्त

2.5 सामाजिक राजनीतिक सुधार के आन्दोलन

2.6 सामाजिक सर्वेक्षण विधि का विकास

2.7 सारांश

2.8 बोध प्रश्न

2.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

2.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप:

- अठारहवीं एवं उन्नीसवीं शताब्दी के पाश्चात्य दर्शन की समाजशास्त्र के उदय में भूमिका का उल्लेख कर सकेंगे।
- उद्विकास का जैविकीय सिद्धान्त एवं इतिहास के दर्शन की समाज विज्ञान के उदय में आधार की भूमिका का वर्णन कर **सकेगे**
- सामाजिक सर्वेक्षण की प्रविधि ने समाजशास्त्र के उद्भव एवं वृद्धि को कैसे प्रभावित करने की विवेचना कर सकेंगे।

2.1 प्रस्तावना

इस इकाई में समाजशास्त्र के उदय की बौद्धिक पृष्ठभूमि पर प्रकाश डाला गया है। उसके लिए उत्तरदायी बौद्धिक कारकों पर भी चर्चा की गयी है।

वस्तुत: नई परिस्थितियों के अनुकूल समाज व्यवस्था की स्थापना या सुधार की सामाजिक चिन्तकों की इच्छा ने समाजदार्शनिक ज्ञान की आधारशिला पर समाजशास्त्र को स्थापित किया। यही कारण है कि अपनी विकास प्रक्रिया में शनै: शनै: समाजशास्त्र दर्शन से दूर हुआ और इसने विज्ञान का स्वरूप ग्रहण किया। समाजशास्त्र की उत्पत्ति अनायास ही नहीं हो गयी। बल्कि यह मानवीय बौद्धिक उद्विकास का प्रतिफल था। इसमें सामाजिक अध्ययनों में वैज्ञानिकता पर बल, समाज सुधार की इच्छा राज्य और समाज में भेदीकरण, इतिहास की तत्वमूलक व्याख्या आदि प्रवृत्तियों ने निर्णायक भूमिका निबाही। इस इकाई के भाग 2.2 एवं 2.3 में समाजशास्त्र का उदय एवं अठारहवीं एवं उन्नीसवीं शताब्दी

में पाश्चात्य दर्शन तथा इतिहास के दर्शन पर चर्चा की गई है। भाग 2.4 एवं 2.5 में उद्विकास के जैविकीय सिद्धान्त एवं सामाजिक राजनीतिक सुधार आन्दोलन जिनसे परवर्ती काल में समाजशास्त्र ने जन्म लिया, का विश्लेषण करेंगे। भाग 2.6 में सामाजिक सर्वेक्षण की व्याख्या करेंगे।

2.2 समाजशास्त्र का उदय एवं अठारहवीं तथा उन्नीसवीं शताब्दी में पाश्चात्य दर्शन

अठारहवीं एवं उन्नीसवी शताब्दी में पाश्चात्य दर्शन की जो धारा प्रवाहित हुई, उसने समाजशास्त्र में महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाहन किया। इस युग की तीन मौलिक मान्यताएं थीं — कि विश्व में कुछ बुद्धिसंगत सिद्धान्त कार्य करते हैं। बुद्धि इन सिद्धान्तों पर आचरण करने में सक्षम है। इच्छाशक्ति इन सिद्धान्तों पर आचरण करने में सक्षम हैं । उपर्युक्त मान्यताओं में बुद्धि या विवेक की भूमिका केन्द्रीय हैं और इसलिये इस युग को बुद्धि का युग भी कहा गया है। तीसरी मान्यता में मानव के उज्वल भविष्य की आशा निहित है। इसलिए आशावादिता इस युग का लक्षण है।

वस्तुत: ज्ञानोदय इंग्लैण्ड में अपेक्षाकृत थोड़े समय में चरम सीमा पर नहीं पहुँचा और न इसका चमत्कारी प्रभाव ही दिखाई पड़ा। परन्तु फ्रांस और जर्मनी में इसका प्रभाव जल्दी ही व्यापक हो गया। फ्रांस में वाल्तेरी और रूसो ने इसके प्रचार में उल्लेखनीय भूमिका निभाई। जर्मनी में इमैनुएल काण्ट के दर्शन में ज्ञानोदय प्रस्फुटित हुआ। यूरोप के पुनर्जागरण के पूरे दौर में आदर्श समाज की कल्पनाएं प्राप्त होती हैं थामस मूर की 'यूटोपिया' (Utopia) फ्रांसिस बेकन की 'न्यू यूटोपिया' (New Utopia), जेम्स हैरिंगटन की 'द कॉमनवेल्थ आफ ओसियाना' (The Commenwealth of Oshiana) आदि ऐसी ही कृतियां हैं। किन्तु शनै: शनै: यह स्पष्ट होने लगा कि समाज के वैज्ञानिक अध्ययन के अभाव में इच्छित परिवर्तन की कल्पना मात्र ही हो सकती है फलत: समाज के वैज्ञानिक अध्ययन के प्रयत्न प्रारम्भ हुए। इन प्रयत्नों के एकीकरण के सहारे ही कोंत ने समाजशास्त्र की रूपरेखा प्रस्तुत की। इसमें उसने अपने समकालीन और पूर्ववर्ती चिन्तकों के विचारों को ग्रहण किया। इन चिन्तकों में मुख्यत: ह्यूम, कोंत गाल, काण्डोरसेट, सेण्ट साइमन आदि का नाम लिया जा सकता है। एच. ई. बार्नेस के अनुसार कान्ट ने हयूम, काण्ट व गाल से प्रत्यक्षात्मक पद्धति, टर्गट ह्यूम से ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य, काण्डोरसेट से मानव समाज के विकास की प्रगतिवादी अवधारणा, मान्टेस्क्यू सेन्ट साइमन से सुधारात्मक परिवर्तन की धारणा को ग्रहण किया। (नेटसन हाउस, पी : 110)।

उन्नीसवीं सदी के विज्ञान में विकास का प्रत्यय हवा में था। प्राणिशास्त्री डार्विन ने इसको एक वैज्ञानिक सिद्धान्त का रूप दिया और स्पेन्सर ने इसको दार्शनिक जामा पहनाया। विकासवाद ने सृष्टि के बारे में धार्मिक मान्यताओं की जड़ काट दी। विकासवाद ने न केवल धर्म को प्रभावित किया बल्कि दर्शन को भी। विकासवाद के पूर्व दार्शनिक प्रजातियों की अपरिवर्तनीयता में विश्वास रखते थे और विकास को सोद्देश्यीय मानते थे। हीगल के विकास का नियम तार्किक और अधिभौतिक है। विकासवाद ने जड़वाद को सम्बल दिया और हीगल के प्रत्ययवाद को खोखला किया। इसने दर्शन को एक नई दिशा दी जो नीत्शे के दर्शन में पूर्णत: स्पष्ट है। उसने जीवशास्त्रीय प्रत्ययों को नीतिशास्त्र के अन्तरगत माना। वर्तमान सदी में दार्शनिक वृत्तों में विकासवादी धारा की साम्राज्य है। परिवर्तन का नियम अधिभौतिक चिन्तन में प्रबल है। अमरीका में यथार्थवाद का प्रचार हुआ। अमरीका में ही प्रयोजनवाद का आविर्भाव हुआ। (चौहान 1994, 55) प्रत्यक्षवाद, तर्कवाद, उपयोगितावाद, अस्तित्ववाद, द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद कुछ ऐसे प्रमुख पैराडाइम हैं जिनका सम्बन्ध औद्योगीकरण की प्रारम्भिक अवस्थाओं से है तथा उनके विस्तार को औपनिवेशिक व्यवस्थाओं के साथ सम्बद्ध करके देखा जा सकता है। समाज का विज्ञान समाजशास्त्र एक स्वतंत्र विषय के रूप में विकसित हो सका, इसलिये नहीं कि इसके पास पूर्व

विकसित पैराडाइम थे जिन पर वह निर्भर कर सकता था, अपितु प्रमुख रूप से इसलिये कि इसके निर्माणकर्ता इनका भलीभाँति संश्लेषण कर सके। ऐसे बौद्धिक संश्लेषण कुछ सीमा तक उन क्लासिकी चिन्तों के प्रयासों का प्रतिफल हैं जिनमें उनके समय की समाजिक परिस्थितियों तथा उनसे सम्बन्धित प्रश्नों पर गम्भीरता से विचार किया गया। (धनागरे, 1990: 60)

2.3 इतिहास का दर्शन

समाजशास्त्र के अंविर्भाव के ठीक पहले के तीन विचारकों — रूसो, एडम, फरगूसन एवं हीगल के चिन्तन ने सेंट साइमन और अगस्त कोंत को प्रभावित किया। रूसो ने अपने "सामाजिक संविदा" के सिद्धान्त तथा स्वतंत्रता समानता और बंधुत्व की विचारधारा के द्वारा यूरोप के तत्कालीन बौद्धिक जीवन पर अपनी अमिट छाप छोड़ी। इतिहास दर्शन की बुनियादी अवधारणा यह थी कि समाज सरल से जटिल अवस्था की ओर बढ़ने में निश्चय ही कई चरणों में से होकर गुजरता है समाजशास्त्र में इतिहास के दर्शन के योगदान का यहां संक्षिप्त मूल्यांकन किया जा सकता है। दार्शनिक स्तर पर इस धारणा ने विकास तथा प्रगति के विचार दिये हैं तथा वैज्ञानिक स्तर पर ऐतिहासिक युगों और सामाजिक प्रारूपों की अवधारणाएं प्रदान की हैं। अब्बे सेंट पियरे जैसे समाजशास्त्रियों ने इतिहास के दर्शन का विकास किया। वे समाज के केवल आर्थिक, राजनीतिक या सांस्कृतिक पहलुओं के नहीं अपितु समूचे समाज के अध्ययन के लिये विचारशील थे (बॉटोमोर, 1962 : 14-15)

इतिहास की दार्शनिक व्याख्या करने वाले लेखकों ने राज्य और समाज के अंतर को स्पष्ट किया। इन लेखकों में एडम फर्ग्यूसन (1767) का नाम मुख्य है। उन्होंने राज्य, समाज, जनसंख्या, परिवार, नातेदारी, सम्पत्ति, प्रथा तथा कानून पर विस्तार से विचार किया। इनके अनुसार समाज पारस्परिक रूप से सम्बद्ध संस्थाओं की प्रणाली है। इनके लेखन का प्रभाव हीगल के विचारों पर दिखाई पड़ता है। इतिहास की दार्शनिक व्याख्या करने वाले लेखकों ने समाज के परिवर्तन की दिशा के विवेचन पर ध्यान दिया। इस दृष्टिकोण की छाप कोंत, मार्क्स और स्पेन्सर के विचारों में प्रतिबिम्बित होती है। खातदुन के अनुसार इतिहास मात्र घटनाओं का उल्लेख नहीं होना चाहिये, बल्कि इसका उद्देश्य मानवता की उत्पत्ति और विकास यात्रा की खोज होना चाहिये। उसके अनुसार चूँकि मानवीय आवश्यकताओं की पूर्ति सहकारिता से ही सम्भव है अत: मानव स्वभावत: सामाजिक है। उसने भौतिक पर्यावरण की महत्ता पर बल दिया। उसने समाज को सदा गतिमान माना । इसीलिये बार्नेस ने वीको की अपेक्षा खातदुन को इतिहास दर्शन के संस्थापक के रूप में स्वीकार किया है। (बार्न्स, 948:25)

2.4 उद्‌विकास का जैविकीय सिद्धान्त

विकास के जीववैज्ञानिक सिद्धान्त ने इतिहास के दर्शन के प्रभाव को और पुष्ट कर दिया। समाजशास्त्र विकासवादी दृष्टिकोण की ओर अग्रसर होने लगा, जिसमें सामाजिक विकास के प्रमुख चरणों को जानने की कोशिश शामिल थी। इस दृष्टिकोण का स्वरूप जीव विज्ञान की तरह था, जिसमें समाज की विस्तृत अवधारणा को एक जीव के रूप में माना।

डार्विन के प्राणिशास्त्रीय उद्‌विकास के सिद्धान्त के आधार पर अनेक मानवशास्त्रियों एवं समाजशास्त्रियों, जिसमें स्पेन्सर महत्वपूर्ण थे ने सामाजिक उद्‌विकास को जन्म दिया। डार्विन के उद्‌विकास सिद्धान्त में चार बातें महत्वपूर्ण थीं।

(1) प्रारम्भ में प्रत्येक जीवित वस्तु सरल होती है और उसके विभिन्न अंग इस प्रकार एक साथ घुले मिले रहते हैं कि उन्हें अलग नहीं किया जा सकता है।

(2) विभिन्न अंगों के विकसित होने पर भी इनमें अन्त: सम्बन्ध तथा अन्त: निर्भरता का बना रहना।

(3) उद्विकास की प्रक्रिया का निरन्तर जारी रहना।

(4) उद्विकास का कुछ निश्चित स्तरों से गुजरकर होना, जिस दौरान सरल धीरे धीरे जटिल रूप धारण कर लेता है।

उपरोक्त उद्विकासीय योजना को प्रत्येक सामाजिक घटना के विकास को समझने में प्रयोग किया गया। स्पेन्सर की मान्यता है कि इसी तरह समाज भी उद्विकास का प्रतिफल है। जैविकीय उदविकास के स्थान पर सामाजिक उदविकास की प्रस्थापना हुई। स्पेन्सर, मार्गन, कोंत, हेड्डन आदि ने उद्विकास के सिद्धान्त को समाज के विभिन्न आयामों एवं संस्थाओं पर अनुप्रयोगित किया। (स्पेन्सर 1906 :396)

उद्विकास का जैविकीय सिद्धान्त वस्तुत: समाजशास्त्र की मूलभूत संकल्पना 'समाज' को स्पष्ट करने और अन्तत: इसके विशद विश्लेषण में सहायक रहा है, जिससे समाजशास्त्र के उदय के लिये वैज्ञानिक पृष्ठभूमि तैयार हुई है। उद्विकासवदियों के अनुसार समाज बहुत से व्यक्तियों का सामूहिक नाम है। जैविकीय और अजैविकीय संकलित योग से सामाजिक संकलित योग की तुलना की जा सकती है। स्पेन्सर समाज की तुलना शरीर से करते हैं प्राणिशास्त्र की खोजों से इस बात की पुष्टि होती है कि प्राणी का उद्विकास हुआ है। स्पेन्सर की मान्यता है कि इसी तरह समाज भी उद्विकास का प्रतिफल है। प्राणियों के शरीर के आकार में वृद्धि के साथ जिस तरह उनकी संरचना में वृद्धि होती है उसी प्रकार जनसंख्या की वृद्धि के कारण समाज के आकार में भी वृद्धि होती है। इसके फलस्वरूप सामाजिक विभिन्नीकरण तथा श्रम विभाजन में भी वृद्धि होती है। जिस प्रकार प्राणी की संरचना सरल से जटिल होती जाती है वैसी ही जटिलता उद्विकास के साथ समाज में दिखाई पड़ती है। (निस्बेट, 1963)

2.5 सामाजिक राजनीतिक सुधार के आन्दोलन

सामाजिक राजनीतिक सुधार के यूरोपीय आन्दोलनों ने भी निश्चित रूप से समाज के गहन परीक्षण के बाद अव्यवस्था को व्यवस्था, स्थिरता एवं जड़ता को गतिशीलता एवं प्रगति में बदलने का प्रयास किया। जिससे समाजशास्त्र के अविर्भाव की पृष्ठभूमि तैयार हुई। इन आन्दोलनों ने समाज को दिशा देने का कार्य किया। साथ ही यूरोप में सामाजिक वैचारिकी के क्षेत्र में विभिन्न विचारधाराओं के माध्यम से बौद्धिक घात-संघात से होते हुए समाजशास्त्र का विकास हो रहा था। प्रमुख राजनीतिक आन्दोलनों में फ्रांस की क्रान्ति, औद्योगिक क्रान्ति, ब्रिटेन का साम्राज्यवाद, अमेरिका के इतिहास की अर्वाचीनता आदि का प्रभाव वहां की सामाजिक वैचारिकी पर देखा जा सकता है। (मिचेल)

प्रत्यक्षवाद के विकास में फ्रांसिस बेकन (Francis Bacon) का योगदान महत्वपूर्ण है। यह आधुनिक वैज्ञानिक समाजशास्त्र के निर्माण में एक सशक्त एवं महत्वपूर्ण आन्दोलन है। इसी तरह आदर्शवाद भी निश्चित रूप से समाजशास्त्र के अविर्भाव में एक महती भूमिका का पाथेय बना है। पश्चिमी विचारधारा में आदर्शवाद की भूमिका बहुत महत्वपूर्ण रही है। इसका उद्गम यूनान की परम्परा से है जो प्लेटो तथा अरस्तू के दर्शन में निहित है। प्लेटो का विचारों का सिद्धान्त (Plato, Doctrine of Ideas) परम्परागत है। उनका तर्क है कि दुनिया में यदि कोई वस्तु यथार्थ या वास्तविक है तो वह विचार है। प्रत्येक वस्तु का अस्तित्व इसलिये है कि उसके बारे में हमारे विचार हैं। आदर्शवाद की किसी भी धारा को हम लें, प्रत्येक धारा अपने आपको सावयवी अभिधारणा के साथ जोड़ती है। आदर्शवादी दार्शनिक बराबर यह आग्रह करते हैं कि वस्तुओं की यथार्थता, मनुष्य की प्रकृति तथा मनुष्य समाज और उसके व्यवहार का अस्तित्व सावयवी है। एक अन्य बौद्धिक आन्दोलन उपयोगितावाद भी समाजशास्त्र के

उदय में सहायक रहा है। उपयोगितावादी तार्किक होते हैं। समाज विज्ञान सिद्धान्तों में उपयोगितावादी एक ऐसा सिद्धान्त है जो हर तरह से प्रत्यक्षवादी है। समाजशास्त्र के अविर्भाव के समय तत्कालीन उद्योग, तकनीक, अर्थव्यवस्था, राज व्यवस्था आदि सामूहिक जीवन के सभी पक्षों में तीव्र परिवर्तन हो रहे थे। तदनरूप ही इस नयी व्यवस्था को सामाजिक चिन्तन पद्धति की आवश्यकता थी। नयी औद्योगिक सामाजिक व्यवस्था में धर्म दर्शन और तत्वमीमांसीय पद्धति उपयुक्त न थी। और दूसरी ओर भौतिक प्रघटना के क्षेत्र में नयी वैज्ञानिक पद्धति की सफलता का उदाहरण सामने था। विघटित होती पूर्ववर्ती सामाजिक व्यवस्था और संक्रमण-संक्रान्ति की स्थितियों ने अनेक सुधारवादी विचारधाराओं और व्यावहारिक प्रयासों - आन्दोलनों को जन्म दिया। इन परिस्थितियों ने एक नये सामाजिक विज्ञान की उत्पत्ति को अवश्यम्भावी बना दिया।

2.6 सामाजिक सर्वेक्षण विधि का विकास

सामाजिक सर्वेक्षण विधि के उदय के दो कारण हुए। एक कारण यह, कि यंह विश्वास कि प्राकृतिक विज्ञानों की विधियां मानवीय विषयों के अध्ययन पर लागू की जानी चाहिये और ये विधियां लागू की जा सकती हैं। इनके आधार पर मानवीय कार्यकलापों का वर्गीकरण तथा मूल्यांकन संभव है। दूसरा कारण था गरीबी की समस्या जो इस मान्यता पर आधारित है कि गरीबी प्राकृतिक नहीं बल्कि सामाजिक स्थिति है। सामाजिक सर्वेक्षण समाजशास्त्रीय अन्वेषण की एक प्रमुख विधि है। इस विधि का मूलभूत सिद्धान्त यह है कि सामाजिक स्थितियों के ज्ञान से ही समाज में मौजूद सामाजिक समस्याओं के समाधान ढूँढे जा सकते हैं। यद्यपि सामाजिक सर्वेक्षण अत्यन्त प्राचीन विधि है। हेरोडोटस ने 300 ई0 पू0 में मिस्र में जनसंख्या तथा सम्पत्ति के सर्वेक्षण का उल्लेख किया है भारतवर्ष में मनुस्मृति एवं शुक्रनीति में शासन व्यवस्था के उद्देश्य के लिये आंकड़ों को एकत्रित करने की रीति एवं संगठन का पता चलता है। परन्तु सही अर्थ में सामाजिक सर्वेक्षणों का आरम्भ 18वीं शताब्दी के मध्य से ही आरम्भ हुआ। वास्तव में इस समय से ही सामाजिक सर्वेक्षणों को सामाजिक अनुसंधान की आवश्यक विधि में सम्मिलित किया गया। वैज्ञानिक आधार पर सामाजिक सर्वेक्षण पहली बार जान हावर्ड द्वारा सम्पन्न किया गया। उसने जेलों का अध्ययन करके पहली बार जेल जीवन के सम्बन्ध में महत्वपूर्ण तथ्य प्रस्तुत किये। फ्रेडरिक लीप्ले ने सर्वेक्षण में सहकारी विधि का प्रयोग किया। बाउले ने इंगलैण्ड के पांच शहरों का अध्ययन ''लिवलीहुड एण्ड पावर्टी'' (Livlihood and Poverty) शीर्षक के अन्तर्गत किया।

प्रारम्भिक सर्वेक्षण जीवन के सम्बन्ध में सत्य जानने की भावना से प्रेरित हुए। एम्ब्रास का कथन है प्रारम्भिक सामाजिक सर्वेक्षण उन लोगों द्वारा संचालित हुए जो तत्कालीन नागरिक श्रमिक वर्ग के गरीब तथा पशुवत जीवन से अत्याधिक दु:खी थे। इसलिए सभी सर्वेक्षणों में सहभागी निरीक्षण विधि का प्रयोग किया गया।

19वीं शताब्दी में सर्वेक्षण आन्दोलन बहुत जोर पकड़ गया। और जैसे-जैसे समय बीतता गया सुतथ्यता तथा वैधयिकता पर अधिक ध्यान दिया जाने लगा। बाद के सर्वेक्षण की रिपोर्ट अधिक तथ्य प्रधान तथा भावनाओं एवं साहित्यिकता के प्रभाव से मुक्त हुई। सर्वेक्षण के साधनों के उपयोग से अधिक सुतथ्यता आ गयी । वास्तव में समाजशास्त्र के उदय एवं वैज्ञानिक दृष्टिकोण में इस सर्वेक्षण विधि ने भी महती योगदान किया, क्योंकि स्वास्थ्य, सुरक्ष., परिवार आय, जीवन स्तर के सर्वेक्षण प्रारम्भिक समय में व्यक्तिगत या गैर लाभ उन्मुख संस्थाओं द्वारा किये गये, जिन्होंने एक सुव्यवस्थित एवं वैज्ञानिक समाज विज्ञान के उदय की आवश्यकता पर जोर दिया। हालांकि अन्ततोगत्व। उपरोक्त विषयों पर सर्वेक्षण सरकार द्वारा किया जाने लगा। (बाजपेयी, 1960 : 143-149)

2.7 सारांश

इस इकाई में आपने पढ़ा कि सामाजिक एवं बौद्धिक स्थितियाँ किस प्रकार परिवर्तनों को जन्म देती हैं एवं विचारों को आगे बढ़ाती हैं। उन्नीसवीं सदी में यूरोप में हो रहे परिवर्तनों ने तथा दार्शनिकों ने समाज-शास्त्रियों के चिन्तन को किस प्रकार प्रभावित किया। इस तरह समाजशास्त्र का विकास अनिर्वायत: समाज से प्रभावित होने वाले महान विचारकों के चिन्तन के परिणामस्वरूप हुआ। उन्नीसवीं शताब्दी में विकास का प्रत्यय घूम रहा था। प्राणिशास्त्री डार्विन ने इसे एक वैज्ञानिक सिद्धान्त का स्वरूप प्रदान किया। विकासवाद ने सृष्टि के बारे में धार्मिक मान्यताओं की जड़ काट दी। विकासवाद ने न केवल धर्म को प्रभावित किया, बल्कि दर्शन को भी। विकासवाद के पूर्व दार्शनिक प्रजातियों की अपरिवर्तनीयता में विश्वास रखते थे और विकास को सोद्देश्यीय मानते थे। यूरोप तथा अमेरिका के अनेकानेक चिन्तक - विचारक सामाजिक वैचारिकी के क्षेत्र में अपना-अपना योगदान कर रहे थे। विभिन्न सामाजिक व्यवस्था सम्बन्धी परिकल्पनाओं को लागू करने के प्रयास चल रहे थे। प्रत्येक देश की अपनी विशिष्ट सांस्कृतिक राजनैतिक दशायें भी वहां की सामाजिक वैचारिकी को प्रभावित कर रही थीं। जर्मनी के आदर्शवाद, फ्रांस की क्रान्ति-प्रतिक्रान्ति का प्रभाव, ब्रिटेन के साम्राज्यवाद, अमेरिका के इतिहास की अर्वाचीनता आदि तथ्यों का प्रभाव वहां की सामाजिक वैचारिकी पर स्पष्ट देखा जा सकता है। इसके अतिरिक्त दं धाराओं का उल्लेख किया जा सकता है। एक तो समाज के संचालक नियमों की खोज करने के प्रयास और दूसरी सामाजिक समस्याओं के हल व तथ्य संग्रह के प्रयास । इन दोनों ही धाराओं की अपनी अपनी उपयोगिता थी। और अन्तत: समाजशास्त्र में ये दोनों ही समाहित हो गयी। सामाजिक तथ्यों के संग्रह की धारा का विकास सामाजिक दशाओं में व्यावहारिक स्तर पर सुधारों के उद्देश्य से किये गये प्रयासों से हुआ। इसका केन्द्र ब्रिटेन बना । 1857 ई0 में वहां (National Associations for the promotion of social science" की स्थापना हुई। इसका उद्देश्य सामाजिक समस्याओं के सम्बन्ध मे तथ्य संग्रह करना और कार्य कारण सम्बन्धों को जानना था। ताकि समस्याओं का समाधान हो सके। इसी प्रकार के प्रयास अन्य यूरोपीय देशों तथा अमेरिका में हुये। परिणामत: सामाजिक सर्वेक्षण तथा सांख्यिकीय पद्धति का विकास हुआ। इससे समाजशास्त्र को सुनिश्चित वैज्ञानिक आधार प्राप्त हुआ। और इसके प्रायोगिक पक्ष का विकास सम्भव हुआ। जिससे सामाजिक अभियांत्रिकी .(Social Engieering) की प्राप्ति हुई।

सारांशत: हमने यूरोप में समाजशास्त्र के उदय को प्रभावित करने वाले बौद्धिक दृष्टिकोणों इतिहास का दर्शन, विकास के जीव वैज्ञानिक सिद्धान्त तथा सामाजिक स्थितियों के सर्वेक्षण की भी चर्चा की है।

2.8 बोध प्रश्न

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

प्र. 1 अठारहवीं एवं उन्नीसवीं शताब्दी का पाश्चात्य दर्शन समाजशास्त्र के उदय के लिए किस तरह उत्तरदायी था?

प्र. 2 उद्विकास का जैविकीय सिद्धान्त समाजशास्त्र के उदय में एक महत्वपूर्ण प्रस्थान बिन्दु था। व्याख्या करिये ?

प्र. 3 सामाजिक सर्वेक्षण विधि का विकास समाजशास्त्र के उदय एवं वैज्ञानिक दृष्टिकोण के लिए उत्तरदायी था? व्याख्या करिये।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

प्र. 1 फर्स्ट प्रिन्सिपल्स (First Principles) पुस्तक के लेखक हैं?

(अ) वेबर (ब) कोंत (स) सेंट साइमन (द) स्पेन्सर

प्र. 2 यूटोपिया (Utopia) पुस्तक के लेखक है?

(अ) फ्रांसिस बेकन (ब) थामस मूर (स) बार्न्स (द) रूसो

प्र. 3 कैदियों के जेल जीवन पर आधारित सर्वेक्षण किसने किया?

(अ) हार्वड (ब) डेनियल बेल (स) लीप्ले (द) इनमें से कोई नहीं

प्र. 4 विचारों का सिद्धान्त किसने दिया है?

(अ) अरस्तू (ब) प्लेटो (स) हाब्स (द) रूसो

2.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

प्र. 1 (द)

प्र. 2 (ब)

प्र. 3 (अ)

प्र. 4 (ब)

इकाई 3 अगस्त कोंत : जीवन परिचय एवं कृतियाँ

3.0 उद्देश्य

3.1 प्रस्तावना

3.2 जीवन परिचय

3.3 कोंत का सामाजिक परिवेश

3.4 मुख्य विचार

3.5 कोंत के समाजशास्त्र का स्वरूप , अध्ययन विधि और क्षेत्र

3.6 मुख्य कृतियाँ

3.7 सारांश

3.8 बोध प्रश्न

3.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

3.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त आप:

- अगस्त कोंत के जीवन परिचय व परिस्थितियों का विवरण कर सकेंगे।
- कोंत की सामाजिक पृष्ठभूमि का उल्लेख कर सकेंगे।
- कोंत के मुख्य विचारों को स्पष्ट कर सकेंगे।
- समकालीन समाजशास्त्र में कोंत के विचारों के महत्व का वर्णन कर सकेंगे।

3.1 प्रस्तावना

कोंत का जन्म 1798 ई0 में हुआ जब फ्रांसीसी क्रान्ति का उबाल आ रहा था। उस समय ऐसी बहुत सी घटनाएं घटित हो रही थीं जिन्होंने आधुनिक विश्व की नींव रखने का काम किया था। क्रान्ति के बाद यूरोप की सामाजिक व्यवस्था में कैसे-कैसे परिवर्तन हुये, और उनका कोंत के बौद्धिक विश्लेषण एवं चिन्तन पर क्या प्रभाव पड़ा। चूँकि कोंत को समाजशास्त्र का जनक माना जाता है। अपने समय की बदलती व्यवस्था से उत्पन्न अराजकता तथा दूसरी ओर समाज से सम्बन्धित वैज्ञानिक अध्ययनों के अभाव से उसे एक ऐसे शास्त्र की आवश्यकता उत्पन्न हुई जो एक ओर तो समाज को सम्पूर्ण तथा उपयुक्त व्यवस्था प्रदान करे तथा दूसरी ओर उसके अन्तरगत समाज का सर्वांगीण अध्ययन सम्भव हो सके। इस सम्पूर्ण विवेचन को एवं कोंत के समस्त बौद्धिक चिन्तन को इस इकाई में विश्लेषित किया गया है। इस इकाई के भाग 3.1 एवं 3.2 में कोंत का जीवन परिचय तथा उनके सामाजिक परिवेश को रेखांकित किया गया है । भाग 3.4 में मुख्य विचारों की व्याख्या की गयी है। भाग 3.5 में कोंत के समाजशास्त्र का स्वरूप, अध्ययन विधि और क्षेत्र की चर्चा की गयी है। भाग 3.6 में मुख्य कृतियों को रेखांकित किया गया है।

3.2 जीवन परिचय

अगस्त कोंत्त का जन्म फ्रांस में 1798 ई0 हुआ था। इनके बौद्धिक जीवन के दिशा निर्देशन में फ्रांस में क्रान्ति के बाद की अव्यवस्था की भूमिका महत्वपूर्ण थी। वह शान्त प्रकृति वाले धार्मिक कैथोलिक माता-पिता की ज्येष्ठ सन्तान थे। कोंत बचपन से ही मेधावी थे। वह आरम्भ से ही असामान्य मानसिक योग्यता, दृढ़ व्यक्तित्व, अदम्य आत्मविश्वास से युक्त थे। उनकी स्मरण शक्ति तथा अध्ययन क्षमता भी विलक्षण थी। उन्नीस वर्ष की आयु में कोंत प्रगतिवादी विचारक सेंट साइमन के सम्पर्क में आए । लगभग छ: वर्ष तक सेंट साइमन के मित्र, तथा सहकर्मी रहे। कोंत को इकोल पॉलीटेक्नीक में प्रोफेसर पद मिला परन्तु किशोरावस्था से ही परिलक्षित हो रही अपनी विद्रोही प्रवृत्ति के कारण कोंत ने उसे भी छोड़ दिया।

फ्रांस के एक निम्न मध्यमवर्गीय परिवार में उत्पन्न कोंत ने एक अनाथ और गुमराह लड़की कैरोलिन मैसिन से विवाह किया था। कैरोलिन ने एक लम्बा समय उसके साथ एकनिष्ठ तथा कर्तव्यपरायण पत्नी के रूप में बिताया । उसने अपने पति को मानसिक असंतुलन तथा निराशा के समय में बहुत अधिक सहारा दिया। परन्तु आर्थिक कठिनाइयों के दिनों में जीवन के प्रति मौलिक दृष्टिकोणों में अन्तर के कारण दुर्भाग्यवश उनमें अलगाव हो गया। सन 1844 में उसके जीवन में वाक्स आयी। वह एक साहित्यिक अभिरुचि वाली स्त्री थी तथा उपन्यास एवं कवितायें लिखती थी। उसके साथ कोंत के अत्यन्त मधुर सम्बन्ध स्थापित हो गये।

कोंत ने अपनी युवावस्था में जो स्थान तत्कालीन फ्रांसीसी बुद्धिजीवी वर्ग में बना लिया था, जीवन का अन्त आते आते वह उसे खो चुका था। इसका कारण सम्भवत: उसका आप्रासंगिक हो चुकना रहा होगा। इसके बावजूद लैटिन अमेरिका तथा ब्रिटेन आदि में वह बहुत अधिक लोकप्रिय था। फ्रांस में भी उसके अनुयायियों का एक समूह तो तैयार हो ही गया था। सन 1857 में उसकी मृत्यु के पश्चात् उसके अनुयायियों ने उसके आवास को उसी प्रकार सुरक्षित रखा। प्रत्यक्षवादी आज भी उस स्थान के तीर्थ के समान मानते हैं। कोंत की मुख्य आकांक्षा मानव समाज का राजनैतिक पुर्नगठन करने की थी, उसका विचार था कि इस तरह के पुनर्गठन को समाज की आध्यात्मिक तथा नैतिक एकता पर निर्भर होना होगा। इसके लिये सेंट साइमन के साथ मिलकर उसने कई प्रमुख विचारों को प्रतिपादित किया। हालाँकि उनकी यह मित्रता लंबे समय तक नहीं चली और उनकी आपस में अनबन हो गयी। बाद में कोंत ने अपने कुछ व्याख्यानों को कोर्स द फिलोसॉफी पाजिटिव, (पेरिस 1830 -42 5वां संस्करण) में प्रकाशित किया। इस कृति में उसने तीन अवस्थाओं के बारे में लिखा और समाज के विज्ञान संबंधी अपनी अवधारणा को व्यक्त किया।

1851-1854 के बीच उसने ''सिस्टम आफ पाजिटिव पालिटिक्स'' (4 खंडों में) नामक शोध प्रबंध लिखा। इस प्रबंध के द्वारा उसने सैद्धान्तिक समाज शास्त्र की खोजों को अपने समाज की सामाजिक समस्याओं के समाधान हेतु प्रयुक्त करने की चेष्ठा की। इस अवधि के दौरान उनकी क्लोटिल्डे द वा से मुलाकात हुई और वह कोंत की घनिष्ठ मित्र बन गयी। मुलाकात के एक वर्ष पश्चात्य ही 1846 में उसकी मृत्यु हो गयी। क्लोटिल्डे की मृत्यु ने कोंत के विचारों को इस हद तक प्रभावित किया कि वह रहस्यवाद तथा धर्म की ओर मुड़ गया। सिस्टम आफ पाजिटिव पालिटिक्स में प्रतिपादित उसके विचार आंशिक रूप से प्रत्यक्षवाद से हटकर मानव धर्म की संरचना की ओर अग्रसर हो गये। विचारों में

आये इस परिवर्तन के कारण उसके बहुत से शिष्य तथा बौद्धिक मित्र जैसे इंग्लैण्ड के जे. एस. मिल उससे विमुख हो गये। (लेविस कोजर)

3.3 कोंत का सामाजिक परिवेश

उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों के दौरान फ्रांस का बौद्धिक वातावरण नये समालोचक तथा तर्क आधारित विचारों के विकास के अनुकूल था। प्राकृतिक विज्ञानों और गणित के क्षेत्र में प्राप्त उपलब्धियों गौरव की वस्तु थीं तथा पद्धतियों के उपयोग तथा अनुप्रयोग में एक नये विश्वास का संचार हुआ था। आपको यह मालूम ही है कि प्रबोधन दार्शनिकों ने प्रगति तथा मानव तर्कबुद्धि के विचारों को बहुत महत्व दिया था। उस समय फ्रांस का बौद्धिक वातावरण बहुत उत्तम था। कान्डोरसेट (1743-1794) टारगोट (1721-1781) सेंट साइमन (1768-1825) आदि के विचारों का उस समय के बुद्धिजीवियों और उनके चिन्तन पर विशेष प्रभाव था। अठारहवीं सदी के अन्त से उन्नीसवीं सदी के मध्य तक फ्रांस में प्राकृतिक विज्ञानों तथा गणित को विशेष महत्ता प्राप्त थी। उस समय सामान्यतया ऐसा माना जाता था कि प्राकृतिक विज्ञानों के नियम ही सामाजिक नियमों के आधार होने चाहिये। सामाजिक नियमों में प्रगति के नियम को सर्वाधिक महत्वपूर्ण माना जाता था। इस प्रकार की बौद्धिक विचारधारा का कोंत पर पर्याप्त असर पड़ा। उसने समाजशास्त्र को एक समग्र व्यवस्था के रूप में प्रस्तुत करते समय अपने समय की कुछ प्रमुख समाज मनोवैज्ञानिक प्रवृत्तियों पर ही चिन्तन करते हुए उन्हें एक क्रम प्रदान किया।

यदि आप फ्रांसीसी क्रान्ति पर नजर डालें तो आपको पता चलेगा कि उस समय फ्रांस का सामन्ती समाज तीन वर्गो में बँटा था पहला पादरी दूसरा कुलीन और तीसरा जनसाधारण था। इनमें से पहले दो वर्ग ही अधिकांश भूसम्पत्ति तथा धन सम्पदा के मालिक थे। वे ऊँची हैसियत रखते थे। सेंट साइमन इसी सामाजिक तथा आर्थिक संरचना को पुनर्गठित करना चाहता था। समाज के पुनर्गठन हेतु आवश्यक वैज्ञानिक कार्य विधियों की योजना (Plan of Scientific Operations necessary for the reorganising of society 1928) नामक संयुक्त प्रकाशन में सेंट साइमन तथा कोंत ने तीन अवस्थाओं के नियम के बारे में लिखा और कहा कि प्रत्येक ज्ञान की शाखा को इनमें से गुजरना चाहिये। उनका कहना था कि सामाजिक भौतिकी अर्थात समाज के प्रत्यक्ष विज्ञान को प्रगति के प्राकृतिक तथा अपरिवर्तनीय नियमों की खोज करना है। इस विज्ञान को बाद में समाजशास्त्र कहा गया। ये नियम समाज के विज्ञान के लिये उतने ही महत्वपूर्ण हैं जितने कि न्यूटन द्वारा दिये गये गुरूत्वाकर्षण के नियम प्राकृतिक विज्ञानों के लिए महत्वपूर्ण हैं। सेंट साइमन और कोंत के बीच स्थापित ये बौद्धिक सम्बन्ध ज्यादा दिनों तक कायम नहीं रहा और अन्ततोगत्वा मनमुटाव के रूप में समाप्त हुआ। कोंत के अनुसार समाजशास्त्र सामाजिक घटनाओं का एक अमूर्त सैद्धान्तिक विज्ञान है। शुरू में उसने इसे सामाजिक भौतिकी कहा किन्तु बाद में इसका नाम बदल दिया। उसने यह परिवर्तन इसलिये किया क्योंकि बेल्जियम के एक वैज्ञानिक एडाल्फ क्वेटलेट ने सामाजिक भौतिकी का प्रयोग सरल सांख्यिकी को व्यक्त करने के लिये किया था। इसलिये बाध्य होकर कोंत को समाजशास्त्र शब्द अपनाना पड़ा जो एक लैटिन तथा ग्रीक शब्द का मिलाजुला रूप है जिसका अर्थ है "अत्यधिक सामान्यीकृत" या अमूर्त स्तर पर समाज का अध्ययन (टिमाशेफ 1967 : 4)

3.4 मुख्य विचार

कोंत का यह मानना है कि समाज के नये विज्ञान को परम्पराओं की अपेक्षा तर्क तथा प्रेक्षण पर निर्भर होना चाहिये। तभी समाजशास्त्र को विज्ञान के रूप में देखा जा सकता है। प्रत्येक वैज्ञानिक सिद्धान्त को प्रेक्षित तथ्यों पर और प्रेक्षित तथ्यों को वैज्ञानिक सिद्धान्त पर आधारित होना चाहिये। इस प्रकार कोंत का समाज का विज्ञान जिसे उसने समाजशास्त्र कहा, प्राकृतिक विज्ञानों की तरह का ही होना था। हालांकि

प्राकृतिक विज्ञान की उर्पयुक्त पद्धतियों के साथ-साथ उसने ऐतिहासिक पद्धति का भी प्रतिपादन किया। यह ऐतिहासिक पद्धति समाजशास्त्र में एक स्वस्थ विकास था। ऐतिहासिक पद्धति द्वारा विभिन्न समाजों के बीच उनके पूरे विकास काल में तुलना की जाती है। यह पद्धति समाजशास्त्रीय जांच की केन्द्रीय बिन्दु है क्योंकि ऐतिहासिक विकास समाज शास्त्र की जान है। कोंत इन पद्धतियों द्वारा सामाजिक नियमों की खोज करना चाहता था क्योंकि इन नियमों को जानकर ही समाज की पुर्नरचना की जा सकती है। इस प्रकार उसके विचार में कोई भी सामाजिक क्रिया मानव समाज के लिये तभी लाभकारी हो सकती है जब मानव विकास के नियम स्थापित हो जाएंगे। ये नियम ही सामाजिक व्यवस्था के आधार को परिभाषित करते हैं। कोंत के अनुसार कोई भी वस्तु या विचारधारा निरपेक्ष नहीं होती है। प्रत्येक ज्ञान एक सापेक्ष अर्थ में ही सत्य होता है और वह अनन्तकाल तक प्रमाणित नहीं रह सकता। इस प्रकार विज्ञान का एक स्वतः सुधारकारी स्वरूप होता है और जो भी वस्तु या विचारधारा सही नहीं रहती अस्वीकृति कर दी जाती है। इस अर्थ में इस नये विज्ञान, जिसे सकारात्मक विज्ञान कहा जाता है ने परम्परा की सत्ता की वह जगह ले ली है जिसे अभी तक अस्वीकार न किया जा सका था। (कोजर 1971:5)

अगस्त कोंत के मुख्य विचारों में उनके द्वारा प्रतिपादित ''तीन स्तरों का नियम'' तथा विज्ञानों का संस्तरण है जिसकी चर्चा इकाई 4 में विस्तार से मिलेगी। तथा मूलभूत सिद्धान्त प्रत्यक्षवाद की व्याख्या इकाई 5 में विशद एवं गहन तरीके से गयी है।

सामाजिक स्थिति विज्ञान एवं गति विज्ञान का विश्लेषण भी इकाई 5 में होगा है।

सामाजिक स्थिति विज्ञान एवं गति विज्ञान का विचार कोंत ने जैविकी से लिया क्योंकि वह विज्ञानों के श्रेणीक्रम की धारणा में विश्वास रखता था। स्थिति विज्ञान में समाज के अस्तित्व की दशाओं का अध्ययन किया जाता है जबकि सामाजिक गति विज्ञान के अन्तर्गत सतत गतिशीलता का अध्ययन किया जाता है।

3.5 कोंत के समाजशास्त्र का स्वरूप, अध्ययन विधि और क्षेत्र

कोंत ने समाजशास्त्र की प्रस्तावना करते समय इसके स्वरूप, अध्ययन विधि, उद्देश्य तथा अध्ययन क्षेत्र का सम्यक विवेचन किया। इसके अनुसार समाजशास्त्र का स्वरूप वैज्ञानिक है। कोंत ने सामान्यरूप से सामाजिक सम्बन्धों के अध्ययन को ही समाजशास्त्र माना है। कोंत के ग्रन्थों को पढ़ने से स्पष्ट पता चलता है कि समाजशास्त्र के स्वरूप को लेकर उसके विचारों में क्रमशः परिपक्वता आयी तथा परिवर्तन हुए. पाजिटिव फिलासफी में तो उसने समाजशास्त्र की औपचारिक-सी व्याख्या देने का प्रयास किया है परन्तु पालिटी में उसने अपेक्षाकृत विस्तृत व्याख्या दी है जो कि उसकी पूर्व परिभाषा से भिन्न भिन्न होने के साथ साथ अन्तः विरोधों से युक्त है। पालिटी में उसने मुख्य रूप से कहा है, ''सामाजिक भौतिकी को मैं एक विज्ञान मानता हूँ। सामाजिक प्रघटना, रासायनिक या शारीरिक प्रघटना, जो कि अपरिवर्तनीय प्राकृतिक नियमों के अधीन हैं, की खोज इसके अध्ययन का विशिष्ट उद्देश्य है । (बोगार्डस : 232)

समाजशास्त्र के लिये निम्नलिखित अध्ययन विधियों को कोंत ने निरूपित किया—

1. निरीक्षण (Observation)
2. परीक्षण (Experimentation)
3. ऐतिहासिक (Historical)
4. तुलनात्मक (Comparative)

भी करने की आवश्यकता है। निरीक्षण का अर्थ किसी भी सामाजिक घटना पर ध्यान केन्द्रित कर उसके विभिन्न पक्षों को देखने और समझने से है। परीक्षण का अर्थ प्रयोग करने की क्षमता और उसके आधार पर भविष्यवाणी कर सकने की योग्यता है। भौतिक विज्ञानों में प्रयोगशाला में परीक्षण होता है। समाजशास्त्र के लिये सम्पूर्ण समाज ही प्रयोगशाला है। आरम्भिक काल से लेकर आज तक समाज का सतत विकास हो रहा है। विकास में उन्नति और प्रगति की अवधारणायें भी सम्मिलित हैं। कोंत के अनुसार इसे हम ऐतिहासिक विधि द्वारा समझ सकते हैं। इतिहास अतीत की घटनाओं को वस्तुपरक ढंग से समझने की विधि है। कोंत के अनुसार समकालीन समाज में उन्नति और प्रगति समान नहीं है। पश्चिमी यूरोप के देश विज्ञान प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में अभी बहुत से पिछड़े आदिम समुदाय हैं। तुलनात्मक अध्ययन विधियों के द्वारा विभिन्न समाजों के विकास, उन्नति तथा प्रगति को तुलनात्मक ढंग से समझा जा सकता है। कोंत के अनुसार इन चार विधियों के आवश्यकतानुसार उपयोग से समाजशास्त्र का असली वैज्ञानिक रूप उभरेगा। समाजशास्त्र के अध्ययन क्षेत्र की दृष्टि से कोंत ने सामाजिक जीवन को मुख्य रूप से दो हिस्सों में विभाजित किया है। 1. स्थितिमूलक 2. गतिमूलक । समाजशास्त्र में सामाजिक संरचना के कुछ पक्ष तो स्थिर हैं। इसमें परिवर्तन बहुत ही मन्द गति से होता है। समाज के जनसंख्या जैसे कुछ क्षेत्रों में सतत परिवर्तन होता रहता है। ऐसा पाया जाता है कि परिवार प्रणाली, विवाह, धार्मिक, विश्वासों और मान्यताओं में परिवर्तन की गति धीमी है। कोंत के अनुसार समाजशास्त्र इन दोनों पक्षों का अध्ययन करेगा। कोंत के अनुसार समाजशास्त्र की मुख्य भूमिका सामाजिक प्रगति के सोपानों और नियमों का विश्लेषण है। इस दृष्टि से गति मूलक अध्ययन महत्वपूर्ण है। (निस्बेट, 1963)

3.6 मुख्य कृतियाँ

कोंत की रचनाओं में सबसे प्रमुख ''पाजिटिव फिलासफी तथा ''सिस्टम आफ पाजिटिव पालिटी'' हैं। यह दोनों क्रमशः छह तथा चार खण्डों में प्रकाशित हुए वृहद ग्रन्थ है। कोंत के अधिकांश विचारों तथा अवधारणाओं, यही नहीं उनकी लम्बी विचार यात्रा का परिचय इन्हीं दोनों ग्रन्थ में मिल जाता है। ''पाजिटिव फिलासफी'' का प्रथम संस्करण सन 1830 में फ्रेंच भाषा में प्रकाशित हुआ था। फ्रांस में राजनैतिक अस्थिरता का वातावरण बन जाने से इसके शेष भागों में प्रकाशन काल का लम्बा अन्तराल हो गया। इसका छठा व अन्तिम भाग 1892 में प्रकाशित हो सका (पाजिटिव पलिटी तिरेपन वर्ष की परिपक्व आयु में सन 1851 से 1854 तक प्रकाशित हुआ)। इस बीच बहुत से विषयों पर उसके विचार तथा दृष्टिकोण में परिवर्तन हुआ था जो कि इन दोनों में ही स्पष्ट दिखता है। उसके अन्य महत्वपूर्ण ग्रन्थों में से 1848 में प्रकाशित प्रत्यक्षवाद पर एक ग्रन्थ है। इसका अंग्रेजी अनुवाद 1957 में (ए जनरल व्यू आफ पाजिटिविज्म) के नाम से न्यूयार्क में प्रकाशित हुआ था। एक अन्य महत्वपूर्ण ग्रन्थ 1856 में मानवता के धर्म पर प्रकाशित हुआ था। इसका भी अंग्रेजी में अनुवाद 'रिलिजनआफ ह्यूमनिटी : सब्जेक्टिव सिन्थेसिस'' के नाम से 1891 में लन्दन से प्रकाशित हुआ। कोंत के बहुत से लेख निबन्ध तथा भाषण संग्रह भी प्रकाशित हुए। संक्षेप में इनकी महत्वपूर्ण कृतियां निम्नलिखित हैं—

1. पॉजिटिव फिलासफी (Positive Philosophy 1830-42) छह: खण्डों में प्रकाशित है।
2. सिस्टम आफ पाजिटिव पालिटी (System of Positive Polity1851-54) चार खण्डों में प्रकाशित
3. रिलीजन आफ हयूमैनिटी (Religion of humanity 1856)

3.7 सारांश

इस इकाई के अन्तर्गत समाजशास्त्र के जनक कोंत के जीवन वृत्त का सम्पूर्ण विश्लेषण किया गया है। साथ ही उनके द्वारा रचित महत्वपूर्ण कृतियों को भी रेखांकित किया गया है।

कोंत के उस सामाजिक परिवेश पर भी प्रकाश डाला गया है, जिसने कोंत को नये विज्ञान की उत्पत्ति के लिए आधारभूत विचार मन्थन प्रदान किया। फ्रांस की क्रान्ति अव्यवस्था और फिर कोंत द्वारा पुनर्व्यवस्था का चिंतन भी महत्वपूर्ण है। समाजशास्त्र के क्षेत्र, अध्ययन विधि एवं स्वरूप पर भी इस इकाई में चर्चा की गयी है जो कि कोंत के चिन्तन में परिलक्षित होती है।

3.8 बोध प्रश्न

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

प्र. 1 अगस्त कोंत का जन्म कहाँ हुआ ?

(अ) इंग्लैण्ड (ब) फ्रांस (स) ब्रिटेन (द) इटली

प्र. 2 कोंत का जन्म कब हुआ ?

(अ) 1722 (ब) 1838 (स) 1798 (द) 1790

प्र. 3 "Religion of Humanity" पुस्तक के लेखक हैं ?

(अ) कोंत (ब) सेन्ट साइमन (स) वेबर (द) इनमें से कोई नहीं

प्र. 4 "Plan of the Scientific operations necessary for reorgnaising of society" योजना के लेखक हैं?

(अ) कोंत (ब) कोंत तथा साइमन (स) वेबर (द) इनमें से कोई नहीं

3.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

प्र. 1 (ब)

प्र. 2 (स)

प्र. 3 (अ)

प्र. 4 (ब)

इकाई 4 : कोंत का विज्ञानों का वर्गीकरण एवं पदानुक्रम तथा त्रिस्तरीय सोपानों का सिद्धान्त

इकाई की रूपरेखा

4.0 उद्देश्य

4.1 प्रस्तावना

4.2 विज्ञानों का पदानुक्रम (संस्तरण) (Heirarchy of Sciences)

4.2.1 निर्भरता का वृद्धिक्रम का सिद्धान्त

4.2.2 घटती हुई सामान्यता और बढ़ती हुई जटिलता का सिद्धान्त

4.3 विज्ञानों का वर्गीकरण (Classification of Sciences)

4.4 त्रिस्तरीय सोपानों का सिद्धान्त (Law of three stages)

4.4.1 धार्मिक स्तर या काल्पनिक स्तर (Theological Stage)

4.4.2 तात्विक स्तर (Metaphysical Stage)

4.4.3 प्रत्यक्षवादी या वैज्ञानिक स्तर (Positivistic Stage)

4.5 मानव चिन्तन के स्तर और सामाजिक संगठन (Stages of thinking and social organisation)

4.6 सारांश

4.7 बोध प्रश्न

4.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

4.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप:

- विज्ञानों का वर्गीकरण और उनके पदानुक्रम का उल्लेख कर सकेंगे।
- निर्भरता के वृद्धिक्रम का सिद्धान्त तथा घटती हुई सामान्यता एवं बढ़ती हुयी जटिलता की विवेचना कर सकेंगे।
- कोंत के त्रिस्तरीय सोपान का वर्णन कर सकेंगे।
- मानव चिन्तन के स्तर एवं सामाजिक संगठन की पारस्परिकता की विवेचना कर सकेंगे।

4.1 प्रस्तावना

इस इकाई में अगस्त कोंत के महत्वपूर्ण बौद्धिक योगदान की चर्चा की गयी है। इन योगदानों में विज्ञानों के संस्तरण का नियम तथा मानव के चिन्तन की विकास यात्रा अर्थात त्रिस्तरीय सोपानों के नियम को व्याख्यायित किया गया है। कोंत समाज का नए तरीके से पुनर्गठन करना चाहता था। उसने यह अनुभव

किया कि यूरोपीय समाज और विशेष रूप से फ्रांसीसी समाज में जो महत्वपूर्ण परिवर्तन हो रहे हैं उनके साथ-साथ नए सिद्धान्तों को मानव जीवन के विभिन्न पहलुओं को एकीकृत तथा संतुलित करना चाहिये। अत: ऐसे सामाजिक नियमों की खोज करना उसके लिए बहुत महत्व रखता है जो समाज में परिवर्तन के इन सिद्धान्तों की विवचन करें। कौंत समाजशास्त्र को समाज का एक विज्ञान ही नहीं मानता था अपितु उसका विश्वास था कि समाज के पुनर्गठन के लिये भी समाजशास्त्र का उपयोग किया जाना चाहिये। वह समाज का प्रकृति सम्बन्धी विज्ञान विकसित करना चाहता था। इसी क्रम में विज्ञानों के संस्तरण का नियम तथा त्रिस्तरीय सोपानों का नियम कौंत ने प्रतिपादित किया।

कौंत का विज्ञानों का वर्गीकरण एवं पदानुक्रम तथा त्रिस्तरीय सोपानों सिद्धान्त

इस इकाई के भाग 4.2 में विज्ञानों के संस्तरण की व्याख्या की गयी है। भाग 4.3 में विज्ञानों के वर्गीकरण की चर्चा है। भाग 4.4 में त्रिस्तरीय सोपानों के नियम को व्याख्यायित किया गया है। तथा भाग 4.5 में मानव चिन्तन के स्तर और सामाजिक संगठन के पारस्परिक सम्बन्धों को विश्लेषित किया गया है।

4.2 विज्ञानों का पदानुक्रम (संस्तरण) (Heirarchy of Sciences)

कौंत्त सामाजिक जीवन के वैज्ञानिक अध्ययन के लिए एक नये विज्ञान की स्थापना करना चाहते थे। उनकी योजना के अनुसार यह प्रस्तावित विज्ञान भौतिक विज्ञानों की अध्ययन विधियों, निरीक्षण, तथा परीक्षण का प्रयोग करेगा । उदविकास सामाजिक उन्नति और प्रगति को समझने के लिए यह ऐतिहासिक और तुलनात्मक विधियों का भी आश्रय लेगा । कौंत्त के अनुसार अन्य सामाजिक विज्ञान अपने अत्यन्त संकुचित दृष्टिकोण के कारण इस कार्य को पूरा नहीं कर सकते हैं। अपने प्रारूप को सैद्धान्तिक स्वरूप प्रदान करने के लिंए कौंत्त ने विज्ञानों का नए सिरे से वर्गीकरण किया, तथा उनके पदानुक्रम को भी निर्धारित किया। इनके अनुसार गणित सभी विज्ञानों की आदिस्रोत है। कौंत्त ने विज्ञानों के इतिहास का सर्वेक्षण किया। इस प्रक्रिया में कौंत्त ने विज्ञानों का प्रगति पर विशेष रूप से विचार किया। कौंत्त ने अपनी पुस्तक "Positive Philosophy" में विज्ञानों का संस्तरण प्रस्तुत किया। विज्ञानों के संस्तरण का सिद्धान्त कौंत्त ने सेंट साइमन से ग्रहण किया। विज्ञानों के संस्तरण के पीछे कौंत्त का उद्देश्य समाजशास्त्र को एक नवीन विज्ञान के रूप में सदृढ़ आधार प्रदान करना था। जिससे वह एक विशिष्ट विज्ञान के रूप में विकसित हो सके।

4.2.1 निर्भरता का वृद्धिक्रम का सिद्धान्त

कौंत द्वारा प्रतिपादित इस नियम के अनुसार ज्ञान या विज्ञान की प्रत्येक नवीन शाखा अपने पूर्ववर्ती विज्ञानों पर आश्रित होती है। इस नियम के अनुसार जो विज्ञान सर्वप्रथम आया वह पहले पर आश्रित था, फिर तीसरा विज्ञान जो कि दूसरे पर आश्रित था। इस प्रकार से प्रत्येक नवीन विज्ञान अपने से पहले विकसित विज्ञानों पर निर्भर होगा। इसी क्रम से विज्ञान की प्रत्येक शाखा की निर्भरता में वृद्धि होती जायेगी। यही कारण है कि कौंत इसे निर्भरता का वृद्धि क्रम का सिद्धान्त कहते हैं। जो विज्ञान जितना अधिक पराश्रित होगा, वह उतना ही नवीनतम माना जायेगा।

4.2.2 घटती हुई सामान्यता और बढ़ती हुई जटिलता का सिद्धान्त

कौंत ने विज्ञानों के वर्गीकरण में दूसरा जो सिद्धान्त अपनाया है वह है घटती हुई सामान्यता और बढ़ती हुई जटिलता का सिद्धान्त । इस सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक विज्ञान की स्थिति वस्तुत: उसकी विषम

सामग्री के आधार पर तय की जाती है। इस प्रकार से जिस विज्ञान की विषयवस्तु जितनी सरल होगी वह उतना ही कम पराश्रित होगा। क्योंकि सरल और सामान्य घटनाओं की विषय वस्तु जितनी जटिल होगी, उतना ही वह विज्ञान दूसरों पर निर्भर होगा। क्योंकि समाज के विकास एवं विज्ञान की प्रगति के साथ-साथ जटिलता भी बढ़ती जाती है। इन नियमों से स्पष्ट है कि सबसे पहले जो विज्ञान अस्तित्व में आया, वह सबसे अधिक सामान्य और सबसे जटिल और सबसे कम विषयों से सम्बन्धित था। बाद में आने वाले विज्ञान उत्तरोत्तर कम सामान्य और अधिक जटिल होते गये। इस प्रकार यह कहा जा सकत है कि पहला विज्ञान वह है जो सबसे अधिक सामान्य होता है। सामान्य इस अर्थ में है कि वह सब जगह विद्यमान है। इस प्रकार प्रथम विज्ञान सबसे अधिक सामान्य और सबसे कम जटिल घटनाओं या विषयों से सम्बन्धित होता है। इस प्रथम विज्ञान के बाद जिन अन्य विज्ञानों का विकास हुआ उनका अध्ययन विषय क्रमश: कम सामान्य और अधिक जटिल होता गया। कोंत के मतानुसार प्रत्येक विज्ञान अपने पिछले विज्ञान या विज्ञानों पर केवल निर्भर ही नहीं रहता है। बल्कि वह पिछले विज्ञान या विज्ञानों को अपनी खोजों से सीचता भी रहता है।

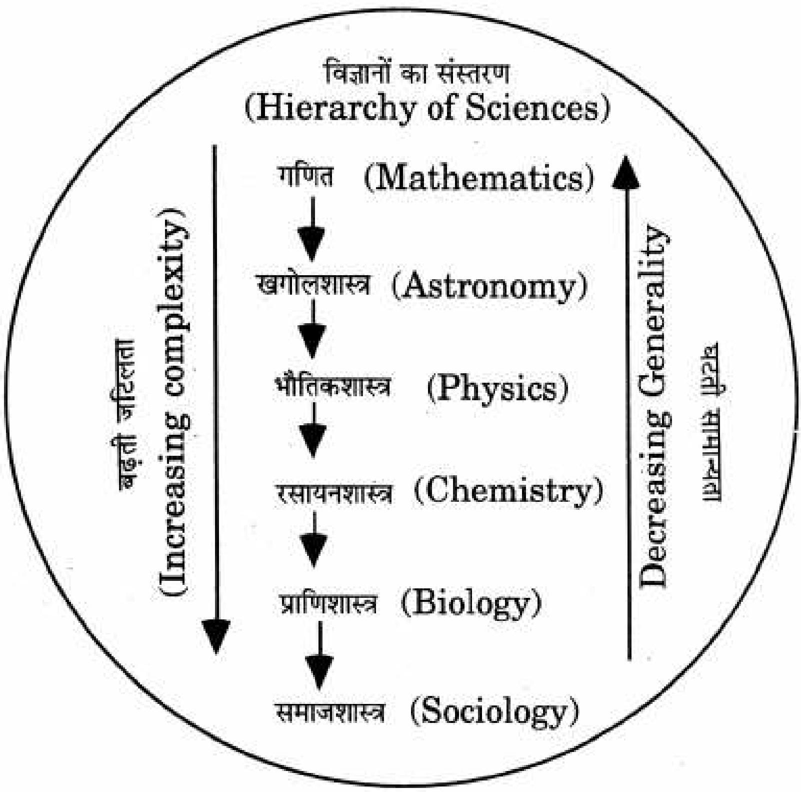

4.3 विज्ञानों का वर्गीकरण (Classification of Sciences)

विज्ञानों के स्थान को निश्चित करने के लिए कोंत ने सभी प्राकृतिक घटनाओं (natural phenomena) को दो भागों में विभाजित किया है।

अ) अजैविक (Inorganic)

ब) जैविक (Organic)

अजैविक घटनाओं को दो भागों में बांटा जा सकता है — खगोल सम्बन्धी (Astronomical) और स्थलीय (Terrestrial) । खगोल सम्बन्धी घटनाएं अधिक सामान्य होती हैं। ग्रह नक्षत्रों आदि में बहुत कम परिवर्तन होता है। स्थलीय भौतिकशास्त्र के अन्तरगत दो विज्ञानों का समावेश है - भौतिक शास्त्र और रसायन शास्त्र। जैविक घटनाओं (Organic phenomena) के भी दो प्रकार हैं— व्यक्तिगत और सामूहिक प्रथम के अन्तरगत वनस्पति और पशु जगत की समस्त व्यक्तिगत या शारीरिक स्वरूपों की क्रियाएं तथा संरचनाएं आ जाती हैं। यह प्राणिशास्त्र का अध्ययन विषय है। सामूहिक के अन्तरगत मनोविज्ञान एवं समाजशास्त्र आता है।

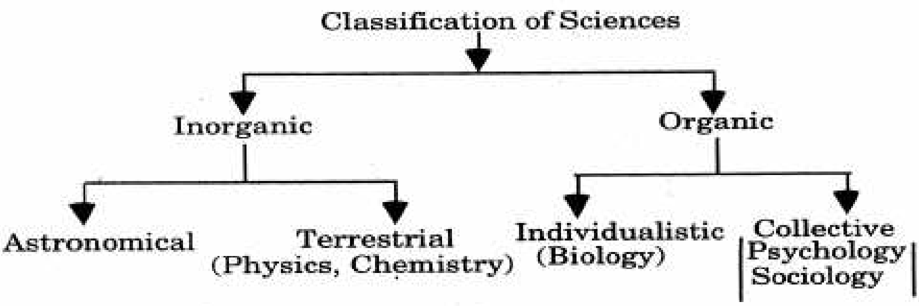

4.4 त्रिस्तरीय सोपानों का सिद्धान्त (Law of Three Stages)

कोंत ने जिस समय इस सिद्धान्त को प्रतिपादित किया उस समय सम्पूर्ण यूरोप में परिवर्तन हो रहा था, उस समय एक विशेष प्रकार की समाज व्यवस्था समाप्त हो रही थी तथा दूसरी जन्म ले रही थी। समाप्त होने वाली समाज व्यवस्था को उसने बाद में समाज व्यवस्था की धर्मशास्त्रीय अवस्था बताया तथा आने वाली समाज व्यवस्था को प्रत्यक्षवादी या वैज्ञानिक अवस्था बताया है (ऐरन, 1957:64।

कोंत का विश्वास था कि मानव मस्तिष्क का विकास व्यक्ति के मस्तिष्क के विकास के साथ-साथ ही हुआ है। दूसरे शब्दों में उनके अनुसार जैसे व्यक्ति अपने बचपन की निष्ठावान विश्वासी अवस्था से किशोर अवस्था की समालोचक तत्वमीमांसी अवस्था में पहुँचता है और फिर वयस्क होने पर स्वाभाविक दार्शनिक अवस्था में पहुँच जाता है । इसी प्रकार मानव जाति भी विकसित होती है और उसकी चिंतन धारा भी तीन मुख्य अवस्थाओं में विकसित हुई है।

(अ) धार्मिक स्तर (Theological Stage)

(ब) तात्विक स्तर (Metaphysical stage)

(ग) प्रत्यक्ष या वैज्ञानिक स्तर (Positive Stage)

कोंत कहते हैं कि ''हमारी प्रत्येक प्रमुख सामाजिक विचारधारा, हमारे ज्ञान की प्रत्येक शाखा एक के बाद एक तीन विभिन्न सैद्धान्तिक अवस्थाओं से गुजरती है — धार्मिक—तात्विक— प्रत्यक्षवादी या वैज्ञानिक ।

4.4.1 धार्मिक स्तर या काल्पनिक स्तर (Theological Stage)

इस स्तर पर समस्त वस्तुओं को ईश्वर के प्रतिरूप के रूप में माना जाता है। यह धारणा होती है कि समस्त वस्तुओं का कार्यक्रम अलौकिक शक्तियां हैं और मानव के चतुर्दिक घटित होने वाली प्रत्येक घटना का कारण किसी न किसी अलौकिक शक्ति को माना जाता है। कोंत के अनुसार इस स्तर के भी तीन उपस्तर है-

(अ) जीवित सत्तावाद (Fetichism)

(ब) बहुदेववाद (Polytheism)

(स) एकेश्वरवाद (Monotheism)

(अ) जीवित सत्तावाद (Fetichism)— इस अवस्था में मानव विश्व के जड़ एवं चेतन पदार्थों में जीव की कल्पना करता है। इस अवस्था में मानव जादू टोनों में विश्वास करता है। जनजातियां भी प्रत्येक पदार्थ में किसी न किसी आत्मा का निवास मानती हैं जिसे वे प्रेतात्मा कहते हैं। कोंत के अनुसार आदिम मानव का चिन्तन इसी स्तर का था।

(ब) बहुदेववाद (Polytheism)— प्रथम स्तर की तुलना में इस स्तर में यद्यपि देवी देवता कम थे, परन्तु मानव के सानिध्य में रहने वाली प्रत्येक वस्तु में देवी देवता को देखना ही बहुदेववाद के जन्म का कारण बना।

(स) एकेश्वरवाद (Monotheism) — यह धर्मशास्त्रीय या काल्पनिक स्तर का अन्तिम चरण था। इस स्तर में मानव का चिन्तन अधिक संगठित हो जाता है। इसी कारण मनुष्य अपने समस्त चिन्तन को या श्रद्धा व विश्वास को अनेक देवी देवताओं में न बाँटकर किसी एक ईश्वर पर स्वयं को केन्द्रित करता है। अद्वैतवाद या एकेश्वरवाद में यह स्पष्ट होता है कि ईश्वर एक है और समस्त वस्तु या घटना उसी एक ईश्वर की सृष्टि है।

4.4.2 तात्विक स्तर (Metaphysical stage)

इस स्तर में मस्तिष्क घटनाओं को प्रकृति के समान अमूर्त अस्तित्व के माध्यम से विवेचित करता है। ये अमूर्त अस्तित्व मानवरूपी तत्व है। मानव प्राणी विश्व के अर्थ तथा उसकी व्याख्या सार तत्वों, आदर्शों व स्वरूपों के सन्दर्भ में करता है। अर्थात मस्तिष्क यह मान लेता है कि अलौकिक प्राणियों के स्थान पर अमूर्त शक्तियां जो कि सभी जीवों में अन्तर्निहित होती हैं, समस्त घटनाओं को उत्पन्न करती हैं।

4.4.3 प्रत्यक्षवादी या वैज्ञानिक स्तर (Positive stage)

प्रत्यक्षवादी स्तर पर मानव प्राणी ''मूल स्रोतों'' या अंतिम कारणों के रूप में देखना बंद कर देता है क्योंकि न तो इन्हें तथ्यों के रूप में जांचा जा सकता है और न ही उनका हमारी आवश्यकताओं को पूरा करने में ही उपयोग किया जा सकता है। इस अवस्था में मानव मस्तिष्क स्वयं को उनके नियमों के अध्ययन में लगाता है। अर्थात उनके अनुक्रम तक सादृश्य के अपरिवर्तनीय सम्बन्धों का अध्ययन करता हैं। कोंत का कथन है कि तर्क तथा निरीक्षण सम्मिलित रूप में वास्तविक ज्ञान का आधार है। जब हम किसी घटना की व्याख्या करते हैं तो कुछ सामान्य तथ्यों और उस घटना विशेष के बीच सम्बन्ध ढूढने का प्रयत्न करते हैं। यह अन्वेषण निरीक्षण के द्वारा ही यथार्थ हो सकता है। कोंत के अनुसार विश्व के विभिन्न तथ्यों घटनाओं आदि को समझने का वास्तविक तथा निर्भर योग्य साधन निरीक्षण और वर्गीकरण है। (कोजर, 1971: 7)

4.5 मानव चिन्तन के स्तर और सामाजिक संगठन (Stages of thinking and Social organisation)

कोंत के अनुसार मानव चिन्तन के स्तर और सामाजिक संगठन में प्रत्यक्ष संबंध है और इसलिए मानव चिन्तन के प्रत्येक स्तर पर एक विशेष प्रकार का संगठन पाया जाता है। उसका विश्वास था कि सामाजिक जीवन का विकास उसी ढंग से होता है, जिस तरह मानव चिन्तन में क्रमिक परिवर्तन आते हैं। कोंत के अनुसार सभी समाजों में परिवर्तन आते रहते हैं। एक ऐसी अवस्था होती है जिसमें समाज में सामाजिक स्थिरता होती है। ऐसे समाज में बौद्धिक सामंजस्य होता है और समाज के विभिन्न भाग संतुलन में होते है। यह समाज का समन्वित काल होता है। (कोजर, 1971:8)

मानव प्रजाति के इतिहास में मानव चिंतन की धर्मशास्त्रीय अवस्था में धर्म का राजनीति पर प्रभुत्व रहता है और शासन फौजी शासकों का होता है तथा तत्वमीमांसात्मक अवस्था में चर्च के पादरियों तथा वकीलों का प्रभुत्व होता है। यह अवस्था लगभग मध्यकाल तथा पुनर्जागरण आन्दोलन के समकालीन थी। सकारात्मक अवस्था या प्रत्यक्षवादी अवस्था में जिसका उदय अभी हो रहा था, औद्योगिक प्रशासकों तथा वैज्ञानिक मार्गदर्शकों का प्रभुत्व होगा।

धार्मिक अवस्था में सामाजिक इकाई के रूप में परिवार एक महत्वपूर्ण इकाई था। तत्वमीमांसक अवस्था में राज्य एक महत्वपूर्ण इकाई था। और सकारात्मक अवस्था में सम्पूर्ण मानव जाति प्रचालक सामाजिक इकाई होगी।

कोंत का विश्वास था कि बौद्धिक विकास अर्थात मानव चिंतन का विकास मानव प्रगति का सर्वाधिक महत्वपूर्ण आधार होता है। हालांकि उसने अन्य कारकों को भी अस्वीकार नहीं किया। उदाहरणत: उसने जनसंख्या वृद्धि को ऐसा प्रमुख कारक माना जो मानव प्रगति की दर का निर्धारण करता है।

4.6 सारांश

इस इकाई में कोंत के महत्वपूर्ण योगदानों क्रमश: विज्ञानों के संस्तरण तथा त्रिस्तरीय सोपानों के नियम की व्याख्या की गयी। इसके अन्तर्गत विज्ञानों के वर्गीकरण को भी जैविक व अजैविक और फिर क्रमश: स्थलीय व खगोलीय तथा सामूहिक-वैयक्तिक में बाँटा गया। मानव के बौद्धिक विकास की यात्रा का वर्णन भी कोंत द्वारा त्रिस्तरीय सोपानों के सिद्धान्त के रूप में प्रकट हुआ जो कि धार्मिक अवस्था से प्रारम्भ होकर तात्विक अवस्था से होता हुआ प्रत्यक्षवादी स्तर या वैज्ञानिक स्तर पर पहुंचता है।

मानव चिन्तन के स्तर तथा सामाजिक संगठन के पारस्परिक सहसम्बन्ध पर भी इस इकाई में विस्तार परक चर्चा है।

4.7 बोध प्रश्न

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

प्र. 1 कोंत द्वारा प्रतिपादित विज्ञानों के संस्तरण को रेखांकित करिये?

प्र. 2 तीन स्तरों के नियम की व्याख्या करिये?

प्र. 3 मानव चिन्तन के स्तर तथा सामाजिक संगठन के पारस्परिक सम्बन्ध पर प्रकाश डालिये?

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

प्र. 1 कोंत ने विज्ञानों का संस्तरण किस पुस्तक में दिया है?

(अ) पाजिटिव पालिटी (ब) पाजिटिव फिलासफी (स) रिलीजन आफ हयूमिनिटी

(द) इनमें से कोई नहीं।

प्र. 2 पराश्रयता का सिद्धान्त किसने दिया है?

(अ) स्पेन्सर (ब) सेंट साइमन (स) कोंत (द) बाडले

प्र. 3 पाजिटिव फिलासफी पुस्तक के लेखक हैं?

(अ) मार्क्स (ब) वेबर (स) कोंत (द) इनमें से कोई नहीं

4.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

प्र. 1 (ब) प्र. 2(स) प्र. 3 (स)

इकाई 5 : कोंत का प्रत्यक्षवाद एवं सामाजिक स्थिति-विज्ञान तथा सामाजिक गति-विज्ञान

इकाई की रूपरेखा

5.0 उद्देश्य

5.1 प्रस्तावना

5.2 कोंत का प्रत्यक्षवाद

5.2.1 प्रत्यक्षवाद एक धर्म के रूप में

5.3 मानवता का धर्म तथा सामाजिक पुनर्निमाण की योजना

5.4 नैतिकता का वैज्ञानिक सिद्धान्त

5.5 सामाजिक स्थिति-विज्ञान एवं सामाजिक गति-विज्ञान

5.5.1 सामाजिक स्थिति विज्ञान

5.5.2 सामाजिक गति विज्ञान

5.6 प्रत्यक्षवादी दर्शन की सार्वभौमिकता

5.7 सारांश

5.8 बोध प्रश्न

5.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

5.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप :

- कोंत के प्रत्यक्षवाद की वैज्ञानिक विधि के रूप में एवं मानवता के धर्म के रूप में व्याख्या कर सकेंगे।
- सामाजिक स्थिति विज्ञान एवं गति विज्ञान का विश्लेषण कर सकेंगे।
- प्रत्यक्षवादी दर्शन की सार्वभौमिकता की विवेचना कर सकेंगे।

5.1 प्रस्तावना

इस इकाई में आप कोंत के द्वारा प्रतिपादित प्रत्यक्षवाद की व्याख्या कर सकेंगे, चूँकि प्रत्यक्षवाद की कोंत के ग्रन्थों में दोहरी व्याख्या मिलती है। प्रारम्भ में कोंत का मानना था कि प्रत्यक्षवाद या विज्ञान उपस्थित घटनाओं व तथ्यों के बाहर न कुछ देखता है न पहचानता है। अर्थात जिन घटनाओं और तथ्यों को हम प्रत्यक्ष रूप से देख या निरीक्षण कर सकते हैं प्रत्यक्षवाद का क्षेत्र वहीं तक सीमित है। कोंत अपने को मात्र वैज्ञानिक के रूप में ही प्रस्तुत करना नहीं चाहते थे, अपितु उनका उद्देश्य बौद्धिक तथा नैतिक एकता के

आधार पर समाज का संगठन करना भी था। यह एकता ज्ञान के बिना सम्भव नहीं। इस कारण समाज का संगठन ज्ञान के सुदृढ़ आधार पर होगा और ज्ञान की प्राप्ति प्रत्यक्षवादी सिद्धान्तों के आधार पर ही सम्भव है। कोंत के अनुसार, वैयक्तिक तथा सामूहिक सामंजस्य तभी सम्भव है यदि बोध, विचार, भावना को एक निश्चित उद्देश्य पर केन्द्रित किया जाये। मानवता का धर्म, इस ध्येय को प्रस्तुत करता है।

कोंत का धर्म ज्ञान या विज्ञान का विरोधी नहीं बल्कि उसी का एक व्यावहारिक स्वरूप कहा जा सकता है। इस इकाई के भाग 5.2 में प्रत्यक्षवाद की विस्तार से चर्चा की गयी है।

इकाई के भाग 5.4 में नैतिकता का वैज्ञानिक सिद्धान्त दिया गया है। भाग 5.5 में सामाजिक स्थिति विज्ञान एवं सामाजिक गति के बारे में विचार किया गया है। भाग 5.6 में प्रत्यक्षवादी दर्शन की सार्वभौमिकता पर प्रकाश डाला गया है।

5.2 कोंत का प्रत्यक्षवाद

कोंत को प्रत्यक्षवाद का जनक माना जाता है। प्रत्यक्षवाद के आधार पर कोंत ने अनेक अवधारणाओं को जन्म दिया। कोंत ने ''पाजिटिव फिलासफी'' एवं ''पाजिटिव पालिटी'' पुस्तकों में प्रत्यक्षवाद को व्याख्यायित किया। ''पाजिटिव फिलासफी'' में सैद्धान्तिक एवं ''पाजिटिव पालिटी'' में व्यावहारिक व्याख्या की। प्रत्यक्षवाद का अभिप्राय वैज्ञानिक है अर्थात तथ्यों एवं अनुभव पर आधारित है। कोंत के अनुसार यदि हमें ब्रह्माण्ड के नियमों को समझना है तो धार्मिक, तात्विक एवं अलौकिक आधार पर नहीं बल्कि वैज्ञानिक आधार पर समझना होगा। वैज्ञानिक विधि में कल्पना का सहारा नहीं लिया जाता और घटनाओं की व्याख्या, निरीक्षण एवं परीक्षण प्रयोग के आधार पर किया जाता है । कोंत के प्रत्यक्षवाद की निम्न विशेषतायें हैं—

1. अध्ययन की वस्तुनिष्ठ व वैज्ञानिक पद्धति

प्रत्यक्षवाद में घटनाएं व्याख्या व अनुमान पर आधारित नहीं होती हैं बल्कि इसमें पहले घटनाओं का अवलोकन एवं परीक्षण किया जाता है और उनके बारे में यथार्थ ज्ञान प्राप्त किया जाता है। कोंत घटनाओं का कारण ढूंढ़ने की अपेक्षा उनके निरीक्षण और वर्गीकरण पर अधिक जोर देते हैं।

2. तर्क पर बल देना

कोंत ने प्रत्यक्षवाद में बौद्धिक क्रिया को महत्व दिया है। इनका मानना है कि प्रत्यक्षवादी समाज में प्रत्येक व्यक्ति का बौद्धिक स्तर अत्यन्त उन्नत होगा ।धर्म एवं धार्मिक विश्वासों का आधार भी कोंत बौद्धिक क्रिय को मानते हैं। मानव प्रगति के लिये वे तर्क को महत्वपूर्ण मानते हैं। इस प्रकार मानव मस्तिष्क का सर्वाधिक महत्वपूर्ण कार्य मानव मस्तिष्क को अलौकिक, काल्पनिक, तात्विक दर्शन एवं अमूर्त विचारधाराओं से मुक्ति दिलाकर सामाजिक घटनाओं का वैज्ञानिक अध्ययन एवं अनुसंधान करना है।

3. सामाजिक पुनर्निर्माण का साधन

कोंत ने प्रत्यक्षवादी सिद्धान्तों के आधार पर सामाजिक पुनर्निर्माण की एक योजना प्रस्तुत की उन्होंने 1848 में एक प्रत्यक्षवादी समाज संगठन भी बनाया। प्रत्यक्षवादी समाज के अनुसार प्रत्यक्षवाद एक ऐसी वैज्ञानिक विधि है जिसका उद्देश्य समस्त मानव समाजों, विशेषत: यूरोप के समाजों की भौतिक, बौद्धिक एवं नैतिक रूप से उन्नति करना है।

4. धर्म एवं विज्ञान का समन्वय

कोंत विज्ञान को साध्य नहीं बल्कि अध्ययन एवं प्रगति का एक साधन मानता है। कोंत का प्रत्यक्षवाद धर्म एक विज्ञान का समन्वय है। इनके अनुसार प्रत्यक्षवाद एक वैज्ञानिक सिद्धान्त है जिसका उद्देश्य

सम्पूर्ण मानव समाज की वृद्धि करना है। एक धर्म के रूप में मानवतावाद भी जनकल्याण में वृद्धि चाहता है।

5.2.1 प्रत्यक्षवाद एक धर्म के रूप में

कोंत ने ''पाजिटिव फिलासफी'' में सामाजिक विज्ञान के लिये जिस वैज्ञानिक स्तर को निर्धारित किया था उस पर वे स्वयं ही स्थिर न रह पाये। इसीलिये कोंत के लिये कहा जाता है कि ''प्रत्यक्षवाद के जन्मदाता स्वयं ही सबसे कम प्रत्यक्षवादी थे।'' इसका एक प्रमुख कारण उनके अपने ही द्वारा निर्धारित प्रत्यक्षवाद के एक उद्देश्य मे निहित है। कोंत अपने को केवल एक वैज्ञानिक के रूप में ही नहीं प्रस्तुत करना चाहते थे। अपितु उनका उद्देश्य बौद्धिक तथा नैतिक एकता के आधार पर समाज का संगठन करना भी था। यह एकता ''ज्ञान'' के बिना सम्भव नहीं। इस कारण समाज का संगठन ''ज्ञान'' के सुदृढ़ आधार पर होगा और ज्ञान की प्राप्ति प्रत्यक्षवादी सिद्धान्तों के आधार पर ही सम्भव है। प्रत्यक्षवाद केवल एक विज्ञान ही नहीं अपितु मानवता के लिये एक धर्म भी है। प्रत्यक्षवाद मानवता का एक ऐसा सच्चा धर्म है जो कि अपना सम्बन्ध अलौकिक शक्ति से उतना नहीं जोड़ता जितना कि बौद्धिक तथा नैतिक एकता के आधार पर सामाजिक संगठन और प्रगति से।

प्रत्यक्षवाद के प्रमुख अंग (Main Division of Positivism)— कोंत ने प्रत्यक्षवाद के तीन विभागों का उल्लेख किया —

1. **विज्ञानों का दर्शन (Philosophy of the Sciences) —** इसके अन्तर्गत प्रत्यक्षवादी विभाग मानव मात्र को लोक कल्याण एवं समाज सुधार हेतु मानवीय प्रयत्नों तथा परिश्रम के प्रति जागरूकता का सन्देश देता है । यह विभाग यह मानकर चलता है कि मनुष्य स्वयं अपने भाग्य का निर्माता है।

2. **वैज्ञानिक धर्म एवं नीति (Scientific Religion & Ethics) —** प्रत्यक्षवादी धर्म मानवता का धर्म है, इसीलिये इसका सम्बन्ध किसी अलौकिक या दैवीय सत्ता से नहीं। प्रत्यक्षवादी धर्म में नैतिक नियमों का समावेश होगा जिसमें परमार्थ तथा दूसरों की सेवा के लिये अधिकाधिक योग्य बनाने के लिये शारीरिक, बौद्धिक एवं नैतिक शक्तियों का विकास करने पर बल दिया गया है।

3. **प्रत्यक्षवादी राजनीति (Positivistic Politics) —** कोंत की प्रत्यक्षवादी राजनीति का मूल उद्देश्य युद्ध की आशंका को निर्मूल कर यूरोप के सभी राज्यों को मिलाकर एक मित्र राष्ट्र की स्थापना करना है।

5.3 मानवता का धर्म तथा सामाजिक पुनर्निर्माण की योजना

कोंत मानता था कि मौजूदा सभी धर्म आधिभौतिक तथा धर्मशास्त्रीय अवस्थाओं में है, अत: इनसे मनुष्य तथा समाजों की आवश्यकता पूर्ण नहीं होती है और न ही इस प्रकार के धर्म प्रत्यक्षवादी समाज के निर्माण में सहायक ही हैं। इसके लिये उसने एक धर्म की कल्पना की थी और उसका नाम मानवता का धर्म रखा। इसी प्रकार उसने प्रत्यक्षवादी समाज के रूप में समाज के पुनर्निर्माण या पुनर्गठन की योजना बनायी थी। ये दोनों ही अवधारणायें उसके विचारों तथा उसकी मानसिकता के एक विशिष्ट लक्षण की ओर इंगित करती है। वह अपने समाज की तत्कालीन व्यवस्था से नितान्त असन्तुष्ट था तथा उसमें आमूल चूल परिवर्तन का इच्छुक था। उसकी ये दोनों ही अवधारणायें इस असन्तोष की भावना से ही प्रेरित है। यदि सामाजिक पुनर्निर्माण की उसकी संकल्पना को सूक्ष्म रूप से देखा जाय तो उसने पूंजीवाद के स्थानापन्न के रूप में जो व्यवस्था बतायी है उसके मूल में भी मानवता के धर्म का ही सार

छुपा है। अत: हम इसे उसकी 'मानवता के धर्म द्वारा सामाजिक पुनर्निर्माण की योजना' भी कह सकते हैं। कोंत यह मानता था कि नवीन प्रत्यक्षवादी या तर्कशील मानव परम्परागत धार्मिक संस्थानों के अन्धविश्वास पर आधारित अनुशासन बंधा नहीं रह सकता है। अत: एक ओर तो वह अपने आप को परम्परागत धार्मिक संस्थानों के बन्धन से मुक्त कर लेगा, दूसरी ओर उसे धर्म की शाश्वत आवश्यकता अनुभव होगा और तब प्रत्यक्षवादी युग के अनुकूल एक नये धर्म का प्रादुर्भाव होगा। वह प्रेम पर आधारित धर्म होगा जिसमें धर्मशास्त्रीय तथा आधिभौतिक चिन्तन के लक्षण नहीं होंगे। इसे ही उसने मानवता का धर्म माना है। (ऐरन, 1957)

5.4 नैतिकता का वैज्ञानिक सिद्धान्त

कोंत ने पृथक रूप से नैतिकता का वैज्ञानिक सिद्धान्त तो प्रस्तुत नहीं किया, परन्तु मानवता का धर्म प्रस्तुत करते समय ही इन्होंने इसके नैतिक आधार की चर्चा की जिसमें नैतिकता का वैज्ञानिक सिद्धान्त उदभासित हुआ। कोंत का विश्वास था कि बौद्धिक एकता की स्थापना के बिना राजनीतिक एकता सम्भव नहीं और सार्वभौम रूप में स्वीकृत एक व्यावहारिक सार्वभौम आचार (Practical Universal ethic) ही सामाजिक व्यवस्था की वास्तविक नींव है। यही मानवता के धर्म का आधार है। कोंत ने अपने प्रत्यक्षवाद को आधारभूत सामाजिक समस्याओं के बौद्धिक एवं नैतिक हल के रूप में प्रस्तुत किया है। प्रत्यक्षवाद धर्म तथा विज्ञान के बीच होने वाले संघर्ष का तथा प्रगति व व्यवस्था की पुरानी समस्या का हल प्रस्तुत करता है । कोंत के अनुसार एक सार्वभौम धर्म के माध्यम से सामाजिक व्यवस्था का विकास ही प्रगति है। यह मनुष्यों को मानवता के नाम पर एक साथ मिलता है। प्रेम इसका सिद्धान्त है, व्यवस्था इसका आधार है और प्रगति इसका ध्येय। प्रत्यक्षवाद लोगों में ज्ञानवृद्धि और उसके आधार पर नैतिक एकता पनपाने में सहायक होता है। इस दृष्टिकोण से प्रत्यक्षवाद मानव कल्याण का एक आधारभूत कारक है, (चैम्बलिस : 1954)

5.5 सामाजिक स्थिति विज्ञान एवं सामाजिक गति विज्ञान

कोंत ने समाजशास्त्र को दो प्रमुख भागों स्थैतिक और गतिशील समाजशास्त्र में विभाजित किया है। इस विभाजन का विचार जैविकी से लिया गया है, क्योंकि वह विज्ञानों की श्रेणीक्रम की धारणा में विश्वास करता था। जैविकी समाजशास्त्र का पूर्ववर्ती विज्ञान है इसलिए इन दोनों के लक्षण एक दूसरे से मिलते-जुलते हैं। स्थैतिक समाजशास्त्र में समाज के अस्तित्व की दशाओं का अध्ययन किया जाता है, जबकि गतिशील समाजशास्त्र के अन्तरर्गत समाज की सतत गतिशीलता या एक अवस्था के बाद दूसरी अवस्था आने के नियमों का अध्ययन किया जाता है। दूसरे शब्दों में पहले भाग में सामाजिक व्यवस्था और दूसरे भाग में समाज में प्रगति का अध्ययन किया जाता है।

5.5.1 सामाजिक स्थिति विज्ञान

सामाजिक स्थिति विज्ञान समाज के नियमों तथा सामाजिक क्रम का अध्ययन करता है। कोंत ने इसे समाजशास्त्र की वह शाखा माना है जो समाज का अध्ययन एक प्रकार्यात्मक समेकक के रूप में करती है। स्वयं कोंत ने स्पष्ट करते हुए लिखा है कि ''सामाजिक व्यवस्था के विभिन्न भागों की क्रियाओं एवं प्रतिक्रियाओं का अध्ययन सामाजिक स्थैतिकी है'' (टिमाशेफ : 24)

सामाजिक स्थिति विज्ञान की सार्थकता यह है कि यह विज्ञान सामाजिक संगठन के मूल सिद्धान्तों से हमारा परिचय कराता है। ताकि हम इसके महत्व को समझकर अपने सामाजिक जीवन को इस प्रकार संगठित करें, जिससे, सामाजिक संतुलन न बिगड़ने पाये, और मानव के भौतिक, नैतिक तथा बौद्धिक

तीनों पक्षों का संतुलित विकास सरल हो सके।

कोंत ने सामाजिक स्थिति विज्ञान के अन्तर्गत मुख्य रूप से निम्नलिखित बातों का अध्ययन किया है।

1. मतैक्य (Consensus)
2. सामाजिक संरचना (Social structure)
3. व्यक्ति (Individual)
4. परिवार (Family)
5. राज्य (State)

5.5.2 सामाजिक गति विज्ञान

सामाजिक गतिविज्ञान का अर्थ — अन्तरसम्बन्धित सामाजिक तथ्यों की क्रमिक अवस्थाओं में परिवर्तन का विश्लेषण है। कोंत ने सामाजिक गतिविज्ञान को सामाजिक स्थिति विज्ञान से अधिक महत्वपूर्ण माना है, क्योंकि उसके अनुसार समाज के अधिकांश अंग स्थिर न होकर गतिशील होते हैं, साथ ही कोंत यह भी मानते थे कि समाज में अधिकांश परिवर्तन प्रगति की दिशा में होता है। अत: सामाजिक गतिविज्ञान में भी प्रगति का बहुत अधिक महत्व है।

सामाजिक गतिविज्ञान में उन तथ्यों का अध्ययन किया जाता है जो समाज को गतिशील रखते हैं। इस प्रकार के तथ्यों का पता तो इतिहास के अध्ययन से भी लग जाता है। इसी विचार से कोंत ने अपने अध्ययन में इतिहास का भलीभाँति विश्लेषण किया है। सामाजिक गतिविज्ञान के अन्तर्गत अध्ययन की जाने विषयवस्तु अर्थात कोंत की दृष्टि में मनुष्य की सामाजिक प्रगति क्या है, इसका अंतिम लक्ष्य क्या है इस पर भी चर्चा की गयी है। इसीलिए सामाजिक गतिविज्ञान मनुष्य मस्तिष्क तथा मनुष्य समाज के विकास की क्रमिक तथा आवश्यक अवस्थाओं को इंगित करता है।

5.6 प्रत्यक्षवादी दर्शन की सार्वभौमिकता

कोंत का मत था कि प्रत्यक्षवाद पूरे संसार में सार्वभौम रूप से मान्य होगा। जो विषय प्रत्यक्षवाद की अवस्था तक पहुँच गये हैं उनमें वैज्ञानिक विधि से जो ज्ञान प्राप्त किया गया है तथा जो निष्कर्ष निकाले गये हैं वे संसार में एक से होंगे। अत: उन विषयों जैसे खगोलशास्त्र, भौतिकशास्त्र, रसायनशास्त्र, जीवविज्ञान में एक सार्वभौमिकता पायी जायेगी। इन विषयों में सभी विद्वान एकमत होंगे। न्युनाधिक रूप से आज ऐसा है भी। उसने सार्वभौमिकता का एक अन्य आयाम भी बताया है जो उतना अधिक सत्य प्रतीत नहीं होता है। उसके अनुसार चूँकि प्रत्यक्षवाद एक सार्वभौमिक तत्व है और ज्ञान की कुछ शाखायें जिन्हें हम प्राकृतिक विज्ञान कह सकते हैं। इस स्थिति तक पहुँच चुकी है अत: समाजशास्त्र या अन्य समाज विज्ञान भी शीघ्र ही इस स्थिति में पहुँच जायेंगे। (ऐरन, 1957: 71) संक्षेप में हम कोंत के शब्दों में ही कहें तो "प्रत्यक्षवाद हमारे ज्ञान का संश्लेषण प्रस्तुत करता है, इस प्रकार एक नई विचार प्रणाली और चेतना का नया आयाम प्रदान करता है। (कोंत)

5.7 सारांश

सारांशत: हम कह सकते हैं कि प्रत्यक्षवाद एक विधि है एक वैज्ञानिक योजना है, जिसमें परीक्षण, निरीक्षण, प्रयोग, वर्गीकरण आदि उपक्रम हैं। जबकि बाद में कोंत ने इसी वैज्ञानिक धर्म को उदारवादी मानवतावादी धर्म के रूप में घोषित किया जिसके नैतिक एवं धार्मिक आधार हैं।

सामाजिक पुनःनिर्माण की योजना भी कोंत ने मानवता के धर्म अर्थात प्रत्यक्षवाद के साथ बनाई। सामाजिक स्थिति विज्ञान समाज के विभिन्न पक्षों का अध्ययन करता है जबकि सामाजिक गतिविज्ञान समाज के गतिशील पक्षों पर प्रकाश डालता है। इसके अन्तर्गत प्रत्यक्षवादी दर्शन की सार्वभौमिकता के विभिन्न पक्षों की व्याख्या की गयी है।

5.8 बोध प्रश्न

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न —

प्र. 1 कोंत का प्रत्यक्षवाद क्या है?

प्र. 2 ''प्रत्यक्षवाद'' पर एक धर्म के रूप में प्रकाश डालिये ?

प्र. 3 सामाजिक स्थिति विज्ञान एवं गतिविज्ञान को परिभाषित करिये?

वस्तुनिष्ठ प्रश्न —

प्र.1 ''सामाजिक व्यवस्था के विभिन्न भागों की क्रियाओं एवं प्रतिक्रियाओं का अध्ययन सामाजिक स्थैतिकी है''

(अ) कोंत (ब) टिमाशेफ (स) ऐरन (द) इनमें से कोई नहीं

प्र. 2 निम्नलिखित में किसने प्रत्यक्षवाद को मानवता का धर्म माना है—

(अ) सेन्ट साइमन (ब) कोंत (स) फोरियर (द) इनमें से कोई नहीं।

प्र. 3 सामाजिक गतिविज्ञान से तात्पर्य है अन्तरसम्बन्धित सामाजिक तथ्यों की क्रमिक अवस्थाओं में परिवर्तन का विश्लेषण'' यह कथन है।

(अ) चैम्बरलिस (ब) साइमन (स) कोंत (द) फोरियर

5.9 बोध प्रश्नों के उतर

प्र. 1 अ

प्र. 2 ब

प्र. 3 स

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1.	बोगार्डस, ई. एस.	:	दि डेवलपमेन्ट आफ सोशल थॉट, लांगमैन्स ग्रीन एण्ड कम्पनी न्यूयार्क, 1960
2.	बार्न्स, हैरी एल्मर	:	एन इन्ट्रोडक्शन टु दि हिस्ट्री आफ सोशियोलाजी, शिकागो, 1948
3.	कोंत , आगस्त	:	पाजिटिव फिलासफी एण्ड पाजिटिव पालिटी, अनुवादित एच. मार्टिन्यु, बेल एण्ड सन्स न्यूयार्क, 1937
4.	चेम्बलिस, रोलिन	:	सोशल थॉट, न्यूयार्क, 1954
5.	बाटोमोर, टी. बी.	:	सोशियोलॉजी : ए गाइड टु प्राब्लम्स एण्ड लिटरेचर , जार्ज एलेन एण्ड अनविन लिमिटेड लन्दन 1962
6.	इंकेल्स, एलेक्स	:	व्हाट इज सोशियोलॉजी, 1975 प्रन्टिस हाल, न्यू दिल्ली
7.	कोजर, लेविस	:	मास्टर्स आफ सोशल थॉट, हरकोर्ट ब्रास, ज्वारिक, न्यायार्क 1971
8.	टिमाशेफ, निकोलस	:	सोशियोलॉजिकल थ्योरी : इट्स नेचर एण्ड ग्रोथ, रैण्डम हाऊस, न्यूायार्क, 1967
9.	बीरस्टैड, राबर्ट	:	दि सोशल आर्डर
10.	एरन, रेमण्ड	:	मेन करेन्टस इन सोशियोलाजिकल थॉट 1967
11.	कोजर, लेविस	:	सोशियोलाजिकल थ्योरी ए बुक आफ रीडिंग ,लन्दन, 1957
12.	निस्बेट राबर्ट	:	दि सोशियोलाजिकल ट्रैडेशन, लन्दन, ग्लासगो, 1963
13.	चौहान, ब्रजराज	:	समाज विज्ञान के प्रेरक स्रोत, ए. के. ब्रदर्स जयपुर 1994

NOTES

खण्ड

2

हरबर्ट स्पेन्सर तथा विल्फ्रेड पारेटो

इकाई 6

स्पेन्सर का उद्विकास सम्बन्धी विचार

इकाई 7

पारेटो की तार्किक और अतार्किक क्रियाओं की अवधारणा

इकाई 8

पारेटो की अवशिष्ट एवं भ्रान्त तर्क की अवधारणा

इकाई 9

पारेटो का अभिजात वर्ग के परिभ्रमण का सिद्धान्त

परामर्श समिति

प्रो० देवेन्द्र प्रताप सिंह अध्यक्ष
कुलपति
उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय,
इलाहाबाद

डॉ० एच० सी० जायसवाल कार्यक्रम संयोजक
परामर्शदाता
उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इला०

डॉ० आर० के० बसलस सचिव
कुल सचिव
उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय,
इलाहाबाद

विशेषज्ञ समिति

प्रो० वी० के० पंत विषय विशेषज्ञ
से०नि०आचार्य एवं विभागाध्यक्ष
कुमाऊँ विश्वविद्यालय, नैनीताल

प्रो० डी० पी० सक्सेना विषय विशेषज्ञ
से० नि० आचार्य
गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर

प्रो० पी० एन० पाण्डेय तिषय विशेषज्ञ
आचार्य एवं पूर्व विभागाध्यक्ष
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

डा० मंजूलिका श्रीवास्तव संरचनात्मक विषय विशेषज्ञ
स्ट्राइड, इग्नू, नई दिल्ली

पाठ्यक्रम लेखन समिति

MASY-02 : – *पाश्चात्य सामाजिक विचारधारा*

खण्ड एक : अनूप कुमार सिंह, प्रवक्ता , डी०ए०वी० कालेज, कानपुर 5 इकाई (आकारगत 3)
खण्ड दो : पवन कुमार मिश्र, प्रवक्ता, लखनऊ विश्वविद्यालय 4 इकाई (आकारगत 3)
खण्ड तीन : डॉ० अनिल कुमार मिश्र, प्रवक्ता, डी०ए०वी० कालेज, कानपुर 4 इकाई
खण्ड चार : मणीन्द्र कुमार तिवारी, प्रवक्ता, डी०ए०वी० कालेज, कानपुर 4 इकाई
खण्ड पाँच : पवन कुमार मिश्र, प्रवक्ता, लखनऊ विश्वविद्यालय 5 इकाई (आकारगत 4)
सम्पादन : प्रो० वी० के० पंत

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

सर्वाधिकार सुरक्षित, इस कार्य के किसी भी अंश की उ० प्र० राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद की लिखित अनुमति के बिना मिमियोग्राफ अथवा किसी अन्य साधन से पुनः प्रस्तुति अनुमन्य नहीं है।

दूरस्थ शिक्षा परिषद, नई दिल्ली के सहयोग से प्रकाशित।

खण्ड 2 का परिचय

हरबर्ट स्पेन्सर तथा विल्फ्रेड पारेटो

इस खण्ड में समाजशास्त्र के द्वितीयक जनक कहे जाने वाले अंग्रेज समाजशास्त्री हरबर्ट स्पेन्सर (1820-1903 के प्रमुख समाजशास्त्रीय विचारों की जानकारी दी गयी है। इसी खण्ड में प्रमुख समाजशास्त्री विल्फ्रेडो परेटो (1848-1923) के विचारों की भी जानकारी दी गयी है।

इस खण्ड की प्रथम इकाई में ह्रबर्ट स्पेन्सर के सावयवी सादृश्यता के विचारों पर ध्यान केन्द्रित किया गया है। इसी इकाई में स्पेन्सर के उद्विकास सम्बन्धी विचार भी प्रस्तुत किये गये हैं। इसी में स्पेन्सर के सामाजिक डार्विनवाद सम्बन्धी विचारों को प्रस्तुत किया गया है।

इस खण्ड की द्वितीय इकाई में विल्फ्रेडो पारेटो द्वारा प्रस्तुत समाजशास्त्र की परिभाषा एवं उनके तार्किक व अतार्किक क्रियाओं सम्बन्धी विचार प्रस्तुत किये गये हैं। उस खण्ड की तृतीय इकाई पारेटो के अवशेषी एवं भ्रांत तर्कों से सम्बन्धित विचारों पर केन्द्रित है। इकाई चार पारेटो के अभिजात वर्ग के सिद्धान्त को प्रस्तुत करती है।

इस प्रकार यह सम्पूर्ण खण्ड दोनों समाजशास्त्रियों के जीवन परिचय के अलावा कुल चार इकाइयों में विभाजित है।

हरबर्ट स्पेन्सर और विल्फ्रेड पारेटो का जीवन परिचय

हरबर्ट स्पेन्सर (1820-1903)

हरबर्ट स्पेन्सर जिस दौर में पैदा हुए वह औद्योगिक क्रांति के उद्भव तथा उसके प्रभावों का दौर था। उल्लेखनीय है कि औद्योगिक क्रांति ने समाजशास्त्र के प्रारम्भिक पथप्रदर्शकों कार्ल मार्क्स, वेबर, दुर्खीम, स्पेन्सर तथा काम्ट को अलग-अलग ढंग से प्रभावित किया। औद्योगिक क्रांति और उसके पड़ने वाले प्रभावों को वेबर ने तर्क संगतिकरण के विकास के रूप में देखा। मार्क्स इस नयी औद्योगिक व्यवस्था जो कि मुनाफे पर आधारित थी, को कैसे समाप्त किया जाये, इस प्रश्न से जूझ रहे थे। इमाइल दुर्खीम के सामने औद्योगिक समाज में बढ़ता हुआ विभेदीकरण किस तरह समाज में एकता लाता है, की समस्या थी। समाजशास्त्र के जनक आगस्ट काम्ट औद्योगिक क्रान्ति की वजह से उत्पन्न परिवर्तनों को समझने के लिए समाजशास्त्र विषय की रूपरेखा प्रस्तुत कर रहे थे। हरबर्ट स्पेन्सर ने इस नयी औद्योगिक अर्थव्यवस्था को अपने सामाजिक डार्विनवाद सम्बन्धी विचारों से एक नैतिक चेहरा प्रदान करने की कोशिश की।

हरबर्ट स्पेन्सर का जन्म 27 अप्रैल 1820 में इंगलैण्ड के डर्बी नामक स्थान पर हुआ। उसके पिता जॉर्ज स्पेन्सर एक स्कूल अध्यापक थे। वह और उसका पूरा परिवार कट्टर परम्परा विरोधी तथा व्यक्तिवादी दृष्टिकोण वाला था। स्पेन्सर अपने माता-पिता की नौ संतानों में सबसे बड़ा था और अकेले वही वयस्क आयु प्राप्त कर पाया था। बाकी सभी का कम आयु में ही देहान्त हो गया था। सभवत: यहा कारण था कि अपने विकास सम्बन्धी सिद्धान्त में उसने सर्वोपयुक्त की उत्तरजीविता के विचार का प्रतिपादन किया था। स्पेन्सर ने कोई स्कूली शिक्षा नहीं पायी और उसके पिता तथा चाचा ने उसको घर पर ही पढ़ाया। वह केवल कुछ समय के लिए किसी छोटे निजी स्कूल में अवश्य गया। अपनी आत्मकथा (स्पेन्सर, 1094) में उसने लिखा है कि उसका सर्वोत्तम प्रशिक्षण गणित में हुआ था। प्राकृतिक विज्ञान, साहित्य, इतिहास,

आदि जैसे अन्य विषयों में कोई प्रशिक्षण न पाने के बावजूद उसने जैविकी तथा मनोविज्ञान पर उत्कृष्ट ग्रंथ लिखे। प्रारम्भ में स्पेन्सर की रुचि मेकेनिक्स में थी। उन्होंने 1830 में 17 वर्ष आयु में लंदन जाकर सिविल इंजीनियर के रूप में रेलवे लाइनों एवं पुलों का चार वर्षों तक कार्य किया। वे लंदन के राजनैतिक व सामाजिक जीवन के मामलों में रुचि लेने लगे और उन्होंने इस संदर्भ में कुछ लेख भी प्रकाशत किये। 1848 में उन्होंने इंजीनियरिंग का कार्य छोड़ दिया और "Economics" नामक साप्ताहिक पत्रिका के उपसम्पादक बन गये। यहीं से उनका साहित्यिक जीवन आरम्भ होता है। इस पत्रिका में उन्होंने पांच वर्ष तक कार्य किया। इस दौरान उन्हें अनेक उच्च एवं प्रमुख व्यक्तियों से भेट करने का अवसर मिला और सार्वजनिक् कार्यों में उनकी रूचि बढ़ती गयी। सन् 1850 में उन्होंने अपनी प्रथम पुस्तक "Social Statistics" लिखी। इस पुस्तक को बुद्धिजीवी वर्ग में मान्यता मिली। इस पुस्तक में उसने अपने समाजशास्त्रीय सिद्धान्त के मुख्य विचारों को प्रस्तुत किया। सामाजिक स्थैतिकी के शीर्षक की वजह से कुछ चिंतकों ने उस पर कांम्ट के विचारों को ही फैलाने का दोषारोपण किया। लेकिन स्पेन्सर ने कहा कि निबन्धन उसके स्वयं के हैं और उसने काम्ट का नाम तो सुना है किन्तु उसके विचारों से अवगत नहीं है। उसने यह भी कहा कि प्रारम्भ में उसकी पुस्तक का शीर्षक ''डेमोस्टैटिक्स'' था। उसने कहा कि वह पहला व्यक्ति था जिसने डार्विन द्वारा दिये गये ''प्राकृतिक वरण'' तथा सर्वोपयुक्त की उत्तरजीविका, के बुनियादी विचारों की खोज की।

स्पेन्सर ने मुक्त बाजार के सिद्धान्त का समर्थन किया, जिसका उस समय के अंग्रेज अर्थशास्त्री भी समर्थन कर रहे थे। 1882 में वह अमेरिका के दौरे पर गया था। लेकिन जिन्दगी के अंतिम दिनों में उसे लगा कि उसकी कृतियों को उतनी प्रतिष्ठा नहीं मिली, जितनी कि उसे आशा थी। उन्होंने Synthetic Philosophy नामक एक योजना प्रकाशित की जिसमें उद्विकास के सिद्धान्त की सार्वभौमिकता पर बल दिया। 1968 के बाद स्पेन्सर एक प्रमुख विचारक के रूप में प्रसिद्ध हुए और उनकी रचनाओं की खूब बिक्री हुई। इससे उनकी आर्थिक स्थिति में सुधार हुआ और जीवन का शेष भाग सुख से व्यतीत हुआ। सन् 1903 में 83 की आयु में स्पेन्सर का स्वर्गवास हो गया। स्पेन्सर आजीवन अविवाहित ही रहे। वे जितना एक मानव प्राणी थे उससे अधिक बौद्धिक सावयव थे।

विल्फ्रेडो पारेटो (1848–1923)

पारेटो का जन्म 15 जुलाई 1848 कों पेरिस में हुआ। था। उनकी माँ पेरिस की तथा पिता जिनेवा के नागरिक थे। उनके पिता मानवतावादी एवं आदर्शवादी विचारों के समर्थक थे। प्रजातांत्रिक न्याय एवं मानवतावादी विचारों के कारण उनके पिता को इटली से निर्वासित किया गया था और इसी दौरान पारेटो का जन्म हुआ और पैरेटो की प्रारम्भिक शिक्षा दीक्षा पैरिस में हुई जहां इन्होंने लगभग दस वर्षों की आयु तक अध्ययन किया। 1858 में जब इटली की सरकार की नीति बदली तो पारेटो का परिवार पुन: इटली के ट्यूरिवन नगर में रहने लगा। ट्यूरियन विश्वविद्यालय के पॉलीटेक्नीक इन्स्टीट्यूट से आपने 22 वर्ष की आयु में स्नातक स्तर की शिक्षा प्राप्त की। आपने काफी दिनों तक एक लौट उद्योग में मैनेजिंग डायरेक्टर के पद पर कार्य किया। इस पद रहते हुए उन्होंने इग्लैण्ड व यूरोप के अनेक देशों की यात्रा की और कई प्रसिद्ध विद्वानों से संपर्क करने अवसर भी मिला। इसी अवधि में उन्हें अर्थशास्त्र से सम्बंधित कई समस्याओं का ज्ञान भी हुआ। अर्थशास्त्र के अध्ययन के प्रति उनकी रूचि बढ़ी। उन्होंने काम्ट, स्पेन्सर और डार्विन की रचनाओं का भी अध्ययन किया। पारेटो ने कई सामाजिक और आर्थिक समस्याओं से सम्बन्धित लेख भी लिखे। समस्याओं के प्रति समझ ने पैरेटो को इन्जीनियर से अर्थशास्त्री व समाजशास्त्री बना दिया।

सन् 1882 में पारेटो के पिता देहांत हुआ और उत्तराधिकार में उन्हें लाहे की खाने व पर्याप्त धनसम्पत्ति मिली, अत: जीवनयापन या कमाने की चिन्ता से मुक्त होकर उन्होंने अपने आपको अर्थशास्त्र व समाजशास्त्र के विभिन्न विषयों मे लगा दिया। उन्होंने अपने लेखों में मजदूरों के वेतन, सरकारी अधिकार, व्यापार आदि के बारे में महत्वपूर्ण विचार प्रकट किए पारेटो प्रोफेसर वालरस के गणितीय अर्थशास्त्र के सिद्धान्तों से बहुत अधिक प्रभावित हुए और उनके कहने से 1893 में स्विट्जरलैण्ड के लोसान विश्वविद्यालय में राजनीतिक अर्थशास्त्र के प्राध्यापक बन गये। इसी विश्वविद्यालय में मुसोलिनी उसका शिष्य रहा था। 1897-98 में आपने राजनीतिक अर्थशास्त्र व समाजशास्त्र दोनों ही विषयों को पढ़ाया। वह सेवानिवृत्ति तक इस पद पर बना रहा और उसने अपने आपको सैद्धान्तिक अर्थशास्त्र के अधिकारी विद्वान के रूप में प्रतिष्ठित कर लिया। इस समय पारेटो एक निंदक और उदासीन एकाकी बनकर रह गया था। वह उस काल की सभी प्रमुख प्रवृत्तियों जैसे उदारवाद आदि का विरोधी था। वह वामपंथी विचारधारा से अत्यधिक घृणा करने लगा था। इसकी छाप उसके लेखन पर भी दिखायी देती है।

अपने जीवन के अंतिम दिनों में वह हृदय रोग से पीड़ित हो गया। अनिद्रा रोग के कारण वह रात को खूब पढ़ता था। वह अपने एकांत जीवन में बिल्लियों और सुप्रसिद्ध मदिरा की बोतलों से घिरा रहता था, जिसकी वह बहुत शेखी बघारा करता था। डिक्टेटर मुसोलिनी के फासिस्ट शासन के दौरान उसने फिर से सार्वजनिक जीवन में सक्रिय रूप से भाग लेना शुरू किया। उसे इटली राज्य में सीनेटर नियुक्त किया गया और जिनेवा में निःशस्त्रीकरण सम्मेलन के लिये उसे इटली का प्रतिनिधि मनोनीत किया गया। ऐसा प्रतीत होता है कि मुसोलिनी ने कुछ हद तक पारेटो द्वारा सुझाए गये कार्यक्रमों को लागू किया। पारेटो मुसोलिनी के शासन के आरंभिक दिनों तक ही जीवित रहा। 1923 में उसने अपनी पहली पत्नी से तलाक ले लिया और जेन रेगिस से विवाह कर लिया। कुछ समय बीमार रहने के बाद 19 अगस्त 1923 को पचहत्तर साल की आयु में उसकी मृत्यु हो गयी।

सामाजिक - बौद्धिक पृष्ठभूमि —

पारेटो में मैकियावेली की तरफ झुकाव था। वस्तुत: पारेटो के सिद्धान्त में मौजूद फासीवादी विचारों की जड़ में मैकियावेली का प्रभाव मुख्य था। पारेटो डारविन से भी प्रभावित थे। उन्होंने हरबर्ट स्पेन्सर के उद्विकास की भी पड़ताल की थी। उस युग में मीड का बड़ा नाम था। मीड ने अपनी कृतियों में व्यक्ति और समाज के सम्बन्धों को देखा है। उनका कहना था कि व्यक्ति के लिये समाज सबसे ऊपर है। व्यक्ति तो समान की प्रतिकृति मात्र है। इस विचारधारा ने भी पारेटो को प्रभावित किया। पारेटों पर मोस्का का भी प्रभाव था।

विल्फ्रेडो पारेटो का पूरा नाम मार्क्विस विल्फ्रेडो फ्रेडारिको डुमस पारेटो था। पारेटो का जीवन काल यूरोप के इतिहास के उस काल से सम्बन्धित रहा जब इतालवी समाज के सामाजिक-राजनीति ढांचे में महत्वपूर्ण परिवर्तन हो रहे थे। आरंभ में उसके जीवन पर उसके पिता और मित्रों के उदारवादी, लोकतंत्रीय विचारों का प्रभाव पड़ा लेकिन धीरे-धीरे उम्र बढ़ने के साथ वह इन विचारों का विरोधी हो गया। ये विचार इटली के एकीकरण की प्रक्रिया में सहायक, महान राजनीतिक नेता मज्जिनी के विचारों और मूल्यों का प्रतिनिधित्व करते थे।

पारेटो ने उस समय फ्रांस व इटली में पाये जाने वाले मानवतावादी, गणतंत्रवादी और लोकतंत्रीय मूल्यों को अस्वीकार कर दिया और जैसा कि कोजर (1971) ने लिखा है कि वह लगभग उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में प्रचिलित राजनीतिक प्रणाली का विरोधी हो गया। उपर्युक्त आदर्शों को अस्वीकार करने का कारण

यह था कि सरकार ने उसके परामर्श और सुझावों पर ध्यान नहीं दिया। अपनी पुस्तक 'क्रिटाइज'' (1963) में उसने लोकतंत्रीय प्रणाली की आलोचना की, जिसके कारण बाद में इटली के फासिस्ट नेता मुसोलिनी ने उसे इटली की सीनेट में सदस्यता ग्रहण करने की पेशकश की लेकिन पारेटो ने इसे अस्वीकार कर दिया (टिमाशेफ, 1967)। संभवत: उदार, लोकतंत्रीय, आदर्शों से असंतुष्ट होने के कारण पैरेटो को कहना पड़ा कि एक सामाजिक विश्लेषणकर्ता का कार्य 'समानता' 'प्रगति', 'स्वतंत्रता' जैसे मूल्यों और सिद्धान्तों की वास्तविक प्रकृति का पर्दाफाश करना है। उसका कहना था कि मनुष्य इन खोखले शब्दों का इस्तेमाल अपने कार्यों को उचित और तर्क संगत ठहराने के लिये करता है।

इकाई -6 स्पेन्सर का उद्विकास सम्बन्धी विचार

इकाई की रूपरेखा

6.0 उद्देश्य

6.1 प्रस्तावना

6.2 सावयव व समाज में तुलना

- 6.2.1 सावयव व समाज में समानता
- 6.2.2 सावयव व समाज में विभिन्नता
- 6.2.3 मूल्यांकन

6.3 समाजशास्त्र की प्रकृति से सम्बन्धित विचार

- 6.3.1 समाजशास्त्र विज्ञान के रूप में
- 6.3.2 समाजशास्त्र की अध्ययन पद्धति

6.4 उद्विकास सम्बन्धी विचार

- 6.4.1 उद्विकास सरलता से जटिलता की तरफ
- 6.4.2 सैन्य से औद्योगिक समाज की तरफ

6.5 स्पेन्सर का सामाजिक डार्विनवाद

6.6 स्पेन्सर के विचारों का आगे के समाजशास्त्र पर प्रभाव

6.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें

6.8 सारांश

6.9 बोध प्रश्न

6.10 वस्तुनिष्ठ बोध प्रश्नों के उत्तर

6.11 संदर्भ सूची

6.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप,

- स्पेन्सर की सावयवी सादृश्यता सम्बन्धी विचारों का वर्णन कर सकेंगे।
- स्पेन्सर के समाजशास्त्र की प्रकृति सम्बन्धी विचारों का उल्लेख कर सकेंगे।
- स्पेन्सर के उद्विकासवाद से सम्बन्धित विचारों की विवेचना कर सकेंगे।
- स्पेन्सर के विचार अपने बाद के समाजशास्त्र को कैसे प्रभावित करते हैं पर टिप्पणी कर सकेंगे।

6.1 प्रस्तावना

स्पेन्सर ने अपने समकालीन काम्ट की भांति समाजशास्त्र को विज्ञान बनाना चाहा। इस इकाई में स्पेन्सर के इन्हीं विचारों की चर्चा की गई है। इसी इकाई में आप यह भी जान पाएंगे कि स्पेन्सर के सिद्धान्त का

समाज में कैसे प्रयोग किया गया है। इसके साथ ही स्पेन्सर के सैन्य एवं औद्योगिक समाज में अन्तर सम्बन्धी विचारों की भी चर्चा इसी इकाई में प्रस्तुत की गई है।

6.2 सावयव व समाज में तुलना

हालांकि स्पेन्सर एक व्यक्तिवादी था लेकिन उसने सावयव की तुलना समाज से की। इससे सम्बन्धित विचार उसकी "प्रिंसिपल्स आफ सोशियालाजी" (1925) में वर्णित हैं। स्पेन्सर ने इस अनुरूपताओं को उद्‌विकास के एक सामान्य सिद्धान्त बनाने के लिए प्रथम चरण के रूप में लिया।

6.2.1 सावयव व समाज में समानता

समाज व सावयव में समानता को स्पेन्सर ने निम्न प्रकार से व्यक्त किया है।

(1) शरीर की भांति समाज का उद्‌विकास भी सरलता से जटिलता की ओर तथा समानता से भिन्नता की ओर हुआ है। शरीर प्रारम्भ में अति सरल होता है। उसके विभिन्न अंग स्पष्ट नहीं होते, केवल मांस का एक पिण्ड होता है। किन्तु धीरे धीरे हाथ, पाँव, आँख, नाक, कान, सिर तथा अन्य अंग स्पष्ट होने लगते हैं और धीरे-धीरे पूर्ण शरीर का विकास होता है। समाज का विकास भी इसी प्रकार से होता है। प्रारम्भ में समाज में भी उसके विभिन्न अंग एक में ही निहित थे। धीरे-धीरे आर्थिक, राजनैतिक, शैक्षणिक, धार्मिक एवं अन्य संस्थाएं, समितियाँ और संगठन बने तथा समाज में भिन्नता व जटिलता बढ़ती गई।

(2) समाज और शरीर दोनों का निर्माण छोटी-छोटी इकाइयों से हुआ है। शरीर की सबसे छोटी इकाई कोशिका है तो समाज की परिवार।

(3) दोनों की संरचना में निश्चितता पाई जाती है।

(4) दोनों का उद्‌विकास एक निश्चित क्रम से हुआ है।

(5) दोनों में प्रत्येक अंग का एक निश्चित कार्य होता है। जैसे शरीर में आंख, नाक, कान, पेट, पैर एवं हाथों के कार्य निश्चित हैं। उसी प्रकार से समाज के अंग सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक, राजनीतिक संगठनों एवं समितियों के भी निश्चित कार्य हैं। शरीर की भांति समाज में भी श्रम विभाजन ओर विशेषीकरण पाया जाता है।

(6) सावयव व शरीर के विभिन्न अंग एक दूसरे से सम्बन्धित और एक दूसरे पर निर्भर होते हैं। शरीर स्वस्थ एवं शक्तिशाली तभी बना रहता है जब प्रत्येक अंग अपना-अपना कार्य करता रहे। समाज की शक्ति और व्यवस्थित रूप से संचालन भी उसी समय संभव है जब इसके विभिन्न अंग समितियां, संगठन व संस्थाएं अपना अपना कार्य करते रहें।

(7) समाज एवं शरीर दोनों में संचालन व नियंत्रण हेतु विभिन्न प्रणालियाँ और प्रकियाएं पायी जाती हैं। जैसे मस्तिष्क शरीर को नियंत्रित करने, पेट पचाने, श्वसन क्रिया रक्त संचार एवं परिभ्रमण का कार्य करते हैं वैसे ही राज्य समाज नियंत्रण, व्यापार व वाणिज्य प्रसारण एवं वितरण का कार्य और अर्थव्यवस्था समाज के पोषण कार्य करती है। शरीर में रक्त ले जाने का कार्य नाड़ियाँ व धमनियां करती हैं वैसे ही संचार व यातायात के साधन समाज में प्रसारण की व्यवस्था को बनाए रखते हैं।

(8) जिस प्रकार से शरीर का विनाश हो जाता है उसी प्रकार से एक समाज भी नष्ट हो जाता है। जैसे शरीर रुग्ण व स्वस्थ होता है वैसे ही समाज भी रुग्ण व स्वस्थ होता है।

6.2.2 सावयव व समाज में विभिन्नता

स्पेन्सर ने समाज एवं सावयव की समानताओं का ही उल्लेख नहीं किया वरन् इन दोनों में पायी जाने वाली असमानताओं को भी दर्शाया है। वे निम्नांकित हैं।

(1) शरीर की भांति समाजों का कोई विशिष्ट शारीरिक रूप नहीं होता।

(2) शरीर का निर्माण करने वाले इसके अंग, कोष्ठों का पृथक अस्तित्व संभव नहीं है। किन्तु समाज से पृथक रहकर इसके अंग व्यक्ति का अस्तित्व व जीवन संभव है।

(3) शरीर के विभिन्न अंग एक ही स्थान पर स्थिर एवं निश्चित रूप में बने रहते हैं। किन्तु समाज के विभिन्न अंग अपने स्थान पर उतने स्थिर नहीं रहते हैं।

6.2.3 मूल्यांकन

यद्यपि स्पेन्सर ने समाज और सावयव की तुलना पर कोई महत्वपूर्ण सिद्धान्त नहीं प्रस्तुत किया, लेकिन आगे चलकर प्रकार्यवादी विचारकों ने प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से स्पेन्सर के इस विचार को अपने सिद्धान्त का आधार बनाया। उल्लेखनीय है कि प्रकार्यवादी विचारक यह मानते हैं कि समाज वैसे ही अन्तर्सम्बन्धित व अन्तर्निभर अंगों की व्यवस्था है, जैसे मानव शरीर।

6.3 समाजशास्त्र की प्रकृति से सम्बन्धित विचार

6.3.1 समाजशास्त्र विज्ञान के रूप में

कामट की ही भांति स्पेन्सर भी समाज के विज्ञान में विश्वास रखते थे। स्पेन्सर समाज के विज्ञान को संभव भी मानते थे। स्पेन्सर ने पूरी दुनिया की समस्त घटनाओं को तीन भागों अजैविक, जैविक तथा पराजैविक (सामाजिक) में बांटा और इन्हें उद्‌विकास क्रय में प्रस्तुत किया। स्पेन्सर समाज के विज्ञान समाजशास्त्र को पराजैविक (जो कि सामाजिक उद्‌विकास है) के अध्ययन का विज्ञान मानते थे।

6.3.2 समाजशास्त्र की अध्ययन पद्धति

समाज का विज्ञान स्पेन्सर व काम्ट दोनो के लिए प्रत्यक्षवादी विज्ञान है। लेकिन दोनों के दृष्टिकोण में एक बुनियादी अन्तर है। काम्ट जहां समाज शास्त्र को मनुष्य जिस समाज में रह रहा है, उसे बेहतर बनाने का माध्यम मानते थे, वहीं स्पेन्सर ने इस नये विज्ञान को इस रूप में देखा कि यह आधुनिक राज्य को इस रूप में समझाये कि वह समाज में चल रही प्राकृतिक चयन की प्रक्रिया में हस्तक्षेप न करे (अब्राहा एण्ड मार्गन, 1985) समाजशास्त्र के संस्थापक होने के नाते स्पेन्सर इसके लिए एक पृथक और स्वतन्त्र अध्ययन पद्धति का निर्माण करना चाहते थे। स्पेन्सर ने सामान्यीकरण तक पहुँचने के लिए आगमन, निगमन, और तुलनात्मक पद्धतियों का सहारा लिया। स्पेन्सर ने अपनी पुस्तक ''स्टडी आफ सोशियालोजी'' (1961) में सामाजिक घटनाओं के अध्ययन में आने वाली कठिनाइयों का उल्लेख किया। स्पेन्सर ने कहा कि स्वयं अध्यनकर्ता अपनी अध्ययन वस्तु 'समाज' का एक अंग होने के कारण उसके अध्ययन में वस्तुनिष्ठता नहीं ला पाता, वह अपने को समाज से पृथक नहीं रख पाता है। जब एक वैज्ञानिक अन्य वैज्ञानिकों के अवलोकन का सहारा लेता है उन अवलोकनों में भी निहित स्वार्थ के कारण

विश्वसनीयता एवं सत्य का अभाव हो सकता है। अत: एक वैज्ञानिक को अधिकाधिक वस्तुनिष्ठ होना चाहिए और उसे अपने स्वार्थों, भावुकता आदि को त्यागकर सही तथ्यों का पक्षपात रहित होकर संकलन करना चाहिए। इस पुस्तक में उनके बहुत से अध्याय उन पूर्वाग्रहों पर केन्द्रित हैं जो वस्तुनिष्ठता के रास्ते में बाधा के रूप में आते हैं, जैसे-देशभक्ति सम्बन्धी पूर्वाग्रह, वर्ग पूर्वाग्रह, राजनैतिक पूर्वाग्रह, धार्मिक पूर्वाग्रह आदि । स्पेन्सर का मत था कि सामाजशास्त्री को सभी पूर्वाग्रहों से मुक्त होकर अध्ययन करना चाहिए। स्पेन्सर नहीं चाहते थे कि समाजशास्त्र सामाजिक परिवर्तन लाने के लिये उत्तरदायी हो, क्योंकि सामाजिक परिवर्तन तो उद्‌विकास की प्रक्रिया द्वारा स्वत: प्राकृतिक रूप से होगा, उसे प्रयत्नपूर्वक लाने की आवश्यकता नहीं हैं। अत: स्पेन्सर समाज सुधार के लिए प्रयत्न करना व्यर्थ समझते थे। इससे प्राकृतिक रूप से होने वाले सामाजिक उद्‌विकास और प्रगति में बाधा पैदा होगी और गलत दिशा दे दी जायेगी।

6.4 उद्‌विकास सम्बन्धी विचार

6.4.1 उद्‌विकास सरलता से जटिलता की तरफ

उद्‌विकास का अर्थ होता है सरलता से जटिलता की तरफ बदलाव। वस्तुत: उद्‌विकास 19वीं शताब्दी में प्राकृतिक विज्ञान की महत्वपूर्ण विचारधारा थी। वैज्ञानिक विकास को उद्‌विकास के रूप में ही स्पष्ट करते थे। उदाहरण के लिए-कोई छोटा पत्थर जो सरल आकृति का होता है, समय बीतने के साथ उस पर धूल की पर्तें चढ़ती चली जाती हैं और वह चट्‌टान रूपी जटिल आकृति में परिवर्तित हो जाता है। स्पेन्सर ने अपने विचारों में उद्‌विकास का प्रयोग बहुत ज्यादा किया और ऐसा लगता है कि अन्य तथ्यों के अलावा स्पेन्सर समाजशास्त्र को प्रतिष्ठित विज्ञान बनाने के लिए उद्‌विकास की चर्चित विचारधारा को सामाजिक विकास की स्थितियों को समझाने के लिए प्रस्तुत करना चाहता था। स्पेन्सर के उद्‌विकास सम्बन्धी विचा मुख्यत: उसकी पुस्तक "फर्स्ट प्रिंसिपल" (1862) में वर्णित हैं। इस पर डार्विन का भी प्रभाव पड़ा। डार्विन के विचार का सहारा लेते हुए स्पेन्सर ने बताया कि पदार्थ सरलता से जटिलता, असम्बद्धता से सम्बद्धता और अनिश्चितता से निश्चितता की तरफ होता है।

स्पेन्सर का मत है कि समस्त ब्रह्मांड पदार्थ व शक्ति दो तत्वों के मिलकर बना है। ब्रह्मांड तीन सत्यों

(1) पदार्थ कभी नष्ट नहीं होता

(2) गति की निरन्तरता

(3) शक्ति शाश्वत है,

सें संचालित होता है। स्पेन्सर के मत में पदार्थ व गति दोनों ही शक्ति के दो पहलू हैं। संसार इन दोनों के संतुलन से चलता रहता है। गति पदार्थ को सदैव गतिशील बनाये रखती है। पदार्थ नष्ठ नहीं होता, रूपान्तरित हो सकता है।

स्पेन्सर के ज्ञान की पद्धति उसके इस विश्वास पर टिकी थी कि प्रकृति के विभिन्न रूप चाहे वह पहाड़ हो या समुद्र, पेड़ हो या घास, मछली हो या रेंगने वाले जीव, पक्षी हो या मानव सभी बुनियादी भौतिक पदार्थ के रूप तथा रूपान्तर होते हैं। सम्पूर्ण विश्व और उसमें मानव के स्थान को समझने की मूल अवधारणा भी इसी मान्यता पर टिकी है। इस प्रकार परिवर्तन की सभी प्रक्रियाएं एक समान होती है। अर्थाव वे भौतिक पदार्थों से उत्पन्न होती हैं रूपान्तरण तथा परिवर्तन का अपना विन्यास रखती हैं और प्रकृति में फिर से मिल जाती हैं। इस प्रक्रिया में वे इस तरह परिवर्तित होती हैं।

स्पेन्सर सामाजिक विकास की अपनी स्थापना के सम्बन्ध में दो वर्गीकरण प्रणालियां बनाना चाहता था। पहली व्यवस्था के अनुसार सामाजिक विकास की प्रक्रिया में समाज अपने संघटन की श्रेणी के आधार प

सम्मिश्र समाज के विभिन्न स्तरों की ओर क्रियाशील है। स्पेन्सर के अनुसार कुछ साधारण समाजों के समुच्चय से सम्मिश्र समाज उत्पन्न होते हैं, कुछ सम्मिश्र समाजों के समुच्चय से दुहरे सम्मिश्र समाज पैदा होते हैं। कुछ दूसरे सम्मिश्र समाजों के समुच्च से तिहरे समाज उत्पन्न होते हैं। स्पेन्सर के अनुसार साधारण समाजों में परिवार होते हैं, सम्मिश्र समाज में परिवारों से मिलकर बने कुल होते हैं। दुहरे समाजों में कुलों से मिलकर बने जनजातीय समूह होते हैं और तिहरे सम्मिश्र समाजों में जैसा कि हमारा समाज है, जनजातीय समूहों से मिलकर बने राष्ट्र और राज्य होते हैं। (टिमाशेफ, 1967)

स्पेन्सर का उद्विकास सम्बन्धी विचार

6.4.2 सैन्य से औद्योगिक समाज की तरफ

दूसरा वर्गीकरण व्यवस्था प्ररूपों की संरचना पर आधारित है जो वास्तव में विद्यमान नहीं होती किन्तु विभिन्न समाजों के विश्लेषण तथा उनके बीच तुलना करने में सहायक हो सकती है। यहाँ पर विकास के एक भिन्न प्रकार अर्थात् सैन्य से औद्योगिक समाज तक के बारे में चर्चा की जाती है। इन दोनों समाजों के मध्य अन्तर को निम्न तालिका से दर्शाया जा सकता है। यह तालिका स्पेन्सर की पुस्तक 'द प्रिसिपल आफ सोशियोलॉजी' (1925) के प्रथम खण्ड के अध्याय दस तथा द्वितीय खंड के अध्याय सत्रह और अठारह पर आधारित स्मेलसर (1968) के विवेचन से ली गयी है।

क्र०सं०	विशेषताएं	सैन्य समाज	औद्योगिक समाज
1.	प्रभावी गतिविधि	संरक्षण व विस्तार के लिए आक्रामक गतिविधि	व्यक्तिगत सेवाओं के लिए शान्तिपूर्ण व पारस्परिक योगदान
2.	सामाजिक समन्वयन का सिद्धान्त	अनिवार्य सहयोग	स्वैच्छिक सहयोग
3.	व्यक्ति व राज्य के मध्य सम्बन्ध	व्यक्ति का अस्तित्व राज्य की भलाई के लिए, स्वतंत्रता सम्पत्ति और गतिशीलता पर प्रतिबंध	राज्य का अस्तित्व व्यक्ति की भलाई के लिये, स्वतंत्रता कुछ प्रतिबन्ध सम्पत्ति व गतिशीलता पर
4.	राज्य व दूसरे संगठनों के मध्य सम्बन्ध	लगभग सारे संगठन सार्वजनिक	निजी संगठनों को प्रोत्साहन
5.	राज्य की संरचना	केन्द्रीकृत	विकेन्द्रीकृत
6.	सामाजिक स्तरीकरण की संरचना	श्रेणियों की निश्चितता एवं व्यवसाय की निश्चितता	व्यवसाय व श्रेणियों में खुलापन
7.	आर्थिक गतिविधि का प्रकार	आर्थिक स्वायत्तता व आत्म निर्भरता, संक्षिप्त विदेशी व्यापार, संरक्षणवाद	आर्थिक स्वायत्ता का कम पाया जाना, शान्तिपूर्ण व स्वतंत्र व्यापार हेतु पारित निर्भरता
8.	सामाजिक मूल्य व व्यक्तिगत विशेषताएँ	देशभक्ति आधारयुक्त भय, सत्ता में विश्वास, आज्ञाकारिता व निष्ठा अनुशासन	स्वाधीनता, दूसरों के प्रति सम्मान, दमन का प्रतिरोध, सत्यप्रियता, दयालुता।

6.5 स्पेन्सर का सामाजिक डार्विनवाद

स्पेन्सर का डार्विन के विचारों '' अस्तित्व के लिए संघर्ष'' तथा ''सर्वोत्तम की उत्तरजीविता'' का प्रयोग सामाजिक दशाओं को समझने के लिए किया। स्पेन्सर का यह मत था कि जिस प्रकार प्रकृति में प्राकृतिव चयन की प्रक्रिया चला करती है, उसी प्रकार समाज में सामाजिक चयन की भी प्रक्रिया चला करती है प्रकृति में जीवों के मध्य अस्तित्व को बनाए रखने के लिए संघर्ष होता है। और वही जीवित रह पाता है। जो सर्वोत्तम है।

स्पेन्सर ने कहा कि प्राकृतिक ताकतें यही चयन समाज में भी करती हैं। समाज में वे लोग अपाहिज है, गरीब है, या इनके जैसे अन्य लोग अस्तित्व की लड़ाई में हार चुके हैं। राज्य को इन पर ध्यान नहीं देना चाहिए। राज्य को उन पर ध्यान देना चाहिए जो इस लड़ाई में जीत कर आगे जा चुके हैं। स्पेन्सर अपने इन विचारों को आगे बढ़ाते हुए व्यक्तिवाद तथा लैसेजफेयरे (अहस्तक्षेपी नीति) के चरम तक जाता है। जहां एक तरफ काम्ट ने वैज्ञानिकों का यह दायित्व माना कि वे समाज में व्यवस्था बनायें, वहीं दूसरी तरफ स्पेन्सर इनकी केवल एक भूमिका को रेखांकित करता है। उसका मत है कि वैज्ञानिकों (समाजशास्त्रियों) को समाज में चल रहे प्राकृतिक चयन की प्रक्रिया में राज्य को हस्तक्षेप न करने के लिए समझाना चाहिए। स्पेन्सर का मत है कि प्रकृति मनुष्य से ज्यादा बुद्धिमान है। वह कहता है कि ''यदि एक बार आपने प्रकृति में हस्तक्षेप करना शुरू किया तो यह नहीं मालूम कि इसका परिणाम क्या होगा।'' (स्पेन्सर 1925)।

स्पेन्सर ने अपनी अहस्तक्षेपी नीति को अपने डार्विनवादी विचारों को आगे बढ़ाने के लिए प्रयोग किया है उसका मत है कि सबसे अच्छी सरकार वह है जो अपने नागरिकों को कम से कम नियंत्रित करे।

6.6 स्पेन्सर के विचारों का आगे के समाजशास्त्र पर प्रभाव

काम्ट और स्पेन्सर दोनों समाजशास्त्र को समाज के विज्ञान की प्रस्थिति तक पहुँचाने में सफल हुए। डार्विन से प्रभावित होकर स्पेन्सर का सर्वोपयुक्त की उत्तरजीविता की धारणा में विश्वास था। डार्विन की तरह उसका भी कहना था कि प्रकृति में कमजोर व अयोग्य को समाप्त करने की ताकत होती है। योग्यत व्यक्ति वही है जो स्वस्थ है और बुद्धिमान है। उसके लिए राज्य एक संयुक्त पूंजी कम्पनी की तरह होता है जो व्यक्तियों के परस्पर हितों का संरक्षण करता है। (टिमाशेफ, 1967)। उसके अनुसार प्रकृति मनुष्य की अपेक्षा अधिक प्रबल होती है। अतः सरकार को इस विकास की प्रक्रिया में हस्तक्षेप बंद कर देना चाहिए । उसने सरकार को शिक्षा, सफाई प्रबन्ध, बन्दरगाहों के सुधार आदि जैसी गतिविधियां करने से मना किया। इस प्रकार, उसके लिये विक्टोरिया काल की अहस्तक्षेप नीति या मुक्त बाजार का समाज (जिसमें सरकार का कोई हस्तक्षेप नहीं होता व व्यक्ति परस्पर प्रतिस्पर्धा के लिए स्वतंत्र होते हैं) सभी समाजों में सर्वोत्तम था। समाज को अतिजैविक व्यवस्था के रूप में समझने के बारे में स्पेन्सर की अवधारणा में कई समस्याएं आईं। उसने संस्कृति को एकीकृत समाज का एक हिस्सा नहीं माना। समाजो का सरल से सम्मिश्र समाज की ओर सामाजिक विकास से सम्बन्धित उसका विवेचन भी दोषपूर्ण था। हालांकि उसने वास्तविकता के लिए एक एकीकृत सिद्धान्त बनाया। उसका विकास का सिद्धान्त एक सार्वभौमिक सिद्धान्त है और इसलिये टिमाशेफ (1967) के अनुसार उसका सिद्धान्त सही अर्थ में समाजशास्त्र के बजाए दर्शनशास्त्र का सिद्धान्त है।

अपने समय में स्पेन्सर बहुत लोकप्रिय था। उस समय यदि किसी बुद्धिजीवी ने उसकी पुस्तकें नहीं पढ़ी होतीं तो यह उसके लिये लज्जास्पद माना जाता था। उसकी लोकप्रियता इग्लैण्ड, संयुक्त राज्य अमरीका

तथा रूस तक में फैल गयीं लेकिन फ्रांस तथा जर्मनी में उसे ख्याति नहीं मिली। उसके विचार इसलिए लोकप्रिय हो गये क्योंकि वे तत्कालीन स्थितियों के अनुसार थे। उदाहरणत: उसके विचार ज्ञान को एक कर देने की इच्छा तथा हस्तक्षेप के सिद्धान्त की वैज्ञानिक ढंग से व्याख्या करने में समर्थ थे। अहस्तक्षेप के सिद्धान्त को एडम स्मिथ तथा रिकार्डो जैसे अर्थशास्त्रियों ने लोकप्रिय बनाया था। इस सिद्धान्त से मुक्त बाजार की स्थिति को समर्थन मिला, जिसमें कीमतों का निर्धारण मांग और पूर्ति की शक्तियों के आधार पर होता था। इस तरह के बाजार में पूर्ण प्रतिस्पर्धा संभव हो सकती थी। यह सिद्धान्त 18वीं, 19वीं शताब्दी के दौरान लोकप्रिय हुआ क्योंकि अर्थशास्त्री तथा सामाजिक चिन्तक यह मानते थे कि राष्ट्र की संपदा बढ़ाने का यही सर्वोत्तम ढंग था।

स्पेन्सर का उद्विकास सम्बन्धी विचार

समाजशास्त्रियों के चिंतन पर संरचनावादी-प्रकार्यवादी सिद्धान्त का प्रभुत्व स्थापित होने से काफी पहले स्पेंसर ने प्रकार्यवादी दृष्टिकोण का परिचय दे दिया था। उन्होंने स्पष्ट लहजे में कहा कि ''किसी संरचना या ढांचे के प्रकार्य की सही समझ के बगैर संरचना की सही समझ संभव नहीं है।'' आगे उन्होंने यह भी कहा कि ''किसी संगठन की उत्पत्ति तथा विकास को समझने के लिए शुरू में और बाद में भी सहायक कारकों को समझना'' आवश्यक है। उनका दृढ़ विश्वास था कि सामाजिक संस्थानों की उत्पत्ति कर्ताओं के सजग इरादों व अभिप्रेरणों में नहीं बल्कि सामाजिक ढांचों तथा प्रकार्यों की आवश्यकताओं में निहित है। उनके अनुसार सामाजिक संस्था के विश्लेषण में सामाजिक उद्विकास तथा सामाजिक प्रकार्य दोनों का अनिवार्य तौर पर ध्यान रखा जाना चाहिए। उन्होंने यह हमेशा जोर देकर कहा कि ढांचे में कोई भी परिवर्तन प्रकार्य में परिवर्तन के बगैर संभव नहीं है और आकार तथा संरचना में सामाजिक विभेदीकरण सामाजिक क्रियाकलापों के अनुक्रमिक विभेदीकरण को जन्म देता है।

कोंत के विपरीत जो समाजशास्त्र के प्रति अपने नजरिये में 'सामाजिक' थे; स्पेन्सर का नजरिया नितांत व्यक्तिवादी था। जहाँ कोंत ने समाज के सामने व्यक्ति को गौण माना, स्पेन्सर ने समाज को व्यक्तिगत लक्ष्यों व प्रयोजनों की सिद्धि के एक माध्यम के रूप में देखा। उनका विश्वास था कि व्यक्ति किसी समाज के विभिन्न घटक अंशों में सबसे महत्वपूर्ण है। उन्होंने कहा कि सामाजिक जीवन का स्तर बहुत हद तक समाज का निर्माण करने वाले व्यक्तियों के स्तर पर निर्भर करता है। उन्होंने बल देकर यह कहा है कि ''व्यक्ति सर्वोपरि है और समाज को उसके क्रियाकलापों में कोई दखलंदाजी नहीं करनी चाहिए क्योंकि अपने व्यक्तिगत हित के लिए काम करने वाले लोग स्वाभाविक रूप से समाज के हित में कार्य करते हैं।''

समाजशास्त्र को स्पेन्सर के योगदान का मूल्यांकन करते हुए हम यह देख सकते हैं कि उनके सिद्धान्त की अनेक खामियाँ चरम व्यक्तिवाद से उनके गहरे लगाव और पूरी तरह जैव उद्विकास के परिप्रेक्ष्य में सामाजिक उद्विकास का विश्लेषण करने की उनकी प्रवृत्ति से उपजी हैं। जैव उद्विकास के सादृश्य को इस हद तक खींचा गया है कि विकास के विभिन्न चरणों की दृष्टि से सामाजिक उद्विकास इसका पर्याय हो जाता है। स्पष्टत: यह सब कुछ यथार्थ से पूरी तरह दूर है।

अपनी स्पष्ट त्रुटियों के बावजूद स्पेन्सर ने कुछ निश्चित क्षेत्रों में समाजशास्त्र के विकास में महत्वपूर्ण योगदान किया। उदाहरणत: स्पेन्सर ने इस तथ्य की ओर ध्यान दिलाया कि सामाजिक संस्थाएं समाज में कुछ निश्चित प्रकार्यों के निष्पादन को जरूरत को ध्यान में रखकर विकसित हुई। पुन: उन्होंने सही समझबूझ का परिचय देते हुए सामाजिक परिवर्तन में विभिन्न व्यक्तियों के योगदान पर जोर नहीं डाला और इस दृष्टि से सामाजिक, आर्थिक दशाओं के महत्व पर ज्यादा बल दिया। तृतीयत: उन्होंने बड़े तर्कपूर्ण ढंग से वैज्ञानिक तरीके से समाज के अध्ययन को वकालत की। कोंत की ही तरह वे अवलोकन, प्रयोग, तुलना और ऐतिहासिक विश्लेषण के महत्व से अवगत थे। जब कोई अनुसंधानकर्ता स्वयं किसी

अनुसंधान अथवा अन्वेषण का एक हिस्सा हो जाता था तो उसे वस्तुपरक होने की जिस समस्या का सामना करना पड़ता था उससे वे परिचित थे। अत: उन्होंने समाज वैज्ञानिकों से इस समस्या के प्रति जागरूक होने का और स्वयं को पूर्वाग्रहों तथा भावावेशों से मुक्त रखने का ठोस प्रयास करने का अनुरोध किया। इस तरह उन्होंने बड़े संतुलित ढंग से समाजविज्ञान के क्षेत्र में अनुसंधान कार्य के प्राचलों (पेरामीटर्स) की नींव डाली और समाजशास्त्र के संस्थापको में अपना स्थान बना लिया।

6.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें

(i) टीमाशेफ, निकोलस; एस, (1967) सोशियोलाजिकल थियरी, इट्स नेचर एण्ड ग्रोथ, रेन्डम हाउस, न्यूयार्क।

(ii) इंकल्स, ए, (1975) व्हाट इज सोशियोलाजी, प्रेटिंस हाल नयी दिल्ली।

(iii) स्मेल्सर, नील, जे., (1968), एशेज इन सोशियोलाडिकल एक्सप्लानेशन, एंगलवुडक्लिफ, प्रेटिंसहाल, न्यूयार्क।

6.8 सारांश

इस इकाई में स्पेन्सर के सावयवी सादृश्यता सम्बन्धी विचारों को स्पष्ट किया गया है। इसी इकाई में स्पेन्सर के समाजशास्त्र सम्बन्धित विचारों को स्पष्ट किया गया हैं। इसमें आपने यह जाना कि स्पेन्सर अपने समकालीन काम्ट के विचारों से कहाँ पर मेल खाता है और कहां पर अलग हो जाता है। इस इकाई में स्पेन्सर के उद्‌विकास के सिद्धान्त पर प्रकाश डाला गया है। इसके साथ ही सैन्य व औद्योगिक समाजों में अन्तर पर भी विस्तार से प्रकाश डाला गया है। स्पेन्सर के विचारों ने समाजशास्त्र को कैसे प्रभावित किया, इसकी भी चर्चा इसी इकाई में प्रस्तुत की गयी है।

6.9 बोध प्रश्न

प्र०-1 स्पेन्सर के उद्‌विकास के सिद्धान्त पर डार्विन का प्रभाव नहीं पड़ा। यह कथन—

(a) सही है। (b) गलत है। (c) आंशिक सत्य है। (d) इसमें से कोई नहीं।

प्र०-2 यह कथन किसका है कि विकास की प्रक्रिया में पदार्थ अनिश्चित, असम्बद्ध समानता से निश्चित, सम्बद्ध, असमानता की तरफ परिवर्तित होता है।

(a) टीमाशेफ (b) स्मेल्सर (c) ईकल्प (d) सेपन्सर

प्र०-3 स्पेन्सर के प्रत्यक्षवाद सम्बन्धी विचारों की चर्चा करें (कृपया 50 शब्दों में उत्तर दें)

प्र०-4 स्पेन्सर के उद्‌विकास सम्बन्धी विचारों की विस्तार से चर्चा करें ?

प्र०-5 स्पेन्सर के सावयवी सादृश्यता सम्बन्धी विचारों की विस्तार से चर्चा करें ?

6.10 वस्तुनिष्ठ बोध प्रश्नों के उत्तर

उ० (1) (b) (2) (d)

6.11 संदर्भ सूची

यहाँ उन पुस्तकों की सूची दी गयी है जिनका संदर्भ इस खण्ड के विवेचन में लिया गया है। इन पुस्तकों में स्पेन्सर की अपनी मौलिक पुस्तकें तथा स्पेन्सर पर लिखी गयी अन्य विद्वानों की सूची सम्मिलित है।

स्पेन्सर द्वारा रचित पुस्तकें

(i) (1850) 1954 सोशल स्टेटिक्स : द कन्डीशन इसेनशियल टू ह्यूमन हैपीनेश स्पेशीफाइड, एण्ड द फर्स्ट आफ देम डेवलेप्ड, लंदन, रुपटलेज।

(ii) (1862) 1958, फर्स्ट प्रिंसिपुल्स, एन वाई, : डेविड रिवाल्विंग फंड।

(iii) (1873) 1961, द स्टडी आफ सोशियोलाजी, एन आरबर : यूनिवर्सिटी आफ निशीगन प्रेस।

(iv) 18.13.1934 डिस्क्रप्टिव सोशियोलाजी : आर ग्रुप आफ सोशियोलाजिकल फैक्ट्स, क्लासीफाइड एण्ड एरान्जड वाई हरबर्ट स्पेन्सर- I, वाल्यूम, लंदन, विलियम्स एण्ड नारगेट।

(v) (1974 – 1896) 1925-1929 द प्रिंसिपुल्स आफ सोशियोलाजी, 3 वाल्यूम एन वाई. एपीलेटन।

(vii) द वर्क्स आफ हरबर्ट स्पेन्सर, 21 वाल्यूमस, उस्नाबुक (जर्मनी) जेलर, 1966, 1967.

अन्य विद्वानों द्वारा स्पेन्सर पर किये गये कार्य

(i) डंकन, डेविड 1908, द लाइफ एण्ड लेटर्स आफ हरबर्ट स्पेन्सर, लंदन, मेथ्यूहेन।

(ii) इलियट, हग 1917 हरबर्ट स्पेन्सर लंदन, कान्सटेबिल।

(iii) इन्सर, आर. सी. के. 1946, सन रिफ्लेक्शन्स आन हरबर्ट स्पेन्सर्स डाक्ट्राइन दैट प्रोग्रेस इज डिफरेन्सियेशन, आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस।

(iv) हडसन, विलियन यच (1894), 1904 एन इंट्रोडक्शन टू द फिलोशोफी आफ हरबर्ट स्पेन्सर इन. वाई. एप्लीटन।

(v) मैक्फरशन, हेक्टर 1900 स्पेन्सर : एण्ड स्पेन्सरिज्म एन. वाई. डवलडे

(vi) रायस, जोसेम, 1904 हरबर्ट स्पेन्सर, एन इस्टीमेट एण्ड रिव्यून, एन.वाई. फाक्स, डयूफील्ड।

(vi) रमने जे, 1934 (1966) हरबर्ट स्पेन्सर्स सोशियोलोजिकल : ए स्टडी इन द हिस्ट्री आफ सोशल थियरी : एन. वाई. एर्थेटनं।

(vii) स्मेल्सर, नील जे (1968), एशेज इन सोशियोलोजिकल एक्सप्लानेशन, एंगलबुडक्लिफ प्रेंटिस हाल, न्यूजर्सी।

(ix) बांटागोर, टी. वी. 1962, सोशियोलाजी : ए गाइड यू प्राब्लम्स एंड लिटरेचर, जार्ज एलन एंड अन्विन लंदन।

(x) कोजर, एल. ए. 1971, मास्टर्स आफ सोशियोलाजिकल थाट, आइडियाज इन हिस्टोरिकल एंड सोशल कांन्टेन्ट अंडर द जनरल एडीटरशिफ ऑफ राबर्ट के मर्टन द्वितीय संस्करण, हरकोर्ट ब्रेस जनांनविच, न्यूयार्क।

(xi) इंकल्स, ए. 1975 वांट इज सोशियोलाजी ? पेटिंस हाल : नई दिल्ली।

(xii) टिमाशेफ, निकोलस, एस 1967, सोशियोलाजिकल थ्यूरी : इट्स नेचर एण्ड ग्रोथ, तृतीय संस्करण, रैनडॅम हाउस, न्यूयार्क।

इकाई –7 पारेटो की तार्किक और अतार्किक क्रियाओं की अवधारणा

इकाई की रूपरेखा

7.0 उद्देश्य

7.1 प्रस्तावना

7.2 समाजशास्त्र की परिभाषा व अध्ययन पद्धति

 7.2.1 समाजशास्त्र की परिभाषा

 7.2.2 समाजशास्त्र की अध्ययन पद्धति

7.3 तार्किक क्रियाएं

 7.3.1 तार्किक क्रियाओं का अर्थ व लक्षण

 7.3.2 तार्किक क्रियाओं के वस्तुनिष्ठ व व्यक्तिनिष्ठ मानक

7.4 अतार्किक क्रियाएं

7.5 सारांश

7.6 कुछ उपयोगी पुस्तकें

7.7 बोध प्रश्न

7.8 प्रश्नों के उत्तर

7.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप:

- पारेटो की तार्किक क्रियाओं की अवधारणा का वर्णन कर सकेंगे।
- पारेटो की तार्किक क्रियाओं की अवधारणा को स्पष्ट कर सकेंगे ।

7.1 प्रस्तावना

इस इकाई में पारेटो के समाजशास्त्र की प्रकृति से सम्बंधित विचारों को प्रस्तुत किया गया है। इसी इकाई में पारेटो के तार्किक और अतार्किक क्रियाओं के अर्थ को बखूबी स्पष्ट किया गया है। इसी इकाई में आपको तार्किक क्रियाओं के वस्तुनिष्ठ व व्यक्तिनिष्ठ मानकों की भी झलक मिलेगी।

7.2 समाजशास्त्र की परिभाषा व अध्ययन पद्धति

7.2.1 परिभाषा

पारेटो का मत है कि समाजशास्त्र मुख्यत: अतार्किक क्रियाओं का अध्ययन करता है। इस परिभाषा में यह तथ्य निहित है कि समाजशास्त्र तार्किक क्रियाओं का भी अध्ययन करता है। ऐसा इसलिए है क्योंकि जो क्रियायें तार्किक नहीं होती, वे अतार्किक होती है।

7.2.2 समाजशास्त्र की अध्ययन पद्धति

पारेटो की तार्किक और अतार्किक क्रियाओं की अवधारणा

पारेटो वैज्ञानिक समाजशास्त्र का निर्माण करना चाहते थे जिसकी अध्ययन पद्धति भी वैज्ञानिक होगी। उनकी अध्ययन पद्धति को तार्किक - प्रयोगात्मक पद्धति कहा गया जिसके तीन प्रमुख तत्व हैं—

निरीक्षण, तथ्ययुक्त या वैषयिक अनुभव तथा इनके आधार पर निकाले गये तर्कयुक्त निष्कर्ष। परीक्षणात्मक पद्धति से उनका वास्तविक अभिप्राय उस पद्धति से था जिसे आत्मानुभव द्वारा देखा जा सके। यह पद्धति पूरी तरह पर्यवेक्षण पर आधारित हो अर्थात् इसमें वास्तविक जीवन में विद्यमान तथा तर्कसंगत अनुमान पर आधारित समाज की वास्तविकता का अध्ययन किया जाये। तर्कसंगत अनुमान का मतलब यह था कि बहुत-सी सामाजिक घटनाओं को अध्ययन करने के बाद तर्क के आधार पर व्यवस्थित ढंग से कोई निष्कर्ष निकाला जाये।

गणित और भौतिकशास्त्र का विद्यार्थी होने एवं इंजीनियर होने के कारण इन सभी का पारेटो के चिन्तन पर प्रभाव पड़ा और उन्होंने अपने सिद्धान्तों में गणनात्मक पद्धति का प्रयोग किया। उन्होंने समाजशास्त्र को विज्ञान बनाने के लिए गणित के प्रयोग को आवश्यक माना । वे गणित को विज्ञान की भाषा मानते थे। पारेटो से पूर्व के वैज्ञानिकों ने इस बात पर जोर दिया था कि समाजशास्त्र को विज्ञान बनाने के लिए उसे भौतिक्र विज्ञानों की पद्धति को अपनाना चाहिए किन्तु पारेटो ने इस विचार का विरोध किया। उन्होंने कोंत एवं स्पेन्सर का भी इसी आधार पर विरोध किया था। पारेटो का मत था कि समाजशास्त्र एक स्वतंत्र विज्ञान है अत: इसके सिद्धान्तों का निर्माण भी अपने विषय क्षेत्र में तथ्यों के अवलोकन एवं परीक्षण के आधार ही होना चाहिए। उन्होंने दूसरे विज्ञानों की पद्धतियों को सामाजिक विज्ञानों पर लागू करने का विरोध किया और कहा कि प्रत्येक विज्ञान की अपनी ही अध्ययन पद्धति होनी चाहिए । (अब्राहम,मार्गन 1985)

एक वैज्ञानिक समाजशास्त्री अनुभवों के आधार पर सामाजिक घटनाओं का अध्ययन करता है, उन्हें निरीक्षण और प्रयोग की कसौटी पर परखता है तथा इस प्रकार अध्ययन से प्राप्त समान तथ्यों को खोजता है, उनके आधार पर नियमों का निर्माण करता है। जिन तथ्यों एवं घटनाओं का अध्ययन अवलोकन एवं परीक्षण के आधार पर नहीं किया जा सकता उन्हें समाजशास्त्र के क्षेत्र से बाहर ही रखा जाना चाहिए। यह हो सकता है कि इस पद्धति के द्वारा प्राप्त परिणाम सामान्य प्रचलित धारणाओं के विपरीत हों किन्तु यही एक मात्र पद्धति है जिसके द्वारा सत्य तक पहुँचा जा सकता है। पारेटो के अनुसार विज्ञान का उद्देश्य सत्य तक पहुँचना है।

पारेटो की तार्किक प्रयोगात्मक पद्धति प्राकृतिक विज्ञानों की पद्धति के अनुरूप ही है जो जटिल घटनाओं को सरल घटनाओं के रूप में प्रस्तुत करती है। जटिल को सरल बनाना ही विज्ञान की कसौटी है। वैज्ञानिक सत्य तक पहुँचने के लिए हमें धार्मिक, नैतिक, मानवीय और राष्ट्रीय भावना से ऊपर उठकर केवल वैज्ञानिक आधार पर ही अनुसन्धान करना होगा। समाजशास्त्र में अनुमान, कल्पना, दर्शन और अन्धविश्वासों का कोई स्थान नहीं होगा।

पारेटो ने सामाजिक घटनाओं के अध्ययन में एकतरफा कारणों पर जोर न देकर विभिन्न घटनाओं की पारस्परिक निर्भरता पर जोर दिया। पारेटो कहता है चूँकि वास्तविक सामाजिक तथ्य स्थिर नहीं होते, परिवर्तनशील एवं सापेक्ष होते हैं, अत: समाजशास्त्रीय नियम भी परिवर्तनशील एवं सापेक्ष होंगे। अत: कोई भी पूर्ण सत्य नहीं है। पूर्ण सत्य को स्वीकार करने का अर्थ है सामाजिक घटनाओं एवं तथ्यों की गतिशीलता और परिवर्तन को अस्वीकार करना। अत: समाजशास्त्र के कोई भी निष्कर्ष अन्तिम नहीं होते। समयानुसार एवं नये तथ्यों की खोज से उनमें परिवर्तन होते रहते हैं, उनमें संशोधन सम्भव है।

अपने शोध निबंध में पारेटो ने यह बात स्पष्ट कर दी थी कि वह सामाजिक विज्ञानों के अध्ययन में उन्हीं पद्धतियों का अनुप्रयोग करके सामाजिक वास्तविकता का अध्ययन करना चाहता है जिनका उपयोग भौतिकी, रसायन, खगोल, विज्ञान जैसे प्राकृतिक विज्ञानों के लिए किया गया है। पैरेटो को प्राकृतिक विज्ञानों के सिद्धान्तों के आधार पर यह विश्वास था कि समाज की व्यवस्था एक संतुलन की व्यवस्था है। इस व्यवस्था के किसी भी हिस्से में गड़बड़ी होने पर सामंजस्य के लिये उसके दूसरे हिस्से में उसके अनुरूप परिवर्तन होते हैं। भौतिक पदार्थों में विद्यमान 'अणुओं' की तरह सामाजिक व्यवस्था में व्यक्तियों की रुचियाँ, प्रेरणाएं और भावनाएं होती है। उसकी दृष्टि में सामाजिक व्यवस्था एक ऐसा ढांचा है जिसमें मानव व्यवहार को निर्धारित करने के लिये समाज के परिवृत्यों के आपसी प्रभाव व बदलाव का विश्लेषण किया जा सकता है। परन्तु पारेटो की रुचि सभी प्रकार के परिवतृत्यों में नहीं थी। वह केवल ऐसे परिवृत्यों का अध्ययन करना चाहता था जो युक्तिसंगत नहीं थे। अपने अर्थशास्त्र के इससे पूर्ववर्ती अध्ययन में उसे यह बात स्पष्ट हो गयी थी कि अर्थशास्त्रियों द्वारा मानव क्रियाओं के युक्तिसंगत परिवृत्यों का अध्ययन मानव-व्यवहार के संपूर्ण क्षेत्र को अपनी परिधि में नहीं समेट सकता। उसके अनुसार कई ऐसे मानव व्यवहार भी हैं जो युक्तिसंगत और तर्कसंगत नहीं होते।

पारेटो का मत है कि समाजशास्त्र में 'क्या है' का वर्णन होगा न कि ''क्या होगा'' और 'क्या होना चाहिए' का। इसमें सभी पूर्व प्रचलित धारणाओं को अस्वीकार कर सामाजिक घटनाओं की पुष्टि तथ्यों के आधार पर की जायेगी। इसमें सामाजिक घटनाओं के पारस्परिक सम्बन्धों के अधार पर उनका अध्ययन किया जायेगा और गुणात्मक तथ्यों के स्थान पर संख्यात्मक तथ्यों के आधार पर घटनाओं का विश्लेषण किया जायेगा। इसका उद्देश्य उपदेश देना या सामाजिक नियोजन करना नहीं है।

अपने उपर्युक्त पद्धतिशास्त्रीय नियमों के आधार पर पारेटो ने अपने से पूर्व के सभी समाजशास्त्रियों जैसे काम्ट, स्पेन्सर आदि के सिद्धान्तों की कटु आलोचना की ओर कहा कि इनके सिद्धान्त रूढ़िवादी, तत्वदार्शनिक, अतार्किक, निरपेक्ष, पूर्ण एवं नैतिकता आदि विशेषताओं से ग्रस्त थे, अत: अवैज्ञानिक थे।

7.3 तार्किक क्रियाएं

7.3.1 तार्किक क्रियाओं का अर्थ व लक्षण

पारेटो ने समाजशास्त्र को परिभाषित करते हुए दो अवधारणाओं को प्रस्तावित किया है—तार्किक क्रिया, अतार्किक क्रिया, पारेटो के लिये समाज ऐसी व्यवस्था है जिसमें संतुलन रहता है। इस संतुलन का अभिप्राय है कि सभी समाजों में कुछ ऐसी ताकतें हैं जो समाज के ढाँचे को बनाए रखती हैं। यदि कुछ बाहरी ताकतें उस समाज में परिवर्तन लाने का प्रयास करती हैं तो भीतरी ताकतें उस संतुलन को बनाए रखने के लिए बाहर की ओर दबाव डालती हैं। पारेटो के अनुसार ये भीतरी ताकतें मुख्य रूप से समाज के संतुलन को बिगाड़ने वाली गड़बड़ी के विरुद्ध जोरदार प्रतिक्रिया उत्पन्न करती है।

समाज में फिर से संतुलन स्थापित करने के सिद्धान्त की वैधता इस तथ्य में है कि कोई भी समाज किसी बड़ी क्रांति या युद्ध की स्थिति से गुजरने के बाद अपने आपको फिर से व्यवस्थित कर लेता है और संतुलन स्थापित कर लेता है। (टिमाशेफ, 1967) । पारेटो की तर्कसंगत और अतर्कसंगत क्रिया समाज की भीतरी ताकतों के विश्लेषण से सम्बन्धित है। इसने दो प्रकार की क्रियाओं में भेद किया है। वे क्रियाएं तर्कसंगत हैं जिनमें किसी लक्ष्य को प्राप्त करने के लिये उसके अनुरूप साधनों का इस्तेमाल होता है और यह तर्क संगत तरीके से साधन को साध्य से जोड़ती हैं। ये क्रियाएं कर्ता व कम दोनों की दृष्टि से तर्कसंगत हैं। पार्सन्स (1949) ने तार्किक क्रिया की व्याख्या अधिक सटीक रूप में की है। उनका कहना है कि

''क्रिया तब तार्किक होती है जब वह समाज द्वारा निर्धारित मानकों को स्वीकार करती है।'' यहाँ पार्सन्स स्पष्ट रूप से साधन-साध्य की चर्चा नहीं करते हैं। लेकिन जब वह निश्चित प्रकार के मानकों को स्वीकार करने की चर्चा करते हैं तो इससे स्पष्ट है कि वे समाज स्वीकृत मानकों को महत्व देते हैं। अत: संक्षेप में कहा जा सकता है कि पारेटो के मत में तार्किक क्रिया वह क्रिया है जिसमें साधन-साध्य तार्किक आधार पर जुड़े हों यानि साधन ऐसे हों जो साध्य तक पहुँचा सकें तथा ये साधन समाज द्वारा स्वीकृत होने चाहिए।

पारेटो की तार्किक और अतार्किक क्रियाओं की अवधारणा

तार्किक क्रिया के लक्षण

(i) तार्किक क्रिया कार्य-कारण से जुड़ी होती है। कोई भी क्रिया तार्किक तभी होती है जब उसके पीछे कार्य-कारण हों। तार्किक क्रिया गणितीय रूप में होती है, न कि संवेदात्मक रूप में

(ii) तार्किक क्रिया के लिये इसके वस्तुनिष्ठ और व्यक्तिनिष्ठ मानकों में सामंजस्य होना आवश्यक है। व्यक्तिनिष्ठ मानकों का अर्थ पैरेटो के लिये कर्ता के मस्तिष्क की अवस्था से है। वस्तुनिष्ठता का अर्थ हैं जो वास्तव में दिखायी दे रहा है तथा समाज द्वारा स्वीकृति है, से है।

7.3.2 तार्किक क्रियाओं के वस्तुनिष्ठ व व्यक्तिनिष्ठ मानक

तार्किक क्रिया में पारेटो ने वस्तुनिष्ठ व व्यक्तिनष्ठ मानकों में गहन सम्बन्धों को स्पष्ट किया है। पैरेटो कहते हैं कि तर्क संगत क्रिया तभी होगी जब इसमें व्यक्तिनिष्ठता व वस्तुनिष्ठता का सामंजस्य होगा। इस सामंजस्य को रेमण्ड ऐरों (1970) निम्न तालिका से स्पष्ट करते हैं—

	प्रथम	द्वितीय	तृतीय	चतुर्थ
वस्तुनिष्ठता	नहीं	नहीं	हाँ	हाँ
व्यक्तिनिष्ठता	नहीं	हाँ	नहीं	हाँ

इस तालिका में प्रयुक्त चारों कोटियों को इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है। प्रथम कोटि तार्किक क्रिया को चित्रित नहीं करती क्योंकि व्यक्ति सोचना भी है और विवेकपूर्ण भी है। जबकि यहाँ दोनों दशाएं नहीं-नहीं की हैं। द्वितीय कोटि में व्यक्ति के कार्य वस्तुनिष्ठ नहीं है जबकि उन कार्यों के प्रति व्यक्ति की अपनी निष्ठा हाँ के रूप में है। अर्थात व्यक्ति लक्ष्य को प्राप्त करना चाहता है किन्तु समाज उसके द्वारा अपनाये गये साधनों को वैध नहीं मानता। यह भी तर्कसंगत क्रिया नहीं है। तीसरी कोटि में वस्तुनिष्ठता तो साध्य प्राप्त करने की स्वीकृति देती है। किन्तु व्यक्ति अपने द्वारा लगाये गये अर्थों से प्रेरित होकर साध्यों को नहीं अपनाता। यह भी तर्कसंगत क्रिया नहीं है। इस तालिका की चौथी कोटि वह है जिसमें दोनों में हाँ-हाँ है। यानि यहाँ इन दोनों में सामंजस्य है। यह क्रिया तर्कसंगत क्रिया है।

7.4 अतार्किक क्रियाएं

पारेटो का अतार्किक क्रिया से तात्पर्य उन सभी क्रियाओं से है जो तार्किक नहीं हैं। दूसरे शब्दों में जो तार्किक नहीं है वह अतार्किक है। इस दृष्टि से अतार्किक क्रिया एक अवशिष्ट श्रेणी है। कोजर (1971) इसको परिभाषित करते हुए कहते हैं कि ''अतार्किक क्रिया केवल वह है जो पैरेटो की परिभाषा में तार्किक नहीं है। संपूर्ण क्रिया में तार्किक क्रिया निकाल दीजिये। जो अवशिष्ट हैं वह अतार्किक क्रिया है।'' इन्हीं अर्थों में पार्सन्स (1949) ने भी कोजर की अतार्किक क्रियाओं को भी परिभाषित किया है।

पारेटो की परिभाषा में समाजशास्त्र एक ऐसा सामाजिक विज्ञान है जो मनुष्य की तार्किक क्रियाओं का अध्ययन करता है। पार्सन्स (1949) ने पैरेटो के अतार्किक क्रिया के सिद्धान्त की व्याख्या की है। उनकी व्याख्या में तीन तथ्य हैं—

(i) कर्ता के मस्तिष्क की अवस्था,

(ii) गतिविधियां

(iii) मनोभावों की अभिव्यक्ति।

इसे एक चित्र द्वारा प्रस्तुत किया जा सकता है—

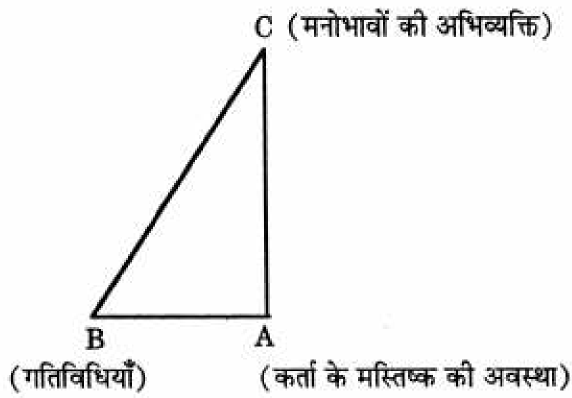

अर्थात अतार्किक क्रिया = [मानसिक अवस्था + क्रियाकलाप + मनोभावों की अभिव्यक्ति]

त्रिभुज के ये तीनों कोण एक दूसरे पर निर्भर हैं और अतार्किक क्रिया के सिद्धान्त को बनाते हैं।

पैरेटो ने समाजशास्त्र को मनोविज्ञान से जोड़ा है। अतार्किक क्रिया मानसिक अवस्था से भी जुड़ी है। मनोभावों का सम्बन्ध क्रिया कलापों से है। ये सभी तत्व अतार्किक क्रिया को बनाते हैं। इन तत्वों के मुख्यतः दो प्रकार हैं—

(i) अवशिष्ट

(ii) भ्रांत तर्क।

7.5 सारांश

इस इकाई में आपने पारेटो की तार्किक क्रियाओं की अवधारणा को विस्तार से जाना। आपकी सहायता के लिए रेमण्ड ऐरों द्वारा प्रस्तुत तालिका की भी चर्चा की गयी। आपने अतार्किक क्रिया के भी अर्थ को समझा। आपको इस इकाई के शुरू में ही समाजशास्त्र की परिभाषा व उसकी अध्ययन पद्धति से परिचित करा दिया गया था।

7.6 कुछ उपयोगी पुस्तकें

(i) पार्सन्स, टी. (1949) द स्ट्रक्चर आफ सोशल एक्शन, ग्लेन्को एलियोनिश।

(ii) ऐरों, रेमण्ड (1970), मेन करेन्टस् इन सोशियोलाजिकल थॉट, भाग-2 पेग्विं, लंदन।

(iii) कोजर, एल. एल. (1971) मास्टर्स आफ सोशियोलाडिकल थॉटः आइजियाज इन हिस्टोरिकल एंण्ड सोशल कांन्टेंट अंडर द जनरल एडीटरशिप ऑफ राबर्ट-के-मर्टन द्वितीय संस्करण, हरकोर्ट ब्रेस, जेनांनविच, न्यूयार्क।

7.7 बोध प्रश्न

प्र०-1 पारेटो के विचारों ने मुसोलिनी को आकर्षित किया। यह कथन —

(a) सही है (b) गलत है (c) आंशिक सत्य है (d) इनमें से कोई नहीं।

प्र०-2 पारेटो ने तर्क संगत क्रिया के लिए व्यक्तिनिष्ठ व वस्तुनिष्ठ मानकों में सामंजस्य को

(a) आवश्यक माना है (b) आवश्यक नहीं माना है।

(c) एक में हाँ, एक में ना से काम चल सकता है। (d) दोनों में नहीं-नहीं होना चाहिये।

7.8 प्रश्नों के उत्तर

उ०-1 (a)

उ०-2 (a)

प्र०-3 पारेटो की तार्किक क्रियाओं की अवधारणा को स्पष्ट करें (कृपया 200 शब्दों में उत्तर दीजिये)।

इकाई 8 पारेटो की अवशिष्ट एवं भ्रांत तर्क की अवधारणा

इकाई की रूपरेखा

8.0 उद्देश्य

8.1 प्रस्तावना

8.2 अवशिष्ट

8.2.1 अर्थ

8.2.2 महत्व

8.2.3 अवशिष्ट के वर्ग

8.3 भ्रांत तर्क

8.3.1 भ्रांत तर्क का अर्थ

8.3.2 भ्रांत तर्क के वर्ग

8.4 समाज के संतुलन की अवधारणा

8.5 सारांश

8.6 कुछ उपयोगी पुस्तकें

8.7 बोध प्रश्न

8.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

8.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप :

- पारेटो के अवशिष्टों की अवधारणा का वर्णन कर सकेंगे।
- पारेटो के भ्रांत तर्कों का विश्लेषण कर सकेंगे।
- पारेटो की समाज के सन्तुलन की अवधारणा की विवेचना कर सकेंगे।

8.1 प्रस्तावना

पारेटो की अतर्कसंगत क्रियाएं, उसके अवशिष्ट व भ्रांत तर्कों से सम्बंन्धित हैं। ये दोनों मुख्यत: भावनाओं की अभिव्यक्तियां हैं। प्रस्तुत इकाई में आपको इन्हीं से परिचित कराने का प्रयास किया जायेगा।

8.2 अवशिष्ट

8.2.1 अवशिष्ट का अर्थ

पारेटो के मत में मनुष्य की संपूर्ण क्रियाओं में केवल तार्किक क्रियाएं ही शामिल नहीं है। तार्किक क्रियाओं को निकालने के बाद जो बचता है, वह अवशिष्ट है। ये अवशिष्ट अतार्किक क्रिया को स्पष्ट करन में मदद करते हैं।

8.2.2 महत्व

अवशिष्ट अपेक्षाकृत अधिक स्थिर होते हैं। अवशिष्ट क्रियाएं मनुष्य के मनोभाव व संवेग को अभिव्यक्ति देती हैं। अवशिष्ट समाज के साम्यानुकूलन को बनाये रखते हैं। अवशिष्ट समाज के लोगों के व्यवहार को नियंत्रित करते हैं। वे केवल इन व्यवहारों को नियंत्रित ही नहीं करते, निर्धारित भी करते हैं।

8.2.3 अवशिष्ट के वर्ग

पारेटो ने सभी प्रकार के अवशेषों को निम्न छह प्रमुख भागों में बांटा है।

(i) **संयोजन/सम्मिलन के अवशेष**—इसके अन्तर्गत परस्पर समान या विरोधी तत्वों को मिलाने वाले अवशेष आते हैं व इनमें समानता का नियम कार्य करता है जिसमें सभी वस्तुओं को समानता के आधार पर मिलाया जाता है। इस प्रकार के संयोजन का कोई तार्किक आधार नहीं होता है। उदाहरण के लिए मुण्डा व हो जनजातियां धुंआ करने और पहाड़ से पत्थर गिराने जैसी क्रियाओं पर यह मानती हैं कि इससे वर्षा होगी।

(ii) **समूहों के स्थायित्व के अवशेष**—ये वे प्रेरणाएं है जो विभिन्न व्यक्तियों के पारस्परिक सम्बन्धों को जोड़ती हैं। ये अवशेष स्थिर होते हैं तथा इनका पीढ़ी दर पीढ़ी हस्तान्तरण होता है। लोगों के मन में इनके प्रति सम्मान होता है। इन्हीं अवशेषों के आधार पर हम अपने परिवार, देश, जाति, प्रजाति के सदस्यों के साथ अपने सम्बन्ध बनाए रखते हैं। अपने मृत पूर्वजों की समाधि पर पुष्प चढ़ाते हैं, महापुरुषों की जयन्तियाँ मनाते हैं, उनके जन्म स्थानों के दर्शन हेतु जाते हैं। इन अवशेषों का समूह की स्थिरता, संगठन और स्थायित्व बनाए रखने में महत्वपूर्ण स्थान होता है।

(iii) **बाह्य क्रियाओं द्वारा संवेगों की अभिव्यक्ति के संवेग**—इस प्रकार के अवशेष हमारी भावनाओं व संवेगों को बाह्य क्रियाओं द्वारा अभिव्यक्त करने के लिए प्रेरित करते हैं। उदाहरणार्थ—हम अपनी धार्मिक भावनाओं की अभिव्यक्ति पूजा के रूप में करते हैं।

(iv) **सामाजिक के अवशेष**—इस प्रकार के अवशेष समाज में साथ-साथ रहने, समाज में शांति व व्यवस्था बनाये रखने के लिये प्रेरित करते हैं। ये उस प्रकार के अवशेष हैं, जिनकी वजह से "अरस्तु" के शब्दों में मनुष्य सामाजिक प्राणी बनाता है। इनमें रीति-रिवाज और परम्परायें शामिल होती हैं। यही कारण है कि एक व्यक्ति जिस सामाजिक समूह का सदस्य होता है उसके रीति रिवाज व परम्पराओं का पालन करता है। इन अवशेषों की अभिव्यक्ति दया, क्रूरता, त्याग, परोपकार, श्रेष्ठता एवं हीनता आदि की भावनाओं के रूप में होती हैं। ये अवशेष समाज और समूह में एकरूपता लाने के लिए प्रेरित करते हैं।

(v) **व्यक्तित्व एकता के अवशेष**—ये वे अवशिष्ट या चालक हैं जो व्यक्तित्व की रक्षा करने तथा व्यक्तित्व सम्बन्धी विभिन्न लक्षणों को एकीकृत करने के लिये प्रेरित करते हैं। ये चालक ही व्यक्तित्व के बिखरे तत्वों को समेटकर उसे आगे बढ़ाने की प्रेरणा देते हैं। इन चालकों का स्वरूप हमें उस समय देखने को मिलता है जब कोई व्यक्ति सामाजिक सन्तुलन को नष्ट करने का प्रयत्न करता है। ये हमें समाज में होने वाली अनैतिकता का विरोध करने की प्रेरणा देते हैं।

(vi) **यौन भावनाओं सम्बन्धी अवशेष**—इस श्रेणी के अन्तर्गत वे अवशेष आते हैं जिसका सम्बन्ध काम-वासना से होता है। ये अवशिष्ट कभी भाषा और कभी संकेत तथा कभी क्रियाओं

के रूप में सामने दिखायी देते हैं। इन्हें नियंत्रित करने के लिए समाज यौन सम्बन्धी निषेधों या टेबू को लागू करता है। जैसे अनेक समाजों में सास-दामाद, श्वसुर-बहू इत्यादि सम्बन्धों के मध्य दूरी बनायी जाती है। श्रीलंका के समुदाय ''वेड्डा'' में तो भाई और बहन एक छत के नीचे नहीं रह सकते हैं।

पारेटो का मत है कि उपर्युक्त सभी अवशेष प्रत्येक समाज में पाए जाते हैं। इन्हें समझकर ही हम मानव व समाज के व्यवहार को समझ सकते हैं। ये अवशेष विभिन्न व्यक्तियों और समूहों में भिन्न-भिन्न मात्राओं में होते हैं। समाज में परिवर्तन के साथ-साथ इनमें भी परिवर्तन होता रहता है।

8.3 भ्रांत तर्क

8.3.1 अर्थ

एक सामाजिक प्राणी के रूप में मानव को अनेक प्रकार के कार्य एवं व्यवहार करने पड़त हैं। मानव का अधिकांश क्रियाएं अवशेषों द्वारा संचालित एवं नियंत्रित होती है। जिन्हें तर्कसंगत नहीं कहा जा सकता। इसका कारण यह है कि अवशेषों का आधार मूल प्रवृत्तियाँ, संवेग एवं भावनाएं होती हैं। व्यक्ति जो भी व्यवहार करता है वह उसे उचित मानता है। किन्तु कई बार अन्य व्यक्ति उसके कार्यों को उचित नहीं मानते। ऐसी स्थिति में वह अपने व्यवहार का औचित्य सिद्ध करने के लिये अपनी प्रकृति, परिस्थितियों, और आदर्शों के अनुसार अनेक प्रकार की दलीलें और युक्तियाँ देता है। वह यह सिद्ध करने का प्रयत्न करता है कि वह जो कुछ कर रहा है वह अतार्किक नहीं वरन् तार्किक है। इसी को पैरेटो भ्रान्त तर्क कहता है। ये भ्रांत तर्क इस अर्थ में भ्रांत हैं कि ये सामान्य मत के विरुद्ध होते हैं, अतार्किक होते हैं तथा अप्रयोग सिद्ध आधारों पर आधारित होते हैं, इसलिये ये हमें त्रुटिपूर्ण निष्कर्षों की ओर ले जाते हैं।

8.3.2 भ्रांत तर्क के वर्ग

पारेटो ने भ्रांत तर्कों को निम्नांकित चार वर्गों में बांटा है।

(1) **'दृढ़ कथन'**—इसी श्रेणी के अन्तर्गत वे भ्रांत तर्क आते हैं जिन्हें रूढ़ियों एवं प्रथानुकूल कथनों से स्वीकृति प्राप्त होती है। इन्हें दृढ़ एवं जोरदार शब्दों में व्यक्त किया जाता है। इसलिये लोग इन पर विश्वास कर इन्हें स्वीकार कर लेते हैं। इनके समर्थन में काल्पनिक या यथार्थ तथ्य प्रस्तुत किये जा सकते हैं किन्तु वैज्ञानिक आधार पर उन्हें जांचा नहीं जा सकता।

(2) **अधिकार अथवा सत्ता**—इसके अन्तर्गत वे भ्रांत तर्क आते हैं जिनके पीछे कोई शक्ति या सत्ता होती है। प्रतिष्ठित व्यक्ति द्वारा दिये गये भ्रांत तर्कों को भी लोग इसलिये स्वीकार कर लेते हैं कि वे अधिकारी व्यक्ति द्वारा कहे गये हैं। हम प्रथा और परंपराओं को उनकी सत्ता के कारण ही स्वीकार करते हैं।

(3) **संवेगों के साथ अनुकूलता**—इसके अन्तर्गत वे भ्रांत-तर्क आते हैं जो भावनाओं और संवेगों पर आधारित होते हैं। कई ऐसे नैतिक, धार्मिक, आध्यात्मिक और वैधानिक नियम हैं जो संवेगों पर आधारित हैं। ये भ्रान्त-तर्क अवैधानिक व काल्पनिक होते हुए भी लोगों की भावनाओं को छूते हैं, अतः लोग इन्हें तार्किक मानकर उनका पालन करते हैं।

(4) **मौखिक प्रमाण** — इस प्रकार के वर्ग में वे तर्क आते हैं जिनका औचित्य व्यक्ति मौखिक प्रमाणों के आधार पर सिद्ध करने का प्रयत्न करता है। इन मौखिक प्रमाणों में मिथ्या, तर्क, अनिश्चित, अस्पष्ट और संदेहात्मक बातें आती हैं जो वास्तविकता के अनुरूप नहीं होतीं।

पारेटो कहते हैं कि भ्रांत-तर्क सत्य नहीं होते, वैज्ञानिक नहीं होते तो इसका अर्थ यह नहीं कि वे समाजोपयोगी नहीं होते हैं। कई भ्रांत-तर्क ऐसे भी हैं जो समाज में संगठन, एकता और व्यवस्था बनाए रखने में सहायक होते हैं जबकि कोई सत्य समाज को विघटित कर देते हैं। पारेटो कहते हैं कि यह आवश्यक नहीं है कि प्रत्येक सत्य उपयोगी हो और प्रत्येक अंधविश्वास हानिकारक हो।

8.4 समाज के सन्तुलन की अवधारणा

पारेटो ने समाज को संतुलन की व्यवस्था के रूप में देखा। पारेटो की इस अवधारणा को उनके द्वारा समाजशास्त्र को महत्वपूर्ण योगदान के रूप में देखा जाता है। पारेटो का व्यवस्था विश्लेषण उनके इंजीनियरिंग के अध्ययन से उत्पन्न हुआ। संतुलन को सामान्य अवस्था के रूप में देखा जाता है जो यदि अस्थायी व्यवधानों की वजह से बिगड़ता है तो समाज स्वत: संतुलन को बना लेता है। पारेटो के मत में समाज एक संतुलित व्यवस्था के रूप में ऐसे व्यक्तियों से निर्मित होता है जिनके सामने ऐसी बहुत सी ताकतें होती हैं जो सामाजिक व्यवस्था को निर्धारित करती हैं। पारेटो ने ऐसी ताकतों में से दो ताकतों भावनाओं व अवशिष्टों को बहुत विस्तार से विश्लेषित किया है।

8.5 सारांश

इस इकाई में पारेटो के अवशेषों की अवधारणा को समझाया गया है। वस्तुत: पारेटो ने अपने अवशेषों के समस्त छह वर्गों में प्रथम तीन को ''संयोजन के विशिष्ट चालक'' तथा आखिरी के तीन वर्गों को' समूह के स्थायित्व के विशिष्ट चालक'', इस प्रकार इन दो प्रमुख वर्गों में विभाजित किया है। इसी इकाई में आपने पैरेटो के भ्रांत-तर्क की अवधारणा को भी समझा है।

8.6 कुछ उपयोगी पुस्तकें

(i) टीमाशेफ, (1967) सोशियोलाजिकल थियरी : इट्स नेचर एण्ड ग्रोथ, तृतीय संस्कर, रेन्डम हाउस, न्यूयार्क।

(ii) अब्राहम व मार्गन, 1985, सोशियोलाजिकल थाट, मैकमिलन इन्डिया लिमिटेड, मद्रास

8.7 बोध प्रश्न

प्र०-1 पारेटो के अवशिष्टों के कुल प्रकार हैं—

(a) 7 (b) 5 (c) 6 (d) 4

प्र०-2 पारेटो के भ्रांत-तर्क के कुल वर्ग हैं—

(a) 3 (b) 2 (c) 5 (d) 4

प्र०-3 पारेटो के भ्रांत-तर्कों की अवधारणा तथा अवशेषों की अवधारणा का आलोचनात्मक मूल्यांकन कीजिये ?

प्र०-4 पारेटो ने समाज को सन्तुलन की व्यवस्था के रूप में देखा। इस कथन को स्पष्ट करें। अपना उत्तर 100 शब्दों में दें ।

8.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

उ०- 1(c) (2) (d)

इकाई 9 पारेटो का अभिजात वर्ग के परिभ्रमण का सिद्धान्त

इकाई की रूपरेखा

9.0 उद्देश्य

9.1 प्रस्तावना

9.2 अभिजात वर्ग का अर्थ एवं प्रकार

9.2.1 अर्थ

9.2.2 प्रकार

9.3 परिभ्रमण का सिद्धान्त

9.4 पारेटो के विचारों का बाद के समाजशास्त्र पर प्रभाव

9.5 सारांश

9.6 बोध प्रश्न

9.7 बोध प्रश्नों के उत्तर

9.8 सन्दर्भ सूची

9.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप:

- पारेटो के अभिजन के अर्थ व प्रकारों का तथा उसके परिभ्रमण के सिद्धान्त का वर्णन कर सकेंगे।
- पारेटो ने अपने बाद के समाजशास्त्र पर कैसे प्रभाव डाला, की विवेचना कर सकेंगे।

9.1 प्रस्तावना

इस इकाई में पारेटो के अभिजात वर्ग के सिद्धान्त को स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है। इसके साथ ही इसी इकाई में आपको यह भी जानकारी मिलेगी कि पारेटो के विचारों ने बाद में समाजशास्त्र को कैसे प्रभावित किया।

9.2 अभिजात वर्ग का अर्थ एवं प्रकार

9.2.1 अर्थ

टिमाशेफ (1967) ने अभिजन के अर्थ को स्पष्ट करते हुए कहा है कि अभिजन में ऐसे व्यक्ति होते हैं जिनका प्रदर्शन अपने क्षेत्र में सबसे ऊंचाई पर होता है। पैरेटो ने अभिजन को सामान्य तौर पर शासक वर्ग से सम्बन्धित किया है। सामान्य अर्थों में अभिजन से तात्पर्य किसी सामाजिक व्यवस्था में उच्च स्थान प्राप्त लोगों से हैं। उदाहरण के लिए आर्थिक अभिजनों में उद्योगपति, राजनैतिक अभिजनों में सांसद, विधायक, मंत्री और नौकरशाही अभिजनों में आई०ए०एस०, पी०सी०एस० अधिकारी इत्यादि।

9.2.2 प्रकार

पारेटो ने अभिजन को दो भागों शासक संभ्रांत और गैर शासक संभ्रात वर्ग में विभाजित किया है। शासक अभिजन वर्ग में वे लोग आते हैं जो सरकार या प्रशासन में हैं। प्रशासन के बाहर समाज के विभिन्न क्षेत्रों में दक्षता या लोकप्रियता प्राप्त विशिष्ट लोग गैर शासक संभ्रांत वर्ग में आते हैं। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि शासन संभ्रान्त वर्ग की अवधारणा पैरेटो के पहले समकालीन विद्वान मोस्का ने दी थी (सिंह, 1999)। पारेटा ने संभ्रान्त वर्ग को वैयक्तिक गुणों के आधर पर दो भागों शेर एवं लोमड़ी में विभाजित किया है और इस अवधारणा को मैकियावेली से लिया है। पैरेटो के मत में शेरों में द्वितीय श्रेणी के अवशिष्ट (समूह के स्थायित्व के अवशिष्ट) की प्रधानता होती है। ये लोग रूढ़िवादी विचारधारा के होते हैं। इनके अन्दर परिवार, जाति, कबीले एवं राष्ट्र के प्रति बहुत वफादारी की भावना होती है। ये शासन करने के लिए ताकत का सहारा लेते हैं।

लोमड़ियों के बारे में उन्होंने बताया है कि उसमें प्रथम श्रेणी के प्रेरकों (संयोजन के विशिष्ट चालक) की प्रधानता होती है। जिन लोगों में वैसे प्रेरकों की प्रधानता होती है, वे लोग योजना बनाने, जोड़ तोड़ करने में काफी निपुण होते हैं। वे लोग समाज में परिवर्तन, परीक्षण और नवीन प्रक्रिया शुरू करने का गुण रखते हैं। वैसे लोग कभी उदार एवं वफादार नहीं हो सकते हैं। वे लोग काफी घूसखोर व धोखेबाज भी होते हैं।

आर्थिक क्षेत्र में लोमड़ी और शेर संभ्रान्त वर्ग में पाये जाते हैं। उन्होंने यहाँ शेर को निश्चित आय वाला व्यक्ति माना है, क्योंकि वे लोग सम्पत्ति बढ़ाने के लिए कोई जोखिम नहीं लेना चाहते और एक निश्चित आय के आधार पर वे चैन की जिन्दगी जीना चाहते हैं। दूसरी तरफ, लोमड़ियों को सटोरिया कहा हैं। वे लोग अपने आपको बड़े-बड़े उद्योगों में लगाते हैं। अधिक से अधिक आमदनी के लिए कोई भी अनैतिक काम करने को तत्पर रहते हैं। बहुत सारे जोखिम उठाकर वे आगे बढ़ना चाहते हैं।

9.3 परिभ्रमण का सिद्धान्त

पारेटो ने अपने परिभ्रमण के सिद्धान्त का विश्लेषण शासक संभ्रान्त वर्ग और गैर शासक संभ्रान्त वर्ग के संदर्भ में दिया था (ऐरों, 1970)। इसे किनलाक (1977) ने भी स्वीकार किया है।

पारेटो ने बताया है कि शासी संभ्रान्त वर्ग में दोनों श्रेणियों के गुणों की आवश्यकता है लेकिन ऐसा लम्बे समय तक संभव नहीं हो पाता है। बहुत दिनों तक शासन में रहने से इन गुणों में कमी आ जाती है। वे उतने क्रुर एवं जुझारू नहीं रह पाते हैं। आलसीपन एवं ऐययाशी प्रवृत्ति के कारण उनके शासन की क्षमता में कमी आ जाती है। वे लोग शासी संभ्रान्त वर्ग से सरक कर गैर शासी संभ्रान्त वर्ग की श्रेणी में आ जाते हैं। उनका स्थान लेने के लिए गैर शासी अभिजन वर्ग से लोग पहुंच जाते हैं। पारेटो का मानना है कि लोगों का शासी संभ्रान्त वर्ग से गैर शासी संभ्रान्त और गैर और गैर शासी संभ्रान्त वर्ग से शासी संभ्रान्त वर्ग में जाना एक अवश्यम्भावी प्रक्रिया है। परिभ्रमण की गति और माप हर समाज में अलग-अलग समय में अलग-अलग पायी जाती हैं पर परिभ्रमण एक ऐतिहासिक यथार्थ है। इसीलिए तो पैरेटो ने अपनी पुस्तक 'माइन्ड एण्ड सोसाइटी' (1963) में कहा है कि "हिस्ट्री इज ए ग्रेवयार्ड आफ एरिस्टोक्रेट्स- (इतिहास कुलीन तन्त्रों की कब्रगाह है)।

पारेटो के अनुसार शासक संभ्रान्त वर्गों का परिभ्रमण एक अनिवार्य और निश्चित सामाजिक प्रक्रिया है, क्योंकि शासक संभ्रान्त वर्ग में कभी प्रथम श्रेणी के प्रेरक कारकों की प्रधानता होती है तो कभी द्वितीय श्रेणी के प्रेरक कारकों की। इन्हीं दो प्रेरकों की प्रधानता में बदलाव के कारण समाज में परिवर्तन चलता रहता है।

पारेटो ने बताया कि संभ्रान्त वर्ग में खुलापन होना चाहिए। शासक वर्ग में नये लोगों के आने से शासक वर्ग को नये किस्म की शक्ति मिलती है। कुछ लोगों को भले ही इस प्रक्रिया से घाटा हो, लेकिन समस्त शासक समूह के लिए सामाजिक गतिशीलता लाभकारी है। बन्द विशिष्ट शासक वर्ग को पतन का हमेशा खतरा होता है, क्योंकि समय बीतने के साथ शासक वर्ग में बहुत प्रकार की त्रुटियाँ उत्पन्न होने लगती हैं और इन त्रुटियों से उनका विनाश हो जाता है।

यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि परिभ्रमण की प्रक्रिया सहज नहीं हैं। संभ्रान्त वर्ग के लोग इसका भरपूर विरोध करते हैं। इस विरोध में गैर-संभ्रान्त वर्ग को कभी जान भी गँवानी पड़ती है, तो कभी जेल भी जाना पड़ता है और कभी-कभी गैर संभ्रान्त वर्ग के प्रमुख नेताओं को संभ्रान्त वर्ग में शरण देकर शेष लोगों को रौंद दिया जाता है। अर्थात् संभ्रान्त वर्ग के लोग विभिन्न किस्म के तरीकों को अपनाकर परिभ्रमण की प्रक्रिया को रोकना चाहते हैं। इस विरोध की स्थिति में संभ्रान्त वर्ग को जान भी गँवानी पड़ती है (सिंह, 1999)

चूंकि पारेटो संभ्रान्त वर्ग के हितों के समर्थक और गैर-संभ्रान्त वर्ग के विरोधी थे, इसलिए उन्हें बुर्जआजी का कार्ल मार्क्स कहा जाता है। अर्थात् जिस प्रकार मार्क्स सर्वहारा के कट्टर समर्थक थे, उसी प्रकार पारेटो बुर्जुआजी के समर्थक थे। वे प्रजातंत्र के विरोधी और तानाशाही के घोर समर्थक थे (सिंह 1999)

अपने चक्रीय सिद्धान्त के सिलसिले में पारेटो ने भविष्यवाणी की है कि जहाँ कहीं भी संभ्रान्त लोगों का शासन है या जहाँ कहीं भी संसदीय प्रजातंत्र हैं (अर्थात् जहाँ के नेताओं में प्रथम श्रेणी के कारकों की प्रधानता है), उसका पतन होना निश्चित है। उसकी जगह पर निम्न वर्ग के अभद्र, शक्तिशाली, एवं सामरिक अभिजात वर्ग के शासन की स्थापना होगी। वैसे नये प्रकार के संभ्रान्त वर्ग के लोगों को उन्होंने शेर अभिजन कहा है।

पारेटो के विचार की सोरोकिन ने यह कहते हुए आलोचना की है कि इनके सिद्धान्त प्राय: किसी न किसी व्यक्ति द्वारा पहले दिए जा चुके थे। उन्होंने सिर्फ उसको अपने ढंग से व्यवस्थित किया है। पारेटो का यह सिद्धान्त बहुत वैज्ञानिक नहीं लगता, क्योंकि यह सिद्धान्त अवशिष्ट की अवधारणा पर आधारित है, जो काफी अस्पष्ट है। प्रेरक की अवधारणा में काफी व्यक्तिनिष्ठता छिपी हुई है।

सोरोकिन (1978) ने उनके सिद्धान्त की आलोचना करते हुए लिखा है—पैरेटो का परिभ्रमण का सिद्धान्त अति सामान्य और पर्यात है। इसमें बहुत से सुधारों और विकास की आवश्यकता है।

9.4 पारेटो के विचारों का बाद के समाजशास्त्र पर प्रभाव

पारेटो के समाजशास्त्रीय सिद्धान्त का दीर्घकालीन महत्व है। वह उन आरंभिक समाज विज्ञानियों में से एक था जिसने सामाजिक व्यवस्था के विचार की सही परिभाषा दी है। सामाजिक व्यवस्था का विश्लेषण उसके अंगभूत भागों के बीच अंर्तसम्बन्धों और परस्पर अधीन क्षेत्रों के संदर्भ में किया जा सकता है। पैरेटो का अभिजात वर्ग और अभिजन परिभ्रमण का सिद्धान्त अभिजात वर्ग के अध्ययन में अत्यधिक महत्वपूर्ण है। आज भी यह राजनीति विज्ञानियों और समाजशास्त्रियों के लिए प्रेरणा का स्रोत बना हुआ

आज भी शासकीय और गैर शासकीय अभिजात वर्ग के उच्च स्तर के लोगों की कार्य पद्धति की जांच व जाती है। पैरेटो के विचारों का प्रभाव हैराल्ड जैसे राजनीति विज्ञानियों की रचनाओं में देखा जा सकता है अमरीका में लासवैल पैरेटो के प्रारंभिक अनुयायियों में से एक था। उसने पारेटो के अभिजात वर्ग गठन और अभिजन परिभ्रमण संबंधी सिद्धान्तों से प्रेरणा ली थी। सी० राइट, मिल्स, टी० बी० बोरोमर, सुजान कैलर, रेमों आरों आदि अन्य समाज वैज्ञानिकों की रचनाओं में पैरेटो के विचारों का प्राव लक्षित होता है

9.5 सारांश

इस इकाई में पारेटो के अभिजन वर्ग की अवधारणा, उसके प्रकार तथा उनके मध्य परिभ्रमण की विस्तार से चर्चा की गयी हैं। इसी इकाई में आपने यह जाना कि पैरटो इतिहास को कुलीनों का कब्रिस्तान मानता है। इसी इकाई में पैरटो के विचारों ने समाजशास्त्र को कैसे प्रभावित किया, इसे भी स्पष्ट किया गया है।

9.6 बोध प्रश्न

प्र०-1 पारेटो ने अभिजात वर्ग को बांटा है—

(a) 3 भागो में (b) 2 भागों में (c) 4 भागों में (d) 5 भागों में

प्र०-2 पारेटो के अभिजात वर्ग की अवधारणा को लगभग 50 शब्दों में स्पष्ट कीजिए।

प्र०-3 पारेटो के इस कथन कि '' इतिहास कुलीनों का कब्रिस्तान है'', का विवेचन कीजिए।

9.7 बोध प्रश्नों के उत्तर

उत्तर (b)

9.8 संदर्भ सूची

इस सूची में पारेटो द्वारा रचित महत्वपूर्ण कृति जो कि अंग्रेजी में अनुदित है के अलावा पारेटो के ऊपर किये गये कुछ महत्वपूर्ण कार्य शामिल हैं। इन ग्रन्थों का संदर्भ इस उपखण्ड के पूरे विवेचन में शामिल है।

(i) (1916) 1963, द माइन्ड एण्ड सोसाइटी : ए ट्रीटाइस आन जनरल सोशियालाजी, 4 वाल्यूम, एन. वाई. डोवर।

(ii) बेकर, एच और बार्नस बोटोमोर, एच० ई० 1961, शोशल थांट फ्रांस लोर टू साइंस (तृतीय संस्करण), वाल्यूम 3, डोवर पब्लिकेशन, न्यूयार्क।

(iii) कोजर : एल० ए० 1971, मास्टर्स आफ सोशियोलाजिकल, थाट : आइजियाज इन हिस्टोरिकल एंड सोशल कान्टेट अन्डर द जनरल एडीटर शिप आफ राबर्ट के० मर्टन। द्वितीय संस्करण, हरकोर्ट ब्रेस जेनांनविच : न्यूयार्क।

(iv) टिमाशेफ, निकोलस, एस 1967 सोशियोलाजिकल थियरी, इट्स नेटर एंड ग्रन्थि, तृतीय संस्करण, रेलडंम हाउस : न्यूयार्क।

(v) बार्कर, अर्नेस्ट, 1972 सामाजिक तथा राजनैतिक शास्त्र का सिद्धान्त, हरियाणा हिन्दी ग्रंथ अकादमी, चण्डीगढ़।

(vi) एरो, रेमण्ड (1970), मेन करेन्टस् इन सोशियोलाजिकल थॉट, पाल्यूम-1, पेग्विंन, लंदन,

(vii) वीरस्टीड, राबर्ट (1970), द सोशल आर्डर टाटा मैग्राहिल, नयी देलही।

(viii) किनलांच, ग्राहम सी (1977), सोशियोलाजिकल थियरी, इट्स डेवलपमेन्ट एण्ड मेजर पैराडाइम, मैग्राहिल, न्यूयार्क,

(ix) मार्टिण्डेन, डान (1960), द नेचर एण्ड टाइप आफ सोशियालाजिकल थियरी, हाटन, मिफिन, बोस्टन, अमरीका

(x) सोरोकिन, पी० ए० (1978), कन्टेम्पोरेरी सोशियोलाजिकल थ्योरीज, कल्याणी पब्लिकेशन, नयी दिल्ली।

(xi) सिंह जे० पी० (1999) सामाजिक परिवर्तन, स्वरूप एवं सिद्धान्त, प्रेंटिस हाल, नई दिल्ली।

NOTES

NOTES

खण्ड

3

कार्ल मार्क्स

इकाई 10

द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद

इकाई 11

ऐतिहासिक भौतिकवाद

इकाई 12

वर्ग और वर्ग संघर्ष

इकाई 13

सामाजिक क्रान्ति का सिद्धान्त

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

परामर्श समिति

प्रो० देवेन्द्र प्रताप सिंह — अध्यक्ष
कुलपति
उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय,
इलाहाबाद

डॉ० एच० सी० जायसवाल — कार्यक्रम संयोजक
परामर्शदाता
उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इला०

डॉ० आर० के० बसलस — सचिव
कुल सचिव
उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय,
इलाहाबाद

विशेषज्ञ समिति

प्रो० वी० के० पंत — विषय विशेषज्ञ
से०नि०आचार्य एवं विभागाध्यक्ष
कुमाऊँ विश्वविद्यालय, नैनीताल

प्रो० डी० पी० सक्सेना — विषय विशेषज्ञ
से० नि० आचार्य
गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर

प्रो० पी० एन० पाण्डेय — विषय विशेषज्ञ
आचार्य एवं पूर्व विभागाध्यक्ष
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

डा० मंजूलिका श्रीवास्तव — संरचनात्मक विषय विशेषज्ञ
स्ट्राइड, इग्नू, नई दिल्ली

पाठ्यक्रम लेखन समिति

MASY-02 : – *पाश्चात्य सामाजिक विचारधारा*

खण्ड एक : अनूप कुमार सिंह, प्रवक्ता , डी०ए०वी० कालेज, कानपुर 5 इकाई (आकारगत 3)
खण्ड दो : पवन कुमार मिश्र, प्रवक्ता, लखनऊ विश्वविद्यालय 4 इकाई (आकारगत 3)
खण्ड तीन : डॉ० अनिल कुमार मिश्र, प्रवक्ता, डी०ए०वी० कालेज, कानपुर 4 इकाई
खण्ड चार : मणीन्द्र कुमार तिवारी, प्रवक्ता, डी०ए०वी० कालेज, कानपुर 4 इकाई
खण्ड पाँच : पवन कुमार मिश्र, प्रवक्ता, लखनऊ विश्वविद्यालय 5 इकाई (आकारगत 4)
सम्पादन : प्रो० वी० के० पंत

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

सर्वाधिकार सुरक्षित, इस कार्य के किसी भी अंश की उ० प्र० राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद की लिखित अनुमति के बिना मिमियोग्राफ अथवा किसी अन्य साधन से पन: प्रस्तुति अनुमन्य नहीं है।

दूरस्थ शिक्षा परिषद, नई दिल्ली के सहयोग से प्रकाशित।

खण्ड 3 का परिचय : कार्ल मार्क्स

इस खण्ड में लब्धप्रतिष्ठ विचारक कार्ल मार्क्स के महत्वपूर्ण विचारों के बारे में बताया गया है। इसमें द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद, ऐतिहासिक भौतिकवाद, वर्ग संघर्ष और अतिरिक्त मूल्य की चर्चा की गई है।

इस खण्ड की प्रथम इकाई में द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के विषय में विशद रूप से व्याख्या की गई है। यह इकाई आपको कार्ल मार्क्स के प्रमुख सिद्धान्तों को व्यापक रुप में समझने में मददगार सिद्ध होगी। कार्ल मार्क्स की द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी विचारधारा उसके अन्य सिद्धान्तों का आधार है। इस इकाई में द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के अर्थ और उसकी विशेषता व उसके प्रयोग का वर्णन है।'

इस खण्ड की दूसरी इकाई में ऐतिहासिक भौतिकवाद का विवरण है। इसमें यह बताया गया है कि इतिहास में परिवर्तन कुछ वैज्ञानिक नियमों के अनुसार होते हैं। इस इकाई में इतिहास की विभिन्न अवस्थाओं व उसमें निर्मित वर्गों को बताया गया है।

इस खण्ड की तीसरी इकाई में वर्ग एवं वर्ग संघर्ष के बारे में बताया गया है। इसमें वर्गों का निर्माण व वर्ग संघर्ष की दशाओं का वर्णन किया गया है। वर्तमान में मार्क्स की यह विचारधारा वैचारिक जगत में चर्चा का महत्वपूर्ण विषय है।

इस खंड की चौथी इकाई में सामाजिक क्रान्ति के सिद्धान्त का निरूपण किया गया है। इस इकाई के अध्ययन से आप वर्गविहीन समाज की स्थापना के लिए मार्क्स द्वारा वर्णित सामाजिक क्रान्ति की अवधारणा को समझ सकेंगे।

कार्ल मार्क्स : जीवन परिचय

मार्क्स का जन्म 5 मई 1818 को ट्रियर नगर प्रशा के राइन प्रदेश, जर्मनी में हुआ था। मार्क्स के पिता हेनरिन मार्क्स से, एक यहूदी वकील थे। उनकी माता हेनरिट मार्क्स होलेण्ड से-एक परंपरागत विचारों वाली महिला थीं। उनकी माता तथा पिता यहूदी रब्बी (पुरोहित) वंश के थे। मार्क्स का पाँच भाई तथा तीन बहनों वाला बड़ा परिवार था। भाइयों की मृत्यु युवावस्था में ही हो जाने से उनके विषय में कुछ विशेष जानकारी नहीं मिलती, किन्तु बहनों सोफी, एमिली तथा लूसी का उल्लेख उनके पत्रों में मिलता है। मार्क्स के पिता ने 1824 ई० में ईसाई धर्म ग्रहण कर लिया। स्वयं मार्क्स की ईसाई धर्म में दीक्षा छः वर्ष की आयु में हुयी थी। मार्क्स अपने वंश में पहले व्यक्ति थे जिन्होंने धर्म निरपेक्ष शिक्षा ग्रहण की थी। उनकी माता अशिक्षित थी जो न तो ठीक तरह से जर्मन बोल सकती थी और न ही लिख सकती थी। इसलिए माता का मार्क्स के जीवन पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा। उनके पिता द्वारा धर्म परिवर्तन का अल्पव्यस्क मार्क्स के मस्तिष्क पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ा तथा यह बाद में मार्क्स की प्रगति में काफी सहायक रहा।

मार्क्स की ईसाई धर्म की शिक्षा के समय जर्मनी में यहूदियों की सामाजिक स्थिति अच्छी नहीं थी। यहाँ तक कि जो यहूदी ईसाई धर्म स्वीकार कर चुके थे, उन्हें भी भेदभाव का शिकार होना पड़ता था। उस काल में यहूदी मूल के बुद्धजीवी भी कहीं न कहीं अपने यहूदी होने के कारण हीन भावना से ग्रस्त रहते थे और अपने आपको अपने मूल से विलग करने का प्रयास करते थे। मार्क्स भी इसको अपवाद नहीं थे।

बचपन से ही मार्क्स होनहार तथा विवेकशील बालक थे। इनके अपने पिता के साथ सम्बन्ध थोड़े-बहुत तनावों को छोड़कर काफी घनिष्ठ रहे। दर्शन शास्त्र और मानवीय तथा सामाजिक सरोकार के प्रति चिन्तन की प्रवृत्ति तथा प्रेम मार्क्स के पिता की ही देन थी। मार्क्स के हृदय में उनके प्रति अत्याधिक आदर तथा प्रेम था।

पिता के अतिरिक्त जीवन के प्रारम्भिक दिनों में मार्क्स अपने पड़ोसी लुडविंग वेस्फेलेन से भी बहुत अधिक प्रभावित हुए थे। वे एक अत्यन्त उच्च शिक्षित उदार विचारों वाले मानवतावादी थे। वेस्फेलेन मार्क्स को पढ़ने के लिये पुस्तकें देते थे तथा सायंकाल अपनें साथ सैर के लिये ले जाते थे जहाँ रास्ते चलते वे सामाजिक सिद्धान्तों, विशेष रूप से सेण्ट साइमन के विचारों की चर्चा किया करते थे। उन्होंने बाद में पेरिस में काफी ख्याति प्राप्त कर ली थीं। दोनों में काफी अच्छे सम्बन्ध थे। शीघ्र ही उच्च वर्ग के यह पड़ोसी भावी मजदूर समाजवादी नेता मार्क्स के आध्यात्मिक गुरू बन गये। इन सभी ने मार्क्स की बौद्धिक पृष्ठभूमि को बनाने में सहायता की थी।

मार्क्स की प्रारम्भिक शिक्षा 1835 ई० तक ट्रियर के ''रॉयल फ्रेडरिक विलियम्स'' में हुई, जो कि एक प्रतिष्ठित शिक्षण संस्थान था। वहाँ के योग्य अध्यापकों की प्रतिष्ठा उस समय दूर-दूर तक थी। मार्क्स एक कुशाग्र छात्र थे। विशेष रूप से गणित, लैटिन तथा ग्रीक पर उनका अच्छा अधिकार था। मार्क्स तब छोटी छोटी कविताएं भी लिखा करते थे। उनके आगामी बौद्धिक जीवन की नींव तब ही पड़ गयी थी। उन्होंने अपने स्कूल की अन्तिम परीक्षा के लिए जो निबन्ध चुना उसका शीर्षक था ''पेशा चुनने के सम्बन्ध में एक तरुण के विचार''। इस निबन्ध से यह पता चलता है कि इस सत्रह वर्षीय बालक ने उस समय ही मानवता की त्यागपूर्ण सेवा करने में अपने जीवन की सार्थकता समझी थी। इस स्कूल की अन्तिम परीक्षा पास करने के पश्चात् 17 वर्ष की आयु में मार्क्स ने सन् 1835 में बॉन विश्वविद्यालय में प्रवेश लिया। किन्तु दो वर्षों बाद ही वे बर्लिन विश्वविद्यालय में पढ़ने लगे, क्योंकि उनके पिता की राय में कानून की पढ़ाई के लिए वही अच्छा स्थान था। 23 वर्ष की आयु में मार्क्स ने डॉक्टर की उपाधि प्राप्त की। उनके शोध प्रबन्ध का विषय था—The difference between the Demoeritean and Epicureen Philosophy of Nature| अपने विचारों में मार्क्स उस समय तक हेगेलवादी-भाववादी थे, बर्लिन में वह वामपंथी हेगेलवादियों ब्रूनों, बावेर आदि के समूह से सम्बन्धित थे, जो हेगेल के दर्शन से निरीश्वरवादी तथा क्रान्तिकारी निष्कर्ष निकालने की चेष्टा करते थे।

विश्वविद्यालय की पढ़ाई पूरी करके मार्क्स प्रोफेसर बनने की आशा से बॉन चले गये लेकिन सरकार की प्रतिक्रियावादी नीति ने उन्हें शैक्षिक कार्य अपनाने का विचार छोड़ देने के लिए मजबूर कर दिया। यहीं से लुडविग फायर बाख को विश्वविद्यालय से वंचित किया था। फिर 1836 में उनके विश्वविद्यालय में वापस आने पर प्रतिबन्ध लगाया था और 1841 में युवक प्रोफेसर ब्रूनो बावेर से बॉन विश्वविद्यालय में अध्यापन का अधिकार छीन लिया था। लुडविग फायरबाख ने विशेषतः 1836 के बाद धर्मशास्त्र की आलोचना शुरू कर दी थी। उस समय राइन के कुछ प्रबुद्ध लोगों ने कोलोन में एक विरोध पक्षीय अखबार ''राइन समाचार पत्र'' निकालना शुरू किया। मार्क्स और ब्रूनो बावेर को उसके मुख्य लेखक बनने के लिये आमंत्रित किया गया और अक्टूबर 1842 में मार्क्स उसके मुख्य संपादक बन गये और बॉन से कोलोन चले आये। मार्क्स के संपादन में पत्र का क्रान्तिकारी जनवादी झुकाव अधिकाधिक स्पष्ट होता गया और सरकार ने पहले उसकी दुहरी और फिर तीसरी सेंसरशिप शूरू की। फिर, जनवरी 1843 में संपादन से त्याग पत्र देना पड़ा, मगर उनका इस्तीफा भी पत्र को बचा नहीं सका और मार्च 1843 में उसे बन्द कर दिया गया। सरकारी काम से मार्क्स को पता चला कि वह राजनीतिक अर्थशास्त्र से काफी परिचित नहीं है और वह उत्साहपूर्वक उसके अध्ययन में जुट गये। ब्रूनो बावेर के अतिरिक्त कानून विभाग के दो प्राध्यापकों सेवीगनी तथा गाज ने मार्क्स को काफी प्रभावित किया तथा इन्हें तर्क की शक्ति, सैद्धान्तिक आलोचना की विधि, इतिहास का दर्शन इत्यादि का प्रशिक्षण उन्हीं दोनों से मिला।

1843 में मार्क्स ने क्रेयत्स्नाख में अपने बौद्धिक मार्गदर्शक तथा पड़ोसी लुडविन वॉन वेस्फेलेन की पुत्री जेनी से विवाह किया था। उनकी सगाई 1836 में ही हो गई थी, किन्तु दोनों परिवारों की आर्थिक तथा सामाजिक स्थिति में बहुत अधिक अन्तर होने के कारण सात वर्षों तक सगाई को गुप्त ही रखा गया था।

उनकी पत्नी प्रशा के एक अमीर घराने की थी, उनके बड़े भाई प्रशा में 1850-1858 के समय गृहमंत्री थे। जेनी अत्यन्त सुन्दर, कुशाग्र बुद्धि तथा सहनशील महिला थीं। उन्होंने मार्क्स की यायावर प्रकृति के कारण बहुत से कष्ट उठाए, किन्तु सदैव निष्ठापूर्वक अपने पति का साथ दिया और अभावों के बावजूद स्नेहपूर्ण परिवारिक जीवन का निर्वाह किया। मार्क्स तथा जेनी की छः सन्तानें हुई।

अध्ययन समाप्त करने के बाद शीघ्र ही मार्क्स को उनके पुराने प्रशंसक मोजेज हेस के एक जर्नल में शोध प्रबंध लिखने का निमंत्रण मिला। दस वर्ष तक लेखक के रूप में जुड़े रहने के बाद मार्क्स उसी जर्नल के मुख्य संपादक बन गये। अपने विद्रोही विचारों के कारण मार्क्स को निरंतर शासकीय विरोध का सामना करना पड़ा।

इसके कुछ ही समय सन् 1843 में मार्क्स ने अपने बचपन की मित्र जेनी से विवाह कर लिया उसके बाद एक वर्ष तक मार्क्स तथा जेनी जर्मनी में ही रहे। इस एक वर्ष में मार्क्स ने सैकड़ों राजनीतिक, सामाजिक और ऐतिहासिक सिद्धान्तों की पुस्तकों, जिनमें 'मटेस्क्यू' की 'स्प्रिट आफ दी लाज'' तथा रूसों की 'सोशल कॉण्ट्रैक्ट'' भी सम्मिलित थीं, से ली गयी प्रमुख पंक्तियों से पाँच अभ्यास पुस्तिकाएं भर ली थी। नवम्बर 1943 तक मार्क्स को यह निश्चित विश्वास हो गया कि उसके जैसे विचारों वाले व्यक्ति का जर्मनी में निर्वाह नहीं सम्भव है। अत: मार्क्स सपत्नीक पेरिस में रहने चले गये। पेरिस उस समय विचारकों, साहित्य कारों तथा कलाकारों के लिए एक आदर्श स्थान था। वहाँ के उदारवादी शासन ने एक ऐसा वातावरण निर्मित किया था, जिसमें सभी प्रकार के विचारों वाले व्यक्तियों का सामंजस्यपूर्वक निर्वाह हो सकता था। ऐसे वातावरण में मार्क्स के अध्ययन को एक नया आयाम मिला और वह उन विद्वानों के ग्रंथों का भी अध्ययन कर सका, जिनका अध्ययन जर्मनी में कर सकना असम्भव था। ऐसे विचारकों में लुईस ब्लांक, कैबेट, फूरियर सेंट सिमोन प्रमुख थे। वहीं पर उसे एडम स्मिथ, रिकार्डों, सिम्मोंडी आदि के विचारों तथा प्रतिविचारों की भी जानकारी प्राप्त हुई। इनमें से बहुत से विचारकों से मार्क्स का व्यक्तिगत रूप में भी परिचय हुआ और उसका मार्क्स के विचारों पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ा। वास्तव में यह भावी चिन्तक मार्क्स के निर्माण का समय था। पेरिस में अगस्त सन् 1844 के अन्त में मार्क्स और एक वस्त्र निर्माता के पुत्र फैड्रिक एंजेल्स का वह ऐतिहासिक मिलन हुआ जिसमें उन्होंने पाया कि दोनों के विचार पूर्णत: एक दूसरे से मेल खाते हैं। इसके बाद ही उन दोनों मित्रों के बीच वह रचनात्मक सहयोग आरम्भ हो गया जिसका इतिहास में कोई दूसरा उदाहरण नहीं मिलता। श्री लेनिन ने उचित ही लिखा है कि ''प्राचीन काल की कथाओं में हमें मित्रता के बहुत से हृदय-द्रावक उदाहरण मिलते हैं, लेकिन यूरोप का सर्वहारा-वर्ग यह दावा कर सकता है कि उसके विज्ञान की रचना ऐसे दो अध्येताओं और योद्धाओं ने की थी जिनकी परस्पर मैत्री के सम्बन्ध प्राचीन समय की मानवीय मित्रता की सबसे हृदय-द्रावक कहानियों को भी फीका बना देते हैं।

साइलेसिया के बुनकरों के जून सन् 1844 के विद्रोह का श्री मार्क्स ने बड़े उत्साह से स्वागत किया. इस पर प्रशिया की सरकार ने फ्रांस की सरकार पर दबाव डाला और मार्क्स को फ्रांस से देश-निकाला दे दिया गया। फरवरी सन् 1845 में वे ब्रूसेल्स जाकर रहने लगे। इसी समय सर्वश्री मार्क्स और एंजेल्स की संयुक्त रचना होली फैमिली' प्रकाशित हुयी जिसमें सर्वहारा-वर्गके विश्वव्यापी ऐतिहासिक उद्देश्य से सम्बन्धित विचारों की लगभग एक समूची प्रणाली खड़ी कर दी गई थी। होली फैमिली में नए क्रान्तिकारी भौतिकवादी दर्शन का और सर्वहारा-वर्ग की सैद्धान्तिक विचारधारा का तत्व मौजूद था।

सर्वश्री मार्क्स और एंजेल्स ने इतिहास के भौतिकवादी सिद्धान्तों से सम्बन्धित समाज विज्ञान को अधिक स्पष्ट और क्रमबद्ध रूप से प्रस्तुत करने के लिये एक संयुक्त रचना 'जर्मन विचारधारा' शुरू की। इसमें उन्होंने हीगल के भाववादी और नए हीगलवादियों के मनोगत भाववादी दर्शन की विस्तृत आलोचना की। कम्युनिज्म के सैद्धान्तिक स्तम्भ हैं— 'द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद' और ''ऐतिहासिक भौतिकवाद'। इन स्तम्भों

के निर्माण में जर्मन विचारधारा ने सर्वाधिक महत्व का कार्य किया था। सन् 1847 में 'The Misery of Philosophy' प्रकशित हुई। फ्रांस से निष्कासित होने के पश्चात् मार्क्स अन्य निष्कासित विद्रोहियों के साथ मिलकर कार्य करने लगे। उस समय German Worker's Educational Association के संपर्क में आये। उन्होंने 1848 में मार्क्स को अपने संगठन के उद्देश्यों तथा विचारों का परिचय देने वाला एक लेख लिखने का कार्य सौंपा तथा तब रचना हुयी ऐतिहासिक Communist manifesto की । इस समय तक मार्क्स के भावी चिन्तन की दिशा का निर्धारण हो चुका था। 1848 में तब जर्मनी में विद्रोह हुआ तो मार्क्स एक बार फिर अपने जन्म स्थान राइनलैण्ड वापस, लौट गए। वहाँ पर मार्क्स 1 जून 1848 से 1 मई 1849 तक एक अतिवादी समाचार पत्र New Rheimische Leitung के संपादक बन गये। परन्तु दुर्भाग्य से वह विद्रोह असफल हुआ और पहले तो नये शासन ने मार्क्स पर मुकदमा चलाया और उसके बाद 16 मई 1849 को उन्हें जर्मनी से निष्कासित होकर फ्रांस जाना पड़ा।

1849 में फ्रांसीसी सरकार ने मार्क्स के सामने दो विकल्प रखे-वह किसी दूर दराज के प्रदेश में गुम नाम होकर जीवन बिताए अथवा देश छोड़ दे। मार्क्स ने दूसरा विकल्प चुना और लंदन चले गये। मार्क्स ने सोचा था कि शीघ्र ही समाजवादी आन्दोलन सफल होगा और वह जर्मनी वापस लौट जायेंगे, किन्तु परिस्थितियों का ऐसा चक्र चला कि मार्क्स फिर कभी भी लंदन से बाहर न जा सके।

1848-1849 के आन्दोलन के बाद निर्वासित काल (लंदन प्रवास) में मार्क्स और एंजेल्स ने अन्तर्राष्टीय मजदूर संघ की स्थापना की और पूरे दशक भर संस्था का नेतृत्व किया। एंजेल्स ने इस संस्था के कार्य में सक्रिय भाग लिया। अन्तराष्ट्रीय संघ नें मार्क्स के विचारानुसार सभी देशों के सर्वहारा को एक जुट किया और ''विश्व के मजदूर एक हो'' का नारा दिया तथा उन्हें राष्ट्र से परे सोचने का आधार प्रदान किया। मार्क्स का यह कार्य उनकी इस धारणा से प्रेरित है कि ज्ञान विज्ञान का उपभोग समाज के हित में होना चहिये। लंदन प्रवास के प्रारंभिक दिनों में मार्क्स ने दो अत्यन्त महत्वपूर्ण लेख The class struggle in France (1850) तथा The Eighteenth Brumaine of Louis Bonaparte (1852) लिखे। इस समय तक मार्क्स की भूमिका एक सामाजिक इतिहासकार के रूप में पूर्ण विकसित हो गयी थी।

कुछ वर्षों तक मार्क्स हलचलपूर्ण सामाजिक जीवन से कटकर मात्र अपने परिवार एंजेल्स तथा कुछ पारिवारिक मित्रों तक सिमट गये। किन्तु इस काल का उपयोग मार्क्स ने गहन अध्ययन में किया। यह समय मार्क्स और उनके परिवार ने घोर विपन्नता में बिताया। एक समय तो कठिनाइयों से विचलित होकर मार्क्स ने रेलवे विभाग में क्लर्क पद के लिए आवेदन किया। किन्तु विधाता को शायद यह स्वीकार न था कि एक भावी इतिहास पुरुष मात्र रेलवे क्लर्क बनकर रह जाये। मार्क्स के अपठनीय हस्तलेख के आधार पर उनके आवेदन को रद्द कर दिया गया और मार्क्स पुन: अध्ययन तथा लेखन में लीन हो गये। उस समय मार्क्स वर्षों तक ब्रिटिश संग्रहालय के पुस्तकालय में प्रात: 10 बजे से सायं 7 बजे तक अध्ययन करते तथा नोट्स लेते थे। घोर निर्धनता के मध्य ऋणदाता अपनी वसूली के लिये उन्हें धमकाते रहते थे। मार्क्स के तीन बच्चे कुपोषण तथा सुश्रुषा के अभाव में मृत्यु के ग्रास बन गये। अभाव की पराकाष्ठा यह थी कि मार्क्स के एक बच्चे की मृत्यु के समय तो उनके पास उसे दफनाने का प्रबंध करने लायक धन भी नहीं था। अभाव के कारण मार्क्स और उनके परिवार को इतनी कठिन परिस्थितियों में रहना पड़ता था कि वे सभी लगभग हमेशा बीमार ही रहते थे। ऐसी विषम परिस्थितियों में भी वह मनस्वी अपने आदर्शों और उद्देश्यों से डिगे नहीं। मार्क्स ने ऐसी ही परिस्थितियों में दस-दस घंटों के अथक परिश्रम में 'कैपिटल' जैसे कालजयी ग्रन्थ की रूपरेखा तैयार की। उस समय यदि मार्क्स तथा उनका परिवार जीवित रह सके तो उसका एकमात्र कारण समय-समय पर उनके मित्र एंजेल्स द्वारा मिलने वाली आर्थिक सहायता थी। अन्ततः सन् 1859 में ''दास कैपिटल'' अपने प्रारंभिक रूप में 'A contribution to the critique of political economy' के नाम से प्रकशित हुई। परन्तु तब यह विद्वानों का अधिक ध्यान आकर्षित नहीं

कर सकी। बाद में 1867 में 'दास कैपिटल' का प्रथम भाग प्रकाशित हुआ। यद्यपि दास कैपिटल भी प्रारम्भ में बौद्धिक जगत में आशा के अनुरुप चर्चित न हो सकी, किन्तु शीघ्र ही पूरे यूरोप के बौद्धिक जगत में चर्चा का विषय बन गयी। प्रकाशन के दस वर्ष के अन्दर ही इसका रूसी, फ्रेंच, इटालियन तथा अंग्रेजी में अनुवाद प्रकाशित हो गया। इसका शेष भाग मार्क्स के जीवन काल में न छप सका। उसे मार्क्स की मृत्यु के बाद एंजेल्स तथा कॉट्स्की ने प्रकाशित कराया। मार्क्स ने "राजनैतिक अर्थशास्त्र की समीक्षा का एक प्रयास" 1859 और "पूँजी" खण्ड प्रथम 1864 नामक कृतियों में राजनीतिक अर्थशास्त्र का निरुपण किया। लेकिन बीमारी के कारण वे दूसरे व तीसरे भाग की पांडुलिपि ही तैयार कर सके जिसका संपादन व प्रकाशन उनकी मृत्यु के बाद एंजेल्स के सहयोग से 1894 तक सम्पन्न हुआ।

"Newyork Daily Tribune" ने मार्क्स ने मार्क्स को योरोप की राजनैतिक स्थिति पर लिखने के लिये विशेष संवाददाता नियुक्त कर दिया और मार्क्स एक पौंड प्रति लेख की दर से दस वर्ष तक प्रति सप्ताह लेख भेजते रहे। यह उनकी अव्यवस्थित गृहस्थी में कुछ राहत थी। किन्तु कैपिटल की तैयारी में वे इतने व्यस्त हो गये कि उनके लिए वह सप्ताह का एक लेख लिखना भी सम्भव न रहा। तब एंजेल्स एक बार पुन: सहायक हुये और उन्होंने वह कार्य संभाल लिया।

प्रारम्भ में काफी समय तक मार्क्स का विचार था कि मंदी का दौर आने पर स्वयं ही समाज से पूंजीवाद का शिकंजा ढीला पड़ेगा। किन्तु 1857 की व्यापक मंदी के बाद भी अपेक्षित परिवर्तन न होते देखकर मार्क्स ने अपने कार्य की रूपरेखा में परिवर्तन किया और मजदूर वर्ग को संगठित करने का निश्चय किया।

सन् 1863 में इंग्लैंड में यूरोप के श्रमिकों का एक सम्मेलन हुआ, जिसमें इंग्लैण्ड में रहने वाले जर्मनों ने मार्क्स को अपना प्रतिनिधि बनाकर प्रस्तुत किया। इस सम्मेलन को आयोजित करने वाली संस्था इंटरनेशनल ने मार्क्स के उद्घाटन भाषण को बहुत महत्व दिया और उसे अपनी संस्था के घोषणापत्र के समकक्ष स्थान दिया। लगभग दस वर्ष तक इस संस्था के प्रमुख के रूप में मार्क्स ने कार्य किया और संस्था को पूरे यूरोप में फैला दिया।

धीरे-धीरे मार्क्स ने समाजवादी आन्दोलन के लिये एक सुदृढ़ बौद्धिक आधार बना दिया। किन्तु समाजवाद का स्वप्न साकार होने में विलम्ब था। इंटरनेशनल का प्रयोग अन्ततः सफल न हो सका और सन् 1876 में भंग हो गयी।

अब तक चिन्तक तथा सामाजवादी के रूप में मार्क्स विश्वभर के बौद्धिकों के मध्य एक विशिष्ट स्थान बना चुके थे। एंजेल्स ने इस प्रकार का प्रबंध भी कर दिया था कि उनका जीवन बिना किसी अभाव के सुगमतापूर्वक चल सके। परन्तु जीवन पर्यन्त के संघर्ष तथा लंबी बीमारी ने मार्क्स को थका दिया था। यद्यपि मार्क्स अभी भी मनन, अध्ययन तथा विचार विनिमय में व्यस्त रहते थे, किन्तु रचनात्मक लेखन उनके लिये श्रमसाध्य हो चला था।

सन् 1881 ई० में उनकी पत्नी की मृत्यु कैंसर से हो गयी, एक वर्ष बाद उनकी विवाहिता पुत्री की भी मृत्यु हो गयी। मार्क्स का हृदय इन आघातों को सह न सका और वे जीवन पर्यन्त इससे न उबर सके। 14 मार्च 1883 में उनकी मृत्यु हो गयी। आधुनिक संसार का सबसे प्रभावशाली चिन्तक, जिसकी मृत्यु की तिथियों को बड़े पैमाने पर विश्व याद करता है, गुमनाम मौत मरा। हाईगेट शमशान में जब उन्हें दफनाया गया, तब उनके साथ केवल कुछ समाजवादी साथी ही थे।

मार्क्स नि:संदेह व्यक्तिगत तथा पारिवारिक हितों से ऊपर उठकर अपनी विशद् सैद्धान्तिकी का प्रतिपादन करते रहे, जिसका बहुत भारी मूल्य उन्हें और उनके परिजनों को चुकाना पड़ा। इन कठिन परिस्थितियों का मार्क्स के ऊपर भी प्रभाव पड़ा। उनका व्यवहार मधुर न था। लंदन में रहते हुए वहाँ के सर्वहारा वर्ग से उनका प्रत्यक्ष तालमेल न था। आखिरी के दिनों में जब मार्क्स की आर्थिक स्थिति कुछ सुधर गयी थी।

तब भी जो कुछ लोग उनसे जुड़े वे अपेक्षाकृत उच्च वर्ग के ही थे। कहा जाता है कि वे अपनी पत्नी के प्रति भी वफादार नहीं रह गये थे। उनके व्यक्तिगत जीवन का सार उनके पिता के लिखे इस पत्र में मिलता है। "न मालूम यह देव स्वर्गिक है या मायावी ? मुझे यह आशंका सदैव सर्वाधिक कष्ट देती है कि क्या तुम कभी सच्चे मानवीय सुख को ग्रहण कर सकोगे? क्या तुम कभी अपने आस-पास खुशियाँ बिखेरने में समर्थ हो सकोगे ?"

प्रत्येक व्यक्ति, चाहे वह कितना ही मौलिक चिन्तक तथा सृष्टा क्यों न हो, अपने परिवेश से तथा अपने आस-पास रहने वाले अन्य व्यक्तियों के विचारों से अवश्य प्रभावित होता है किसी भी व्यक्ति का निर्माण इन्हीं के आधार पर होता है। संवेंदनशीलता के अलग-अलग स्तरों के आधार पर प्रत्येक व्यक्ति पर परिस्थितियों का प्रभाव तथा प्रतिक्रिया भी अलग-अलग होती है। पारिवारिक शोषण एक बच्चे को दब्बू बना सकता है तथा दूसरे को विद्रोही बना सकता है। दर्शन में इस विषय पर बहुत अधिक वाद-विवाद हुआ है कि वास्तव में स्वतंत्र इच्छा जैसा कुछ होता भी है या नहीं। यही कारण है कि किसी व्यक्ति (चिन्तक) को पूर्णरुपेण जानने के लिये उसके परिवेश को तथा परिवेश के संदर्भ से उसके निरंतर निर्मित होते हुए विचारों को समझना भी आवश्यक होता है। मार्क्स के विचारों को समझने के लिए उन्हें सम्भावित रूप से प्रभावित करने वाले कारकों की समीक्षा विशेषत: इसलिये भी आवश्यक है कि मार्क्स ने कभी भी अन्य चिंतकों की भांति अपने आपको समकालीन चिंतन से विलग नहीं रखा।

जैसे कि कॉन्ट कहते थे कि नये विचारों की उत्पत्ति के लिये मस्तिष्कीय पवित्रता अत्यन्त आवश्यक है। अन्य सामाजिक चिन्तक भी विरोधी विचारों से दूर रहना ही पसन्द करते थे, किन्तु मार्क्स में ऐसा नहीं था। इन्हीं सब कारणों से मार्क्स के विचारों को समझने से पूर्व उन्हें प्रभावित करने वाले संभावित कारकों को समझना आवश्यक है। जिन्हें हम दो भागों में बाँट सकते हैं-परिवेश और व्यक्तित्व।

जब हम किसी व्यक्ति के परिवेश की चर्चा करते हैं तो सर्वप्रथम आवश्यक होता है उसके परिवार तथा पारिवारिक वातावरण की चर्चा करना। मार्क्स के माता पिता दोनों ही रब्बी (पुरोहित) परिवारों से थे। किन्तु सामाजिक तथा राजनैतिक परिवर्तमान परिस्थितियों के दबाव में आकर, सांसारिक लाभ से प्रेरित होकर मार्क्स के जन्म से कुछ ही पूर्व उनके पिता ने धर्म परिवर्तन कर लिया था। स्वाभाविक है यदि कोई व्यस्क व्यक्ति बिना किसी धार्मिक, आध्यात्मिक अन्त:प्रेरणा के धर्म-परिवर्तन करेगा तो उसे अपनी नवीन धर्म के प्रति किसी प्रकार का आत्मिक लगाव नहीं होगा। मार्क्स के चिन्तन में पायी जाने वाली धर्म के प्रति विरक्ति तथा धर्म को समाज के लिये व्यर्थ तथा हानिकारक मानने की भावना के पीछे विरासत में पिता से मिली धर्म के प्रति उपेक्षा ही थी।

ऐसा माना जाता है कि स्वभाव से ही यहूदी व्यवसायिक प्रवृत्ति के होते हैं। कोजर का कहना है कि धन का महत्व कम करके आंकने की प्रवृत्ति मार्क्स में अपने यहूदीपन को नकारने की प्रवृत्ति का ही परिणाम थी।

मार्क्स का जन्म उन्नीसवीं सदी के प्रारम्भ में हुआ था। यह काल युरोप में सामाजिक, राजनैतिक तथा औद्योगिक उथल-पुथल का था। 1789 में होने वाली फ्रेंच क्रान्ति का प्रभाव न्यूनाधिक रूप से सम्पूर्ण यूरोप में पड़ा था। यद्यपि फ्रांस तथा ब्रिटेन की तुलना में जर्मनी आर्थिक तथा राजनैतिक रूप से पिछड़ा हुआ था। किन्तु सम्पूर्ण यूरोप में होने वाली औद्योगिक क्रांति से अछूता नहीं था। परिणाम स्वरूप एक विशाल मजदूर वर्ग जिसमें कुशल तथा अकुशल दोनों ही प्रकार के श्रमिक थे, तैयार हो गया था।

जिस समय मार्क्स बॉन विश्वविद्यालय में कानून की पढ़ाई पढ़ने गये थे, तब तक वे अपने पिता तथा अपने पड़ोसी लुडविग वॉन वेस्फेलेन के माध्यम से रुसो, वाल्टेयर, सेंट साइमन आदि प्रगतिवादी चिन्तकों के विचारों से प्रभावित हो चुके थे।

1815 में वाटरलू में नेपोलियन की पराजय के बाद से आम जर्मन मानस बुरी तरह निराश था, दूसरी ओर चौथे दशक में शासन का दमन चक्र भी जोरों पर था। संसद भंग हो गयी थी। दूसरी ओर समय-समय पर जन-आन्दोलन भी होते रहते थे।

बॉन विश्वविद्यालय छोड़ने के बाद मार्क्स ने बर्लिन विश्वविद्यालय में दाखिला लिया। हीगल पहले बर्लिन विश्वविद्यालय में प्राध्यापक थे और मार्क्स के वहाँ पहुँचने के पाँच वर्ष पूर्व ही उनका देहान्त हुआ था। अतः विश्वविद्यालय में हीगल के विचारों की प्रबल छाप तब भी मौजूद थी। फलस्वरूप मार्क्स भी वामपंथी नव हीगलवादियों की जमात में शामिल हो गए। यहां से उनकी प्रत्येक वर्तमान व्यवस्था की निर्मम आलोचना की प्रवृत्ति ने जड़ पकड़ी। इस आलोचना के दो आयाम थे : पहला तो यह कि आलोचना के क्रम में तर्कों की क्या प्रतिक्रिया होगी, इसका भय न होना चाहिये। यहाँ तक कि बाद में मार्क्स का उद्देश्य ही हर बात में संशय करना बन गया था।

किसी भी साधारण बालक के समान मार्क्स पर प्रथम प्रभाव अपने पिता का पड़ा था। मार्क्स के पिता स्वयं एक अधिवक्ता होते हुए भी दार्शनिक रूचि के व्यक्ति थे। बर्लिन जाने के पूर्व तक दोनों पिता पुत्र के मध्य अत्यंत मधुर तारतम्य था। प्रारम्भ में पिता के माध्यम से ही मार्क्स विश्व के उच्च स्तरीय साहित्य से परिचित हुए। किन्तु पिता का भीरु तथा राज्यसत्ता के प्रति भयभीत होकर समर्पण कर देने का स्वभाव प्रकृति से ही विद्रोही मार्क्स को रास न आया। बाद में धीरे-धीरे इसी कारण से पिता पुत्र के मध्य दूरी बढ़ गयी।

किशोर मार्क्स पर जिस एक व्यक्ति का और बहुत अधिक प्रभाव पड़ा, वह उसके पड़ोसी लुडविग वॉन वेस्फेलेन थे। वेस्फेलेन कई भाषाओं के ज्ञाता थे। होमर का साहित्य उन्हें कंठस्थ था, तथा प्राचीन और आधुनिक दर्शन एवं साहित्य का उन्होंने गहन अध्ययन किया था। वे भी मार्क्स के पिता के समान उस बहुल नगर में प्रोटेस्टेन्ट थे। वे उदारवादी विचारों के प्रशंसक थे। यही कारण था कि दोनों परिवारों के बीच अत्यधिक घनिष्ठता थी। वे कार्ल-मार्क्स के व्यक्तित्व से अत्यंत प्रभावित थे और उसके व्यक्तित्व के विकास का यथा संभव प्रयास करते थे। उन्होंने ही मार्क्स का परिचय शेक्सपियर के संटे साइमन तक के साहित्य से कराया। यह लगाव इतना अधिक गहन होता गया कि अन्ततः मार्क्स ने उनकी पुत्री जैनी से विवाह भी कर लिया।

तीसरा व्यक्तित्व जिसने नवयुवक मार्क्स को बहुत अधिक प्रभावित किया, वह थे हीगल । यद्यपि हीगल से मार्क्स का कभी भी साक्षात्कार नहीं हुआ था, किन्तु जब मार्क्स बर्लिन विश्वविद्यालय में अध्ययन के लिये गये तो वहाँ का वातावरण मृत्यु के पाँच वर्षों बाद भी हीगलमय था। वहाँ रहकर हीगल के प्रभाव से अछूता रहना संभव न था। मार्क्स के विचारों में कठोर तार्किकता तथा लहजे में दो टूक पन बहुत कुछ हीगल की ही देन है।

एक अन्य व्यक्ति जिससे मार्क्स का चिन्तन प्रभावित था या नहीं कहना कठिन है किन्तु जिसके बिना चिन्तक मार्क्स को संसार इस रूप में नहीं पा सकता था, यह कहना कठिन नहीं है मार्क्स को उनके पेरिस प्रवास के दौरान मिला। वह थे फेडरिक एंजेल्स। एंजेल्स से मित्रता के बाद से मार्क्स के जीवन के हर एक पक्ष का एंजेल्स एक अभिन्न अंग बन गये थे। मार्क्स ने बहुत सा लेखन कार्य एंजेल्स के साथ मिलकर ही किया। मार्क्स की मृत्यु के बाद एंजेल्स ने उनके अप्रकाशित लेखन को प्रकाशित करवाया तथा कैपिटल सहित बहुत से अधूरे ग्रन्थों को पूरा किया।

पेरिस प्रवास के काल में मार्क्स जिन अन्य विचारकों से प्रभावित हुआ था, उनमें से प्रमुख रूसी क्रांतिकारी माइकेल बकनिन, जर्मन कवि हेनरिक हेन, विल्हेम वेटलिंग, वाम-हीगल वादी एनॉल्ड रग आदि प्रमुख थे। फ्रेंच व्यक्ति, जिसने मार्क्स पर सबसे अधिक असर डाला, प्रोदां थे। मार्क्स उसकी पुस्तक ''संपत्ति क्या है।'' के प्रशंशक थे। दोनों में कुछ समय के लिए गहरी मित्रता हो गयी।

मार्क्स एक ऐसे चिन्तक थे, जिन्होंने अपना पूरा जीवन समाजवाद के सिद्धान्त की स्थापना में लगा दिया था। ये ऐसे संवेदनशील व्यक्तित्व थे, जो कि अपने समय की हर सामाजिक राजनैतिक स्थिति से प्रभावित होते थे। बर्लिन के शब्दों में — ''उसका व्यक्तिगत इतिहास, जो कि इस बिन्दु तक एक व्यक्ति की जीवन की घटनाओं के क्रम के रूप में ग्रहण किया जा सकता है, अब यूरोप में समाजवाद के सामान्य इतिहास से अविभाज्य हो जाता है।''

इकाई –10 द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद

इकाई की रूपरेखा

10.0 उद्देश्य

10.1 प्रस्तावना

10.2 द्वन्द्वात्मकता की अवधारणा

10.3 द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के नियम

 10.3.1 परस्पर विरोधों में एकता

 10.3.2 परिमाणात्मक परिवर्तन का गुणात्मक परिवर्तन में रूपान्तरण

 10.3.3 निषेध के निषेध का नियम

 10.3.4 गतिशीलता का नियम

10.4 द्वन्द्ववाद के मुख्य लक्षण

10.5 द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के प्रयोग

 10.5.1 आदिम साम्यवादी समाज

 10.5.2 दास मूलक समाज

 10.5.3 सामन्ती समाज

 10.5.4 पूँजीवादी समाज

10.6 सारांश

10.7 बोध प्रश्न

10.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

10.9 संदर्भ ग्रन्थ सूची

10.0 उद्देश्य

यह इकाई मार्क्स की प्रसिद्ध अवधारणा द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के विषय में है। इस इकाई के उद्देश्य हैं:

- द्वन्द्वात्मकता के प्रत्यय को स्पष्ट कर सकेंगे।
- द्वन्द्वात्मकता के नियमों को स्पष्ट कर सकेंगे।
- द्वन्द्वात्मकता के मुख्य लक्षण की विवेचना कर सकेंगे।
- द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की आलोचना कर सकेंगे।

10.1 प्रस्तावना

इस इकाई की विषय वस्तु द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद, मार्क्स के विचारों की केन्द्रीय धुरी है। मार्क्स का यह विश्व प्रसिद्ध सिद्धान्त मार्क्स के अन्य सभी सिद्धान्तों का आधार है। स्तेपानोवा ने लिखा है कि ''इस प्रतिभापूर्ण खोज के कारण ही दर्शनशास्त्र प्रथम बार विज्ञान बन सका और ऐसा विज्ञान बना जो

प्राकृतिक विज्ञान और मानवीय चिन्तन के विकास के वस्तुगत नियमों का ठीक-ठीक प्रतिनिधित्व कर सका।''

मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का जो केन्द्रीय सिद्धान्त है, वह सब तरह से वैज्ञानिक है। यह द्वन्द्व प्रकृति, समाज और विचारधारा सभी में समान रूप से देखने को मिलता है। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के दर्शन के सिद्धान्त को मार्क्स इतिहास पर लागू करते हैं। उन्होंने द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद में कहा है कि विचार और यथार्थ दोनों जुदा-जुदा हैं। लेकिन जब विचार और यथार्थ को उनकी एकता के रूप में देखते हैं तो यथार्थ एक बुनियादी तत्व है। यह प्राथमिक है। नास्तिक या विचार के अभाव में भी पदार्थ का अस्तित्व है। इसका तात्पर्य है कि दुनिया की यथार्थता के विश्लेषण में यथार्थ आवश्यक है यथार्थ प्राथमिक है, यथार्थ बुनियादी है। यथार्थ के इस अस्तित्व को मार्क्स द्वन्द्व के रूप में देखते हैं।

10.2 द्वन्द्वात्मकता की अवधारणा

द्वन्द्ववाद या द्वन्द्वात्मकवाद अंग्रेजी भाषा के डायलेक्टिक्स शब्द से लिया गया है। यह यूनानी भाषा के दियो-लोग शब्द से लिया गया है। इसका अर्थ है द्विसंवाद - दो आदमियों का प्रश्नोत्तर । हम एक बात कहते हैं, दूसरा उसका विरोध करता है, फिर हमारी और दूसरे के परस्पर विरोधी बातों से तीसरे तत्व की उत्पत्ति होती है, उसे डायलेक्टिक्स द्वन्द्ववाद कहते हैं। द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया में जिस क्रम से हम परिणाम या तत्वबोध पर पहुँचते हैं उसे तीन सीढ़ियों में विभक्त किया जा सकता है-

(1) वाद (2) प्रतिवाद (3) संवाद

मार्क्स ने द्वन्द्ववाद की अवधारणा को हीगल से ग्रहण किया। हीगल के अनुसार ''संसार में प्रत्येक वस्तु की प्रतिवादी वस्तु अवश्य होती है।'' पहले 'वाद होता है और तब उसका, प्रतिवाद इन दोनों के संघर्ष से एक तीसरी वस्तु उत्पन्न होती है जिसे हम 'संवाद' कहते हैं। इस संवाद में वाद और प्रतिवाद दोनों की ही विशेषताओं का समावेश होता है। समावेश के साथ-साथ यह दोनों से अधिक उत्तम भी होता है। संवाद एक नई परिस्थिति है परन्तु यह अस्थायी होता है क्योंकि प्रगति के दौरान थोड़े समय के बाद वह पुनः स्वयं 'वाद' का रूप धारण कर लेता है और फिर उसका एक प्रतिवाद जन्म लेता है और फि इन दोनों का संघर्ष आरम्भ होता है। इस संघर्ष के फलस्वरूप एक दूसरा संवाद उत्पन्न होता है। यह पहले संवाद से उच्च कोटि का होता है। इस प्रकार यह प्रक्रिया निरन्तर गतिशील होती है।

हीगल ने इतिहास में विचारों की प्रगति को द्वन्द्ववाद की प्रक्रिया से समझा। मार्क्स ने द्वन्द्ववाद की अवधारणा को अपनाया लेकिन उसे हीगल की तरह, विचारों की प्रगति की अवधारणा संतुष्ट नहीं कर सकी। मार्क्स के अनुसार सत्य का मूल आधार विचार न होकर यथार्थ होता है। उसने भौतिकवाद द्वारा सत्य को अभिव्यक्त करने की कोशिश की। प्रारम्भ में मार्क्स हीगल के दर्शन से प्रभावित था, परन्तु बाद में उसने इसकी प्रत्ययवादी प्रकृति की आलोचना की तथा स्वयं द्वन्द्वात्मक, भौतिकवाद का प्रतिपादन किया। अपने अमर ग्रन्थ 'कैपिटल' की भूमिका में मार्क्स ने लिखा है, ''मैने हीगल के द्वन्द्ववाद को सिर (मस्तिष्क, आत्मा) के बल खड़ा पाया, मैने उसे पैसे के बल (पृथ्वी पर, भौतिकता के आधार पर खड़ा कर दिया। यदि आप रहस्यमय खोल में से तार्किक सार-तत्व को ढूँढ निकालना चाहते हैं, तो आपको उसे (हीगल के द्वन्द्ववाद को) बिलकुल ही उलट देना होगा।' मार्क्सवादी द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद में हीगलवादी द्वन्द्ववाद की झलक दिखायी देती है और वह इस अर्थ में कि मार्क्स ने हीगल के द्वन्द्वात्मक विकासवाद को तो मान्यता दी,परन्तु उसके आधार या कारण को, अर्थात आत्मा, निरपेक्ष विचार आदि के सिद्धान्त को पूर्णतया अस्वीकार किया। मार्क्स का विचार है कि हीगल ने अपने द्वन्द्ववा में वास्तविक तथा प्रयोगसिद्ध तथ्यों पर बिल्कुल ध्यान नहीं दिया। मार्क्स का कथन है कि उस वैषयि

व भौतिक दुनिया की हीगल ने अवहेलना की जिसमें हीगल रहते थे और जिससे उन्हें हृष्ट-पुष्ट बनने तथा जीविका पालन के अन्य समस्त साधन उपलब्ध हुए, जिसके फलस्वरूप मस्तिष्क के साथ उनके शरीर का अस्तित्व बना रहा तथा उनके लिए दार्शनिक विचार व्यक्त करना सम्भव हुआ। साथ ही हीगल उस दुनिया को भूल गए जिससे उन्हें अपने विचार तथा उससे सम्बन्धित नियमों की अन्तर्वस्तु प्राप्त हुए थे। यह तो वही वास्तविक दुनिया है जिसके कारण हीगल का दर्शन सम्भव हुआ, परन्तु हीगल ने यह माल लेने की भूल की कि उनके दर्शन के कारण ही दुनिया संभव हुई है।

संक्षेप में हीगल के अनुसार मानव-समाज की प्रगति निरन्तर द्वन्द्ववादी प्रणाली से होती रहती है। इस प्रगति में 'विचार' का प्रमुख स्थान है। हीगल के अनुसार वाह्य जगत् आभ्यन्तरिक विचारों का ही प्रतिबिम्ब है। परन्तु मार्क्स ने भौतिक संसार को ही कारण माना है। और कहा है कि भौतिक संसार ही आभ्यन्तरिक विचारों का जनक है। अत: मार्क्स का द्वन्द्ववाद हीगल के द्वन्द्ववाद का उल्टा है। स्वयं मार्क्स के ही शब्दों में, ''मेरी द्वन्द्वात्मक प्रणाली हीगल की प्रणाली से न केवल भिन्न है, वरन् उससे बिल्कुल विपरीत है। हीगल के लिए चिन्तन की प्रक्रिया जिसे उन्होंने 'विचार' का नाम देकर एक स्वतंत्र विषय के रूप में बदल दिया है, वास्तविक जगत का सृजनकर्ता है और वास्तविक जगत विचार का वाह्य रूप है। इसके विपरीत, मेरे लिए आदर्श मानव के मस्तिष्क द्वारा प्रतिबिम्बित और विचार के रूप में परिवर्तित भौतिक जगत के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है।

10.3 द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के नियम

10.3.1 परस्पर विरोधों में एकता

संसार की प्रत्येक वस्तु परस्पर विरोधी तत्वों की बनी होती है। ये परस्पर विरोधी तत्व अपनी संरचना या बनावट में सावयवी होते हैं। ये सावयवी तत्व परस्पर विरोधी होकर भी व्यवस्था को एकता प्रदान करते हैं। यदि समाज में शासक और शासित दो परस्पर विरोधी तत्व हैं तो ये दोनों मिलकर सम्पूर्ण राज्य को बनाते भी हैं। ये परस्पर वस्तुएं जहां आपस में संघर्ष करती हैं, वही व्यवस्था को विकास भी प्रदान करती है।यदि संघर्ष न हो तो वस्तु का विकास रूक जायेगा।

10.3.2 परिमाणात्मक परिवर्तन का गुणात्मक परिवर्तन में रूपान्तरण

द्वन्द्ववाद का नियम तत्वशास्त्र के नियमों के विपरीत है। तत्वशास्त्र मानता है कि विकास की प्रक्रिया एक सरल रेखा की तरह है। जिसमें परिमाणात्मक परिवर्तन से गुणात्मक परिवर्तन नहीं होते हैं। तत्वशास्त्र के इस नियम के विपरीत मार्क्स का द्वन्द्ववाद इस नियम को प्रतिपादित करता है कि छोटे से छोटे परिमाणात्मक परिवर्तन से बड़े से बड़े गुणात्मक परिवर्तन का होना भी सम्भव है। यह परिवर्तन धीरे-धीरे नहीं होते। ये परिवर्तन तत्काल और शीघ्र होते हैं। इस नियम के अनुसार, परिवर्तन की प्रक्रिया सरल अथवा क्रमिक नहीं होती, अपितु यह अनेक मात्रात्मक परिवर्तनों का परिणाम होती है, जो कि अंतत: परिपक्व दशाओं की उपलब्धि होने पर किसी भी निश्चित समय पर अमूर्त गुणात्मक परिवर्तनों में परिवर्तित हो जाती है। घटनाओं की पुनरावृत्ति कभी नहीं होती। यह परिवर्तन सदैव निम्न से उच्चतर की ओर सरल से जटिल की ओर, तथा यथार्थ के समांग स्तर से विषमांग स्तरों की ओर होता है।

प्रकृति की प्रत्येक वस्तु में मात्रात्मक परिवर्तन निरंतर घटित होते रहते हैं और प्रत्येक प्रक्रिया की प्रकृति द्वारा निर्धारित सीमा तक पहुँच जाते हैं तो इससे अपरिहार्य महापरिवर्तन होते हैं। जब निरंतर परिवर्तन एक विशिष्ट सीमा तक पहुँच जाता है, जिसके परे और अधिक मात्रात्मक परिवर्तन संभव नहीं है तो महापरिवर्तन की स्थिति आती है। यह महापरिवर्तन गुणात्मक परिवर्तन है। इसे उदाहरण द्वारा समझा जा

सकता है— रूस की 1917 के क्रान्ति के पूर्व वहाँ पर जार के प्रति जनता में आक्रोश था। इस आक्रोश की अभिव्यक्ति देश के सभी भागों में लम्बे समय से चल रही थी। एक प्रकार से यह मात्रात्मक परिवर्तन की कमी थी। जब यह मात्रात्मक परिवर्तन अपने चरम पर पहुँच गया तो गुणात्मक (1917 की रूस की क्रान्ति) परिवर्तन से न हुई। इसी प्रकार व्यक्ति में आयु बढ़ने की प्रक्रिया एक क्षण के लिए भी नहीं रूकती। व्यक्ति प्रति क्षण उम्र में बढ़ते रहते हैं। अर्थात लोग निरंतर मात्रात्मक परिवर्तनों से गुजरते रहते हैं और जब वे प्रकृति द्वारा निर्धारित सीमा पर पहुँच जाते हैं तो उनमें गुणात्मक परिवर्तन आता है, अर्थात मृत्यु हो जाती है।

10.3.3 निषेध का निषेध का नियम

गुणात्मक रूपांतरण पुरानी दशा के निषेध से ही संभव है। निषेध किसी भी विकास का अनिबार्य और नियम संगत अवस्था है। विकास अपने अस्तित्व के पूर्ववर्ती रूपों के निषेध के बिना नहीं हो सकता, क्योंकि इसके बिना किसी नयी चीज का आविर्भाव हो ही नहीं सकता। निषेध शब्द को दर्शनशास्त्र से लिया गया है। इसका प्रयोग हीगल ने किया। उन्होंने इसका आदर्शवादी अर्थ लिया। हीगल का विचार था कि निषेध की अवधारणा विचार तथा चिन्तन में उपजती है। मार्क्स ने हीगल की आलोचना की तथा निषेध की भौतिक वादी व्याख्या दी। उसने बताया कि निषेध यथार्थ के विकास का एक अभिन्न अंग है। मार्क्स ने लिखा कि किसी भी क्षेत्र में कोई भी तत्व अपने पूर्व के अस्तित्व के स्वरूप को नकारे बिना अथवा निषेध किये बिना विकसित नहीं हो सकता है।

इस नियम का मूल द्वन्द्व है। जब तक पुरानी पद्धति से नयी पद्धति संघर्ष नहीं करती, विकास नहीं हो सकता। किसी वस्तु या घटना में जब आन्तरिक विकास होता है तो यह उस घटना के निषेध के परिणामस्वरूप होता है। निषेध बाहर से अन्दर प्रवेश नहीं करता, यह तो घटना में ही निहित होता है। घटनाएं अपने आप में ही आना विरोध करती हैं। यह अन्तर्विरोध ही पुराने निषेध या विनाश को उत्पन्न करता है। निषेध की यह प्रक्रिया पुरानी वस्तु को पूर्ण रूप से नष्ट नहीं करती। उसमें जो बढ़िया है उसे बनायी रखती है और उसी बढ़िया को श्रेष्ठ बनाती है।

10.3.4 गतिशीलता का नियम

द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद प्रकृति में गति का नियम है। जब इसको समाज के सन्दर्भ में व्याख्यायित करते हैं तो इससे सामाजिक परिवर्तन की व्याख्या होती है। इसका बुनियादी आधार यह है कि इसकी प्रकृति ठहरे हुए पानी की तरह नहीं है। इसमें रफ्तार है, बहाव है और गति है। अत: जड़ता प्रकृति की स्थायी दशा नहीं है। यह प्रकृति तो निरन्तर परिवर्तनशील हैं। इस प्रकृति में वस्तुओं का सदैव उद्‌भव और विकास होता रहता है। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद संसार और प्रकृति में सब कुछ अस्थायी, गतिशील और परिवर्तनशील मानता है। एंजिल्स ने लिखा है कि 'समस्त प्रकृति, छोटे से लेकर बड़े तक, बालू कण से लेकर सूर्य तक, वाष्काणु से लेकर व्यक्ति तक, आने और चले जाने की एक निरन्तर प्रवाह में अनवरत गति तथा परिवर्तन की स्थिति में है।"

10.4 द्वन्द्ववाद के मुख्य लक्षण

मार्क्स ने द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के कुछ लक्षण बताए हैं उनमें से कुछ प्रमुख निम्नलिखित हैं—

किसी भी समाज की वास्तविकता उसके पदार्थ में निहित है। वस्तुत: पदार्थ ही समाज का मूल है। इस दृष्टि से समाज का अंतिम स्वरूप पदार्थ है जिसका प्रत्यक्ष अनुभव किया जा सकता है। मनुष्य में जो भी चेतना है वह इस पदार्थ के कारण ही है हमारी चेतना के स्वरूप उसकी दशा और दिशा को उसके चारो तरफ फैले हुए पदार्थ ही निश्चित करते हैं। अत: यदि मानव कल्याण के लिए हम सचमुच कुछ

करना चाहते हैं तो हमें पदार्थ को समझना चाहिए। पदार्थ ही पहली और अंतिम वास्तविकता है।

मार्क्स प्रत्येक वस्तु को जड़ या चेतन, गतिशील मानकर चलते हैं। किसी भी वस्तु में दो तत्व बराबर विद्यमान होते हैं। एक तत्व वस्तु की निरन्तरता को बनाये रखता है, और दूसरा तत्व निरन्तरता का विरोध करता है। तत्व के अन्दर इन दोनों शक्तियों का संघर्ष चलता रहता है। यह संघर्ष ही वस्तु को आगे बढ़ाता है। जहाँ हीगेल विचारों के द्वन्द्व या संघर्ष के कारण विकास की व्याख्या करते हैं, वहां मार्क्स भौतिक वस्तुओं के द्वन्द्व से परिवर्तन का विश्लेषण करते हैं।

पदार्थ के अन्दर ही अन्तर्विरोध के तत्व मौजूद होते हैं। पूँजीवाद के संदर्भ में मार्क्स ने यह स्पष्ट किया है कि पूँजीवाद में ही पूंजीवाद को नष्ट करने के तत्व हैं। यह एक ऐसी व्यवस्था है जिसके अन्दर इसे नष्ट करने के लिए परस्पर विरोधी शक्तियां हैं। पूँजीवाद का क़ब्र स्वयं पूँजीवाद में निहित है। जब द्वन्द्व है तो विकासशील शक्तियाँ व्यवस्था को आगे बढ़ाती हैं।

मार्क्स का द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद अर्थव्यवस्था को बुनियादी आधार मानकर चलता है। पदार्थों में द्वन्द्व का कारण उत्पादन विधियाँ, उत्पादन सम्बन्ध और उत्पादन शक्तियां हैं। जब उत्पादन शक्तियों और उत्पादन सम्बन्धों में दुराव आ जाता है। तो यह संघर्ष की शुरूआत है। अत: जब पदार्थों में विकास की प्रक्रिया चलती है तो इसका मूल कारण उत्पादन सम्बन्धों और उत्पादन शक्तियों का संघर्ष है।

10.5 द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के प्रयोग

मार्क्स ने द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद को इतिहास पर लागू किया तो ऐतिहासिक भौतिकवाद का रूप सामने आया। इस आधार पर मार्क्स ने मानवीय इतिहास को चार युगों में बाँटा है—

(1) आदिम साम्यवादी समाज

(2) दासमूलक समाज

(3) सामन्ती समाज

(4) पूँजीवादी समाज

10.5.1 आदिम साम्यवादी समाज

आदिम साम्यवादी युग ऐतिहासिक दृष्टि से सर्वप्रथम थी। इस युग में उत्पादन के साधन अविकसित और भोंडे थे, जैसे पत्थर के औजार, तीर-कमान आदि। इन उत्पादन के साधनों का जीविका-उपार्जन के लिए संयुक्त श्रम के द्वारा ही प्रयोग किया जा सकता था। इसलिए उत्पादन के साधनों और उनसे प्राप्त होने वाली वस्तुओं पर सबका स्वामित्व होता था। समाज में वर्गों का निर्माण नहीं हुआ था और न किसी प्रकार का आर्थिक शोषण था और न व्यक्तिगत सम्पत्ति थी। उत्पादन शक्तियां अत्यधिक निम्न स्तर की थी तथा उत्पादन अनुरूप ही संबंध थे।

आदिम साम्यवादी समाज में उत्पादन शक्तियों में निरंतर विकास हुआ। उत्पादन प्रौद्योगिकी में सुधार हुआ। धातु के औजार प्रयोग में लाये जाने लगे इससे यायावर जिंदगी के जगह कृषि विकास को बढ़ावा मिला। इससे उत्पादकता बढ़ी। उत्पादकता के विकास के साथ-साथ समाज की सामुदायिक संरचना टूट कर परिवारों के रूप में फैलने लगी। ऐसी स्थिति में निजी सम्पत्ति की अवधारणा विकसित हुई तथा धीरे-धीरे उत्पादन के साधनों पर परिवारों का स्वामित्व होने लगा । यहाँ पर उत्पादन के सामुदायिक संबंधों तथा शोषक वर्ग के संभावित स्वरूपों के मध्य विरोधाभास के कारण गुणात्मक परिवर्तन हुआ। इस व्यवस्था में विपरीत शक्तियों के मध्य संघर्ष था जिसके परिणामस्वरूप आदिम साम्यवादी व्यवस्था में निषेध हुआ। इसके फलस्वरूप दास प्रथा की एक नई अवस्था अस्तित्व में आयी।

10.5.2 दास मूलक समाज

ऐतिहासिक विकास क्रम में दास मूलक समाज दूसरी अवस्था थी। खेती, पशुपालन और धातु के औजारों का आविष्कार ओर प्रचलन होने के साथ ही उत्पादन प्रणाली और उत्पादन सम्बन्ध भी परिवर्तित हो गये। इन दोनों के बीच खाई आनी प्रारम्भ हो गयी। उत्पादन शक्तियों में मात्रात्मक परिवर्तन हुए। व्यक्तिगत सम्पत्ति एकत्रित होने लगी, जिसे और विकसित करने के लिए दासों की आवश्यकता पड़ने लगी। समाज में वर्गों का निर्माण प्रारम्भ हो गया और 'दास' और 'दासों के स्वामी' के दो वर्ग हो गये। इतिहास में उत्पादन सम्बन्धों का यह स्वरूप उत्पादन शक्तियों के विकास के स्तर के द्वारा निर्धारित हुआ।

इस समाज में मालिक और दासों के मध्य विरोध मौजूद था। जब यह विरोध चरम पर पहुँचा तो समाज में गुणात्मक परिवर्तन हुआ। इससे सामन्तवादी समाज अस्तित्व में आया। विपरीतों का संघर्ष अर्थात मालिक और दासों के बीच संघर्ष के कारण हिंसक दास क्रान्तियां हुई यह दास प्रथावादी समाज का निषेध था। इसका अभिप्राय यह हुआ कि यहाँ पर सामंतवादी समाज को दास प्रथावादी समाज के निषेध के उदाहरण के रूप में देखा जा सकता है, जो कि स्वयं आदिम साम्यवादी समाज का निषेध है।

10.5.3 सामन्ती समाज

दास मूलक समाज और उसके अन्तर्विरोधों को समाप्त करने के उद्देश्य सामन्ती समाज आया। चूँकि सामंतवाद का जन्म अलग- ़अलग आर्थिक परिस्थितियों में हुआ, इसलिए संसार के अलग-अलग हिस्सों में उसका गठन अलग-अलग रूपों में हुआ।

इस युग में उत्पादन के साधनों जैसे भूमि, प्राकृतिक साधनों के स्रोत और मानवीय श्रम आदि पर कुछ सामन्तों का आधिपत्य हो गया। भूमि पर कब्जा करके सामन्तों ने बड़ी संख्या में भूमिहीन किसानों को अर्द्धदास बना दिया। निजी सम्पत्ति की धारणा इस युग में प्रबल हो गई। इस युग में भी उत्पादन शक्तियों में तीव्र मात्रात्मक परिवर्तन हुए। इन उत्पादक शक्तियों के विकास में सांमतवादी उत्पादन संबंधों से सहायता मिली। सामंतवादी भूपतियों ने भूमिहीन किसानों को शोषित एवं उत्पीड़ित किया। सामंती व्यवस्था में विपरीतों का संघर्ष, अर्थात भूमिहीन किसानों और सामंतवादी भूपतियों के बीच संघर्ष अपनी परिवपक्वता पर पहुँच गया। सामंती व्यवस्था का पतन हुआ तथा इसका निषेध पूँजीवादी व्यवस्था थी।

10.5.4 पूँजीवाद समाज

जिस प्रकार दास मूलक समाज के अन्तर्विरोध के कारण सामंती समाज आया उसी प्रकार सामंती समाज के अन्तर्विरोध के कारण पूँजीवाद समाज आया। पूँजीवाद की स्थापना के साथ उत्पादक शक्तियाँ का तीव्र गति से विकास हुआ । भाप और बिजली जैसी प्राकृतिक शक्तियों का ऊर्जा के स्रोतों के रूप में उपयोग किया जाने लगा। बड़ी-बड़ी फैक्ट्रियाँ, मिलें और खानें बनायी जाने लगी। इस व्यवस्था में बड़े-बड़े पूँजीपतियों का उत्पादन के साधनों पूँजी, मशीन भूमि, प्राकृतिक शक्ति के स्रोत पर आधिपत्य है। दूसरी ओर ये श्रमिक हैं जो अपने परिवार के सदस्यों तथा स्वयं को भूख से मरने से बचाने के लिए अपनी श्रम शक्ति के नाम मात्र की मजदूरी में, पूँजीपतियों के हाथों बेचने को विवश हो जाते हैं। मार्क्स के अनुसार यह आज तक का सबसे क्रूर युग है। मुनाफे की भूख से पागल पूँजीपति जो स्वयं हृदयहीन और क्रूर होता है, वैज्ञानिक साधनों, राज्य की मशीन, संगठित धर्म और पैसों से खरीदे बुद्धि जीवियों की सहायता से अपने शोषण को बनाए रखने और उसे और तीव्र करने में लगा रहता है। विशालकाय मिलों कारखानों में लाखों श्रमिक एक साथ मिलकर काम करते हैं जबकि उत्पादन के साधनों के स्वामियों का

एक छोटा समूह उनके श्रम के लाभ हड़प लेता है। यह पूंजीवाद का मूलभूत आर्थिक विरोधाभास है। ये विरोधाभास अथवा विपरीतों के संघर्ष, आर्थिक संकट और बेरोजगारी को जन्म देते हैं। यह स्थिति पूंजीवादी और सर्वहारा वर्गों के बीच जबरदस्त वर्ग संघर्ष का कारण बनती है। यह श्रमिक वर्ग एक समाजवादी क्रान्ति लाएगा। मार्क्स के अनुसार, यह क्रान्ति पूंजीवादी उत्पादन के संबंधों को समाप्त कर देगी तथा एक नया गुणात्मक परिवर्तन लायेगी। अर्थात साम्यवादी सामाजिक, आर्थिक संरचना स्थापित होगी। उनका मत है कि साम्यवादी समाज की स्थापना एक लम्बी क्रान्तिकारी प्रक्रिया है। पूंजीवाद के बाद सर्वहारा के अधिनायकवाद की अवस्था आयेगी। अब सर्वहारा अपनी उत्पादन पद्धतियों को अधिक तीव्रता से विकसित करेंगे। अधिनायकवादी अवस्था वस्तुतः संक्रमणकालीन अवस्था है। इस अवस्था के गुजर जाने के बाद साम्यवाद आयेगा। इस अवस्था में राज्य का अस्तित्व समाप्त हो जायेगा। अब न बुर्जआ होगा न सर्वहारा लोगों का कार्य के प्रति दृष्टिकोण बदल जायेगा और इस अवस्था में न वर्ग होंगे और न राजा। इस साम्यवादी अवस्था में प्रत्येक को अपनी क्षमता के अनुसार काम करना है, और प्रत्येक को अपनी आवश्यकता के अनुसार प्राप्त करना है।

10.6 सारांश

मार्क्स ने द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का सिद्धान्त पूँजीवाद की विसंगतियों की व्याख्या के संदर्भ में दिया था। उनका कहना है कि समाज का केन्द्रीय बिन्दु आदमी या मनुष्य है। इस मनुष्य को स्वतंत्रता मिलनी चाहिए। लेकिन उसकी यह स्वतंत्रता पूंजीवादी समाज के दबाव के नीचे कराहती है। पूँजीवाद व्यवस्था में भौतिक शक्तियों में बराबर द्वन्द्व होता है। जब तक व्यक्ति इस द्वन्द्व से मुक्त नहीं होता, उसे पूर्ण स्वतंत्रता नहीं मिल सकती। मार्क्स इतिहास के अन्य युगों में भी मनुष्य को शोषण से मुक्ति के लिए संघर्ष का समर्थन किया है। मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की मूल मान्यता यह है कि विश्व का आधार भौतिक तत्व या पदार्थ है जो कि अपने आन्तरिक स्वभाव द्वारा विकसित होकर अनेक रूप धारण कर लेता है। ह विकास भौतिक पदार्थ में स्वाभाविक रूप से निहित एक आन्तरिक विरोध द्वारा संचालित होता है। कास की यह प्रक्रिया सार्वभौम और निरन्तर है। साथ ही विकास की यह प्रक्रिया सरल और सादी ही ीं होती बल्कि एक बिन्दु पर आकर एकाएक तीव्रता से विस्फोट की भाँति होती है। यह क्रान्ति की स्थिति होती है। मार्क्स ने क्रान्ति द्वारा मनुष्य को उसके वास्तविक अधिकार की स्थापना का प्रयत्न किया है। हीगल और उनके पूर्ववर्ती विचारक भी मनुष्य को स्वतंत्रता देना चाहते थे और मार्क्स भी इसी परम्परा में व्यक्ति की स्वतंत्रता की खोज में द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के सिद्धान्त को रखते हैं।

10.7 बोध प्रश्न

प्रश्न 1) द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की विवेचना करें।

प्रश्न 2) द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के नियम क्या हैं?

प्रश्न 3) द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के लक्षण क्या हैं?

प्रश्न 4) वर्गविहीन समाज किस अवस्था में होता है?

वस्तुनिष्ठ प्रश्न —

1) द्वन्द्ववाद के विश्लेषण में यथार्थ को प्राथमिक मानते हैं—

1) मार्क्स (2) हीगल (3) स्तेपानोवा (4) दुर्खीम

2) विचारों की प्रगति के आधार पर द्वन्द्ववाद की व्याख्या की है —

1) मार्क्स (2) हीगल (3) दुर्खीम (4) इनमें से कोई नहीं

3) द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद प्रकृति में गति का नियम है—

1) काम्ट (2) हीगल (3) दुर्खीम (4) मार्क्स

4) मार्क्स के सभी विचारों को समझने का आधार है —

1) द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद (2) ऐतिहासिक भौतिकवाद

3) वर्ग संघर्ष (4) अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त

10.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

उत्तर —

(1) 1 (2) 2 (3) 4 (4) 1

10.9 संदर्भ ग्रन्थ सूची

1) ब्रजराज चौहान - समाज विज्ञान के प्रेरक स्रोत , ए.सी. ब्रदर्स उदयपुर

2) लेविस ए. कोजर - मास्टर आफ सोशोलोजिकल थाट , रावत प्रकाशन जयपुर, नई दिल्ली

3) जोनाथन एच. टर्नर - द स्ट्रक्चर आफ सोशोलोजिकल थ्योरी, रावत प्रकाशन नई दिल्ली

4) एस.एल. दोषी पी. सी. जैन - सामाजिक विचारक, रावत प्रकाशन, जयपुर, नई दिल्ली

इकाई -11 ऐतिहासिक भौतिकवाद

इकाई की रूपरेखा

11.0 उद्देश्य

11.1 प्रस्तावना

11.2 ऐतिहासिक भौतिकवाद की पृष्ठभूमि

11.3 इतिहास की अवधारणा

11.4 ऐतिहासिक भौतिकवाद क्या है?

11.5 भौतिक उत्पादन — ऐतिहासिक भौतिकवाद की अनिवार्यता

11.5.1 सामाजिक - आर्थिक संरचना

11.5.2 ऐतिहासिक भौतिकवाद की विशेषताएँ

11.6 ऐतिहासिक भौतिकवाद आर्थिक निर्धारण मात्र नहीं है

11.7 समाजास्त्रीय सिद्धान्त के रूप में ऐतिहासिक भौतिकवाद का योगदान

11.8 सारांश

11.9 बोध प्रश्न

11.10 बोध प्रश्नों के उत्तर

11.11 संदर्भ ग्रन्थ - सूची

11.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त आप:

- मार्क्स द्वारा उल्लिखित ऐतिहासिक भौतिकवाद की अवधारणा तथा इसकी प्रकृति एवं स्वरूप के बारे में उल्लेख कर सकेंगे।
- ऐतिहासिक भौतिकवाद के तथ्यपरक विश्लेषण एवं अनिवार्यता का वर्णन कर सकेंगे।
- सामाजिक परिवर्तन के विषय में मार्क्स के विचारों को स्पष्ट कर सकेंगे।
- समाजशास्त्रीय सिद्धान्त में ऐतिहासिक भौतिकवाद के योगदान के बारे में वर्णन कर सकेंगे।

11.1 प्रस्तावना

इस इकाई में समाजशास्त्र के महान चिन्तक कार्ल मार्क्स की अवधारणा ''ऐतिहासिक भौतिकवाद'' की विवेचना की गयी है। जिसने उत्पादन शक्तियों एवं उत्पादन-सम्बंधों की गवेषणा कर सामाजशास्त्रीय चिन्तन के इतिहस में क्रन्ति पैदा कर दी। ऐतिहासिक भौतिकवाद को समझने के लिए सर्वप्रथम सैद्धांतिक पृष्ठभूमि की चर्चा की गयी है। जिससे कि मार्क्स के विचारों को प्रेरणा मिली। तदुपरांत ऐतिहासिक

भौतिकवाद के उन तत्वों का उल्लेख किया गया है जिसके द्वारा इस सिद्धान्त की रचना होती है। सामाजिक परिवर्तन के वस्तुगत विश्लेषण के लिए आर्थिक-सामाजिक संरचना का ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में मूल्यांकन किया गया है। वैज्ञानिक एवं अपूर्व अवधारणा के बावजूद मार्क्स के सिद्धान्त की तर्कसंगत आलोचना प्रस्तुत की गयी है। ताकि पाठक की खोजी प्रवृत्ति को बढ़ावा मिले। निःसन्देह ही यह इकाई आपको 'एतिहासिक भौतिकवादी'' के बारे में सुगम एवं पूर्ण जानकारी उपलब्ध कराने में सहायक होगी।

11.2 ऐतिहासिक भौतिकवाद की पृष्ठभूमि

ऐतिहासिक भौतिकवाद की बुनियाद संपूर्ण मानव इतिहास के लम्बे और कठिन विकास द्वारा पूर्ववर्ती पीढ़ियों में विज्ञान के विकास द्वारा रखी जा चुकी थी। जर्मन क्लासिकीय दर्शन, राजनीतिक अर्थशास्त्र और युटोयियाई समाजवाद मार्क्सवाद के सैद्धान्तिक स्रोत बने। गेओर्ग हेगेल (1770-1831) और लुडाबिग फायरबारव (1804-1872) जर्मन क्लासिकीय दर्शन के प्रमुख प्रतिनिधि थे। हेगेल ने विकास के सिद्धान्त में ''आध्यात्मिक द्वंदवाद'' का प्रतिवादन किया, जो वास्तविक जगत के परिवर्तन की व्याख्या करने में असमर्थ था। इसके विपरीत फायरबारव ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि ''प्रकृति की व्याख्या रहस्यवादी विचारों का सहारा लिए बिना भी की जा सकती है। जैसा कि वास्तव में है। इसके बावजूद फायरबारव 'विकास की भौतिकवादी प्रक्रिया, से इतर केवल परिमाणात्मक परिवर्तनों को ही स्वीकार किया। इस प्रकार हेगेल का द्वंदवाद एवं फायरबारव का भौतिकवाद, ऐतिहासिक भौतिकवादी अवधारणा के प्रतिपादन में आरंभिक बिन्दु का काम किया।

प्रसिद्ध अर्थशास्त्री एडम् स्मिथ और डेविड रिकार्डो राजनीतिक अर्थशास्त्र का सिद्धान्त प्रस्तुत करने में मार्क्सवाद के पूर्ववर्ती थे। जिन्होंने दिखाया कि ''समाज की संपूर्ण संपदा का श्रोत श्रम है। इस प्रकार वैज्ञानिक राजनीतिक अर्थशास्त्र की निर्माण की पृष्ठभूमि तैयार हुई। मार्क्स और एंगल्स ने पूर्व में प्रतिपादित सैद्धान्तिक विरासत से प्रेरणा लेकर उसकी आलोचनात्मक ढंग से व्याख्या करके क्रांतिकारी और प्रगतिशील ऐतिहासिक भौतिकवाद का सत्यापन किया।

11.3 इतिहास की अवधारणा

विश्व इतिहास के बारे में मार्क्स ने कहा था। इतिहास केवल विजेता का गान मात्र नहीं है। इतिहास का विकास और परिवर्तन प्रकृति की भांति वस्तुगत नियमों से संचालित होता है। वास्तव में मनुष्य के जीवित रहने के लिए खाना, आवास कपड़े तथा कई अन्य वस्तुएं भूमि, जल एवं अन्य मानव इत्यादि आवश्यक हैं। इतिहास का वस्तुगत स्वरूप इन्हीं क्रिया कलापों से सम्बंधित होता है। अतः पहला एतिहासिक कार्य, इन आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु भौतिक जीवन के निर्माण की प्रक्रिया को उद्घाटित करना है। प्राथमिक आवश्यकता की पूर्ति से नई आवश्यकताएँ उत्पन्न होती है जिससे ऐतिहासिक क्रिया का उदय होता है। दूसरा, मानव सम्बन्धों में जीता है तथा-स्त्री-पुरुष, पिता-पुत्र, माता-पिता अर्थात् परिवार, आरंभ में परिवार ही पहले प्राथमिक संस्था के रूप में अस्तित्व में आता है फिर धीरे-धीरे अन्य द्वैतिय संस्थाओं का उदय होता है।

उपरोक्त प्रक्रियाएं एक साथ चलती हैं जिसके फलस्वरूप आवश्यकता की पूर्ति में लगे श्रम और जीवन का पुनर्निर्माण होता है आरंभ में परस्पर सहयोग से जीवन यापन की चेतना पैदा होती है। इसके परिणामस्वरूप प्रथमतः आदिम समूहों में कुछ चेतना विकसित, होती है। फिर आवश्यकता में वृद्धि उत्पादन में वृद्धि एवं आबादी में वृद्दि के चलते श्रम विभाजन बढ़ता है। इस अवस्था में चेतना का अवबोध

बढ़ता है और दर्शन, संस्कृति आचार संहिता व सिद्धान्त की बातें शुरू होती है। जो मानवीय दृष्टिकोण से न्यायसंगत नहीं होता, बल्कि इसमें विरोधाभास भी होता है। जहाँ सामाजिक संबंध और उत्पादन संबंधों के बीच अर्न्तविरोध स्पष्ट दिखायी देता है।

इस प्रकार इतिहास के वैज्ञानिक विश्लेषण में तीन 'तत्व बिन्दु' दृष्टिगोचर होते हैं—

(अ) उत्पादन की शक्तियाँ।

(ब) समाज की अवस्था।

(स) चेतना का विकास पारस्परिक संघर्ष से होता है।

मार्क्स ने हीगेल के प्रत्ययवादी विकास के सिद्धान्त को उलटकर भौतिकवादी विकास के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। मार्क्स का ऐतिहासिक भौतिकवाद माननीय इतिहास के विकास में भौतिक दशाओं के उत्पादन की मूलभूत और कारणात्मक भूमिका पर जोर देता है। जो इतिहास के विषय में मार्क्स के वैज्ञानिक दृष्टिकोण का परिचायक है।

11.4 ऐतिहासिक भौतिकवाद क्या है ?

ऐतिहासिक भौतिकवाद एक आनुभविक सिद्धान्त है जो समाज और इतिहास की वास्तविक दशाओं को दर्शाता है। मार्क्स और एंजिल्स की संयुक्त कृति "(द जर्मन आइडियोलाजी-1845-46)" में इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या की गयी है। जिसमें लेखक द्वय ने इस तथ्य को उजागर किया है कि समाज का विकास उन परिस्थितियों से होता है जिसमें मनुष्य रहता है। विशेष रूप से यह परिस्थितियां भौतिक होती हैं। भौतिक परिस्थितियां ही सामाजिक सम्बन्ध निश्चित करती हैं। जो जड़ नहीं बल्कि गतिशील होती है। ऐतिहासिक भौतिकवाद को समझाते हुए 'एम० सिदरोव' ने लिखा है. "ऐतिहासिक भौतिकवाद क्या है?" इस प्रश्न का उत्तर संक्षिप्त में इस प्रकार दिया जा सकता है—ऐतिहासिक भौतिकवाद वह दार्शनिक विद्या है जो एक अखण्ड व्यवस्था के रूप में समाज का तथा उस व्यवस्था के कार्य और विकास को शामिल करने वाले मुख्य नियमों का अध्ययन करती है।

इस प्रकार ऐतिहासिक भौतिकवाद मार्क्स का सामाजिक तथा ऐतिहासिक सिद्धान्त है। इसमें मार्क्स, ने हीगल द्वारा प्रस्तुत इतिहास की आर्दशात्मक व्याख्या के स्थान पर अपनी भौतिकवादी द्वन्द्वात्मक प्रणाली को सामाजिक के नियमों की खोज करने के लिए प्रयुक्त किया। मार्क्स ने मानवीय इतिहास से विस्तृत उदाहरण देकर बताया कि किस प्रकार उत्पादन की भौतिक परिस्थियों में परिवर्तन के कारण आदिम-साम्यवादी, दास, सामंती और पूंजीवादी साम्पत्तिक सम्बंध एक दूसरे के स्थान पर आते-जाते रहे हैं।

मार्क्स के ऐतिहासिक भौतिकवाद की व्याख्या के लिए तीन मुख्य बिन्दुओं में रखकर सुगमतापूर्वक समझ सकते हैं—

1) **सापाजिक विकास की प्रक्रिया नियमों द्वारा संचालित होती है**—प्रकृति और समाज में बिना कारण कोई परिवर्तन नहीं होता। मानवीय समस्याओं को भौतिक संसार के अन्य अंशों की भांति ही समझा जा सकता है। जब हम कहते हैं कि सामाजिक विकास वस्तुगत नियमों के द्वारा संचालित होते हैं तब इसके दो तात्पर्य होते हैं— प्रथम, कोई विशेष सामाजिक घटना तभी घटती है जबकि प्रकृति और समाज में उसको उत्पन्न करने वाली भौतिक परिस्थितियाँ एकत्रित हो जाती हैं। दूसरा, एक बार उपस्थित हो पर ये परिस्थितियां मनुष्य की इच्छाओं से मुक्त होकर कार्य उत्पन्न करती हैं।

मनुष्य इन परिस्थितियों को किसी सीमा तक प्रभावित कर सकता है किन्तु विकसित होने से नहीं रोक सकता। मार्क्स ने लिखा है, ''मनुष्य स्वयं अपने इतिहास का निर्माण करते हैं किन्तु वे ऐसा अपने द्वारा चुनी हुई परिस्थितियों के अन्तर्गत नहीं वरन भूतकाल में प्रदत्त परिस्थितियों में पायी जाती है।

2) **भौतिक जीवन की अवस्थाएं ही राजनीतिक एवं सांस्कृतिक विकास को निर्धारित करती हैं**—यह सामाजिक परिवर्तन जीवन के आवश्यक साधनों को प्राप्त करने की प्रणाली, जैसे भोजन, मकान, कपड़ा आदि के उत्पन्न प्रणाली के स्वरूप के अनुरूप होते हैं। मार्क्स ने लिखा है, सामाजिक सम्बंध उत्पादन शक्तियों से घनिष्ठ रूप से जुड़ गये हैं। नई उत्पादन शक्तियों के साथ-साथ उत्पादन प्रणाली में भी बदल जाती है। इस मूल परिवर्तन से समस्त सामाजिक सम्बन्धों में बदलाव आता है। जब हाथ की चक्की थी, तब सामंतवादी समाज था, भाप से चलने वाली चक्की ने पूँजीवादी व्यवस्था का निर्माण किया।

   उत्पादन प्रणाली के दो पक्ष होते हैं—पहला, उत्पादन शक्ति अर्थात उत्पादन के उपकरण, श्रम शक्ति, भूमि पूंजी आदि। दूसरा है उत्पादन के सम्बन्ध में जैसे दास व्यवस्था, सामन्तवादी अथवा पूँजीवादी सम्बन्ध।

3) **मार्क्सवाद आर्थिक धोखा नहीं है**— ऐतिहासिक भौतिकवाद के तीसरे निर्देशक तत्व के अनुसार भौतिक परिस्थितियों से ही उत्पन्न होने के पश्चात् मानवीय सिद्धान्त और संस्थाएं सामाजिक विकास को प्रभावित करते हैं। कोरी चेतना हवा में लटके रहकर सामाजिक अस्तित्व को प्रभावित नहीं कर सकती। एन्जिल्स के शब्दों में ''प्रत्येक वस्तु जो मनुष्यों को गतिशील बनाती है उनके मस्तिष्कों में होकर गुजराती है। किन्तु मस्तिष्क में इसका क्या रूप होगा, यह परिस्थितियों पर निर्भर करता है।''

11.5 भौतिक उत्पादन-ऐतिहासिक भौतिकवाद की अनिवार्यता

उत्पादन प्रणाली के दो प्रमुख पक्ष हैं—प्रथम, उत्पादक शक्ति अर्थात वे उपकरण जिनके द्वारा भौतिक मूल्यों का उत्पादन होता है। उल्लेखनीय है कि, उपकरणों का प्रयोग और उससे भौतिक मूल्यों का उत्पादन मनुष्य के अनुभव एवं श्रम कौशल द्वारा संभव होता है। ये सभी तत्व मिलकर समाज की उत्पादक शक्ति का निर्माण करते हैं। मार्क्स के अनुसार, श्रम ऐसी प्रक्रिया है जिसके माध्यम से मनुष्य अपने क्रिया-कलाप द्वारा स्वयं अपने और प्रकृति के बीच पदार्थों के विनिमय में दखल देता है, उसका नियमन और नियंत्रण करता है। मनुष्य प्रकृति के पदार्थों को ऐसे रूप में प्राप्त करने के लिए जो उसकी आवश्यकताओं के अनुकूल हों, अपने शरीर की प्राकृतिक शक्तियों-हाथ और पैर, मस्तिष्क और उंगलियों को गतिशील बनाता है। दूसरा पक्ष है मनुष्यों का उत्पादन सम्बंध। भौतिक मूल्यों के उत्पादन में मनुष्य अलग-अलग रूप में नहीं वरन् सब मिलकर समूह के रूप में भाग लेते हैं। अतः उत्पादन प्रत्येक समय और प्रत्येक परिस्थिति में सामाजिक उत्पादन होता है। इस संदर्भ में प्रत्येक व्यक्ति अन्य व्यक्तियों से किसी न किसी प्रकार का सम्बंध स्थापित कर लेता है।

उत्पादन-प्रणाली की सर्वप्रमुख विशेषता यह है कि यह अधिक समय तक एक स्थिति पर स्थिर नहीं रहती है, इसमें सदैव परिवर्तन व विकास होता रहता है। उत्पादन-प्रणाली में परिवर्तन होने से समग्र सामाजिक तथा राजनीतिक व्यवस्था का भी पुनः निर्माण अनिवार्य हो जाता है।

11.5.1 सामाजिक-आर्थिक संरचना

उत्पादन की प्रक्रिया के दौरान विकसित होने वाला 'सामाजिक सम्बंध ऐतिहासिक भौतिकवाद का महत्वपूर्ण तत्व है। मार्क्स ने लिखा है, ''उत्पादन का सामाजिक रूप चाहे जो हो, श्रमिक और उत्पादन के साधन हमेशा उसके उत्पादन बने रहते हैं किन्तु अगर ऐसी स्थिति हो कि ये दोनों एक-दूसरे से अलग बने रहे तो वे मात्र संभावित उपादान रह जाते हैं। अगर उत्पादन को जारी रहना है तो इनका एक साथ मिलना जरूरी है। यह मिलन जिस खास ढंग से सम्पन्न होता है उसी के आधार पर समाज की संरचना के विभिन्न आर्थिक युगों का विभेद होता है। इतिहास भौतिकवादी व्याख्या के अनुसार मार्क्स ने अ़ब तक के मानवीय इतिहास के चार युगों में बाँटा है—

अ) **आदिम सामुदायिक युग**—आर्थिक-सामाजिक संरचना की दृष्टि से इतिहास का यह प्रथम चरण था जो सर्वाधिक सार्वदेशिक और लम्बे समय तक कायम रहा। इस युग में उत्पादन के साधनों का जीविका-उपार्जन के लिए संयुक्त श्रम का ही प्रयोग किया जाता था। तत्कालीन समय में वर्गों का निर्माण नहीं हुआ था।

ब) **दास मूलक समाज**— इसके उपरान्त दास मूलक समाज का प्रादुर्भाव हुआ। व्यक्तिगत सम्पत्ति के संचय से समुदाय के परिवार टूटने लगे और एकांकी परिवार का निर्माण होने लगे। व्यक्तिगत सम्पत्ति अधिक विकसित करने के लिए दासों की आवश्यकता बढ़ने लगी और इस प्रकार समाज में दो वर्गों का निर्माण प्रारंभ हो गया जिसमें 'स्वामी और दास'' वर्ग थे। भौतिकवादी इतिहास के इस युग का अन्त सामन्तवादी सामाजिक संरचना की परिणति के रूप में दिखायी देता है।

स) **सामन्तवादी युग**—सामंतवादी व्यवस्था के जाने-माने ब्याख्याकार मोरिस डाब अपनी परिभाषा में समन्तवाद को हम कृषि दासता (serfdom) का पर्याय मानते हैं। इस व्यवस्था में काश्तकार को बाध्य होकर उत्पादन के एवज में निश्चित सेवाएँ देनी पड़ती थी। यदि वह सेवाएँ नहीं चाहता तो उसे नकद या कृषि उपज का एक निश्चित भाग देना पड़ता है। इस प्रकार युग में भूमि पर कब्जा करके सामंतों ने बड़ी संख्या में भूमिहीन किसानों को अर्द्ध-दास बना दिया। निजी सम्पत्ति की धारणा इस युग में और प्रबल हो गया तथा सामाजिक-आर्थिक संरचना की दृष्टि से ''सामंत और किसान'' के दो वर्ग बन गये।

(द) **पूँजीवादी युग**— पूँजीवादी समाज की मुख्य विशेषता यह है कि एक ओर उत्पादन के साधनों पर चन्द लोगों का स्वामित्व होता है। तथा दूसरी ओर जन-समूदाय उत्पादन के हर साधन से वंचित हो जाते हैं और अपना श्रम उत्पादन के साधनों के स्वामियों के हाथ बेचने को मजबूर होते हैं।

पूंजीवाद के उदय के साथ उत्पादन शक्तियाँ भी तेजी के साथ बढ़ने लगीं।अब उत्पादन बड़ी-बड़ी मशीनों से शुरू हुआ। भाप और बिजली जैसे प्राकृतिक ऊर्जा श्रोतों का प्रयोग उत्पादन कार्य में होने लगा। मार्क्स और एंजिल्स ने कम्युनिस्ट पार्टी के घोषणा पत्र में कहा है कि अस्तित्व के आरंभ में पूंजीवाद ने उत्पादन शक्तियों के विकास के लिए उससे कहीं बहुत अधिक किया जितना कि मानव इतिहास के सभी पूर्ववर्ती युगों में किया गया था। मार्क्स के अनुसार, ''आज तक का यह सबसे क्रूर युग है। मुनाफे की भूख में पागल पूंजीपति जो स्वयं हृदयहीन और क्रूर होता है। वैज्ञानिक साधनों, राज्य की मशीन, संगठित धर्म और पैसों से खरीदे बुद्धिजीवयों की सहायता से अपने शोषण को बनाये रखने और अधिक तीव्र करने में लगा रहता है।

इस प्रकार कार्ल मार्क्स ने इतिहास की भौतिकवादी अवधारणा का विभिन्न अवस्थाओं में मूल्यांकन किया जो पूर्णतया वस्तुवादी दृष्टिकोण पर आधारित है। उनका आनुभविक निष्कर्ष यही है कि जब कभी किसी देश में या भू-भाग के उत्पादन पद्धति में यानि उत्पादन शक्तियों और उत्पादन सम्बंधों में परिवर्तन आता है। अर्थात एक नयी अवस्था का प्रादुर्भाव पिछली अवस्था की कब्र पर होता है। इतिहास के इसी नियम पर मार्क्स की अध्ययन विधि कहता है कि पूंजीवाद के विरोध स्वरूप समाजवाद आयेगा। इस भौतिकवादी द्वन्द्व की अन्तिम परिणिति साम्यवादी युग के रूप में होगा। यह इतिहास का अंतिम छोर है।

11.5.2 ऐतिहासिक भौतिकवाद की विशेषताए

ऐतिहासिक भौतिकवाद की कुछ निश्चित विशेषताएं हैं जो प्रमुख रूप से निम्नलिखित है—

- ऐतिहासिक भौतिकवाद सामाजिक आचार और तमाम विविध सामाजिक विज्ञानों के लिए समाज की संरचना और विकास के अन्तर्निहित तर्क की सामान्य कल्पना को आवश्यक मानते हैं। यथा, राज्य का निरूपण करते समय यह सिद्धान्त राज्य के सामान्य स्वरूप, उसके सामाजिक कार्यों उसकी उत्पत्ति की परिस्थितियों तथा उसके लोप की परिस्थितियों का पता लगाता है।

- किसी सामाजिक संरचना की विचारधारा उसके अर्न्तविरोधों का सामान्य स्वरूप और उनके समाधान की विधियाँ उक्त सामाजिक रूप के विकास का ऐतिहासिक रुझान का अध्ययन ऐतिहासिक भौतिकवाद की महत्वपूर्ण विशेषता है।

- ऐतिहासिक भौतिकवाद एक सामाजशास्त्रीय अवधारणा के साथ-साथ अपना दार्शनिक पक्ष भी प्रस्तुत करता है। क्योंकि यह जीव-जगत अथवा अस्तित्व और चेतना के बीच सम्बन्धों का उत्तर खोजने का प्रयास करता है।

- ऐतिहासिक भौतिकवाद ऐतिहासिक प्रक्रिया के आन्तरिक तर्क का तथा विविध संगठनों के विविध पहलुओं की परस्पर क्रिया और परस्पर संबंधों के मुख नियमों का उद्‌घाटन करता है। इस प्रकार यह अन्य सामाजिक विज्ञानों के लिए सामान्य सिद्धान्त और विधि प्रस्तुत करता है।

11.6 ऐतिहासिक भौतिकवाद आर्थिक निर्धारण मात्र नहीं है

समाज के विकास में भौतिक दशाओं को अत्याधिक महत्व देने से समान्यत: आप को ज्ञात होगा कि आर्थिक दशाएं ही सम्पूर्ण रूप में समाज के विकास को निश्चित करती है। परंतु इसके विपरीत हम यहाँ देखेंगे कि ऐतिहासिक भौतिकवाद आर्थिक निर्धारण मात्र नहीं है। मार्क्स ने माना कि संस्कृति के बिना किसी भी प्रकार का उत्पादन संभव नहीं है। उसके अनुसार उत्पादन के तरीकों में उत्पादन के सामाजिक संबंध भी शामिल होते हैं। ये संबंध आधिपत्य और अधीनता के होते हैं। जीवन तथा भौतिक साधनों के उत्पादन को कामगार लोगों की संस्कृति, रीति-रिवाजों को समझे बिना नहीं समझा जा सकता है। कामगार लोग वे हैं, जिन पर शासक शासन करते हैं। कामगार वर्ग की संस्कृति की समझ हमें उत्पादन के तरीके एवं सम्बंधों की समझ में सहायता देती है।

वर्ग वह श्रेणी है जो कालांतर में निर्मित मानवीय सम्बंधों को व्यक्त करता है। इस श्रेणी में वे तरीके भी शामिल हैं, जिनसे प्रभावित होकर लोग अपने सामाजिक सम्बंधों के प्रति जागरूक हो जाते हैं। इसके विपरीत वर्गीय हित को लेकर परस्पर संघर्ष भी होते हैं। इसके फलस्वरूप वर्गीय हित के आधार पर अपनी-अपनी संस्थाएं, विचारधारा एवं वर्ग को विशुद्ध रूप से आर्थिक श्रेणी में रखना असंभव है। एंगेल्स ने लिखा है, ''राजनीति, कानून, दर्शन धर्म, साहित्य, कला, आदि का विकास आर्थिक विकास पर निर्भर करता है। परंतु ये सब एक दूसरे को और आर्थिक आधार को भी प्रभावित करते हैं।''

11.7 समाजशास्त्रीय सिद्धान्त के रूप में ऐतिहासिक भौतिकवाद का योगदान

ऐतिहासिक भौतिकवाद के सिद्धान्त में समाजशास्त्र के क्षेत्र में कापरनिकसीय क्रान्ति पैदा कर दी। समाज की प्रकृति एवं अध्ययन के समुचित तरीकों पर वैज्ञानिक विधि से विश्लेषण कर मार्क्स ने वस्तुवादी अवधारणा प्रस्तुत की। समाज की संरचना को समझने के लिए उसने नया तत्व ''उत्पादन के तरीके एवं उत्पादन सम्बन्धों'' के रूप में दिया। यह तत्व सामाजिक वर्गों के बीच पाये जाने वाले संबंधों से निकलता था। ये संबंध, उत्पादन के तरीकों से निर्मित होते हैं। ऐतिहासिक भौतिकवाद की गवेषणा ने सामाजिक परिवर्तन के कारणों की नई यर्थाथवादी एवं वैज्ञानिक व्याख्या प्रस्तुत किया। इसके अलावा ऐतिहासिक भौतिकवाद ने समाजशास्त्र में अन्वेषण की एक नयी पद्धति नई अवधारणाएं तथा अनेक नई परिकल्पनाएं प्रारंभ की जो कि समाज के विकास एवं विनाश तथा विशिष्ट स्वरूपों की व्याख्या करती है। मार्क्स ने इतिहास एवं समाज की व्याख्या में मनुष्य को केन्द्र में रखकर सामाजिक दशा की वास्तविक तस्वीर प्रस्तुत की।

मार्क्स द्वारा ऐतिहासिक भौतिकवाद की अवधारणा के मूल में व्यवहारिक उद्देश्य अर्न्तनिहित था। वह एक ऐसे समाज की स्थापना करना चाहता था जिसमें शोषण युक्त, सहकारी उत्पादन एवं समानता पर आधारित वितरण व्यवस्था कायम हो।

11.8 सारांश

मार्क्स एक प्रत्यक्षवादी विचारक थे। उन्होंने अपनी अध्ययन विधि का आधार इतिहास की भौतिकवादी अवधारणा को बनाया। हेगेल के आध्यात्मिक द्वन्द्ववाद के विपरीत मार्क्स ने भौतिक द्वन्द्ववाद आधार पर ऐतिहासिक भौतिकवाद'' सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। जिसमें वे मुख्य रूप से उत्पादन पद्धतियों को केन्द्रबिन्दु बनाया। मार्क्स ने ऐतिहासिक भौतिकवाद के केन्द्रिय विषय उत्पादन-पद्धति में दो प्रक्रियाओं को शामिल किया।

उत्पादन शक्तियां और उत्पादन सम्बंध मार्क्स यह स्वीकार करता है कि ''उत्पादन प्रणाली में परिवर्तन होने से समग्र रूप से सामाजिक-राजनीतिक एवं आर्थिक प्रणाली में बदलाव उत्पन्न होता है। मार्क्स ने ऐतिहासिक भौतिकवाद के विवेचन में इतिहास की वैज्ञानिक अवधारणा प्रस्तुत की। उन्होंने व्यक्ति एवं स्थान केन्द्रित इतिहास की प्रकृति को उलट-फेर कर भौतिकवादी स्वरूप दिया जो वस्तुपरक दृष्टि से जनवादी इतिहास पर जोर देता है। इतिहास की इसी अवधारणा के आधार पर मार्क्स ने आदिम साम्यवादी, दास-स्वामित्व सामन्त, पूंजीवाद और समाजवादी पांच युगों का विभाजन प्रस्तुत किया जहां प्रत्येक काल में दो वर्ग शोषक-शोषित या बुर्जुवा-सर्वहार वर्ग का संघर्ष दिखायी देता है।

11.9 बोध प्रश्न

प्र०-1 ''इतिहास केवल विजेता का ज्ञान नहीं है'' उक्त कथन है—

अ) मार्क्स का

ब) हेगेल का,

ग) एडम स्मिथ का

द) कोई नहीं

प्र-2 ऐतिहासिक भौतिकवाद सिद्धान्त क प्रतिपादन में मार्क्स को प्रारंभिक प्रेरणा किनसे मिली—

अ) फॉयर बाख

ब) हेगेल

स) दोनों

द) कोई नहीं

प्र०-3 निम्न में से कौन सा कथन ऐतिहासिक भौतिकवाद के लिए स्वीकार्य नहीं है—

अ) सभी प्राणियों में मानव प्राणी शास्त्रीय रूप से सर्वाधिक निर्धारित जीव है।

ब) मानव प्रकृति मूलतः दुष्ट है।

स) वर्ग समाज में जीवन व्यतीत करने में मनुष्य सदैव प्रसन्न रहते हैं।

द) तीनों

प्र०-4 निम्नलिखित कथन में कौन-सा ऐतिहासिक भौतिकवाद की अनिवार्य विशिष्टता है ?

अ) समाज प्राणियों की भाँति जन्म लेता, पढ़ता तथा परिवर्तित होता है।

ब) समाज में अनिवार्य- आन्तरिक विरोधाभासों के फलस्वरूप परिवर्तन होते हैं।

स) समाज एक छोटी इकाई के रूप में प्रारंभ होता है तथा समय के साथ आकार में बढ़ता है।

द) समाज अपने नियत स्वभाव से विकसित होता है।

11.10 बोध प्रश्नों के उत्तर

उत्तर (1) - अ, (2)- स., (3) - द (4) - ब

प्र०-1 समाजशास्त्रीय क्षेत्र में ऐतिहासिक भौतिकवाद के महत्वपूर्ण योगदान की विवेचना कीजिए ?

प्र०-2 ऐतिहासिक भौतिकवाद के प्रमुख तत्वों उत्पादन शक्ति एवं उत्पादन सम्बंधों की समीक्षा कीजिए?

प्र०-3 क्या इस तर्क के आप सहमत है कि ऐतिहासिक भौतिकवाद आर्थिक निर्धारणावाद नहीं है। पक्ष या विपक्ष में अपने तर्क दीजिए।

प्र०-4 सामाजिक परिवर्तन के सिद्धान्त के रूप में क्या ऐतिहासिक भौतिकवाद एक पूर्ण दृष्टिकोण है?

11.11 संदर्भ ग्रन्थ-सूची

- समाज विज्ञान की प्रेरक श्रोत — ब्रजराज चौहान, प्रकाशक ए. सी. ब्रदर्स उदयपुर
- बोटोमोर टॉम, 1975 मार्क्सवादी समाजशास्त्र अनुवादक : सदाशिव द्विवेदी, मैक्मिलन
- सांस्कृतायन, राहुल, 1954, कार्लमार्क्स, किताब महल, इलाहाबाद।
- ESO-03 समाजशास्त्रीय सिद्धान्त।

  इन्दिरागांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय, सामाजिक विज्ञान विद्यापीठ
- मार्क्सवाद-लेनिनवाद क्या है? लेखक द्वय व० बुजूयेव, व० गोरों दनोव अनुवाद: ददन उपाध्याय, प्रगति प्रकाशन 1988.
- सामजिक विचारक — लावनिया एवं रिसर्च प्रकाशन, जयपुर

इकाई 12 वर्ग और वर्ग संघर्ष

इकाई की रुपरेखा

12.0 उद्देश्य

12.1 प्रस्तावना

12.2 वर्ग की अवधारणा

12.2.1 वर्ग निर्धारण के प्रमुख आधार

12.2.2 इतिहास में समाजों का वर्गीकरण एवं वर्गों का उदय

12.2.3 वर्ग संघर्ष एवं क्रांति

12.3 अलगाव की अवधारणा

12.4 अतिरिक्त मूल्य तथा अतिरिक्त श्रम

12.5 सारांश

12.6 बोध प्रश्न

12.7 बोध प्रश्नों के उत्तर

12.8 संदर्भ ग्रन्थ सूची

12.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात आप:

- वर्ग की अवधारणा का उल्लेख कर सकेंगे।
- वर्ग संरचना हेतु विभिन्न आधारों की विवेचन कर सकेंगे।
- वर्ग संघर्ष के कारणों एवं इतिहास में निर्मित विभिन्न वर्गों की सूची बना सकेंगे।
- अलगाव की अवधारणा की विवेचना कर सकेंगे।
- अतिरिक्त मूल्य तथा अतिरिक्त श्रम के सम्बोधों एवं घटनाओं का वर्णन कर सकेंगे।

12.1 प्रस्तावना

इसके पहले के दो इकाइयों में द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद और ऐतिहासिक भौतिकवाद के मार्क्स के विचारों की व्याख्या की गयी है। इस इकाई में वर्ग और वर्ग संघर्ष पर ध्यान केन्द्रित किया गया है। मार्क्स का समाजशास्त्र वास्तव में वर्ग संघर्ष का समाजशास्त्र है उनकी इतिहास की अवधारणा में वर्ग संघर्ष का प्रस्ताव केन्द्रीय प्रस्ताव है मौलिक अवधारणा है । मार्क्स के अनुसार वर्ग संघर्ष वह शक्ति है जो इतिहास के पहियों को पूरी ताकत से आगे धकेलती है। यह दबाव पूंजीवादी समाज को क्रान्ति ही और ले जाता है और इसी परिणिति एक ऐसे समाज में होती है जहां न तो प्रतिरोध होता है न अन्तर्विरोध न वर्ग और न राज्य।

12.2 वर्ग की अवधारणा

कार्ल मार्क्स ने वर्ग की कोई स्पष्ट एवं प्रत्यक्ष परिभाषा नहीं दी है। यद्यपि वर्गों का स्वरूप उनके मन मस्तिष्क में स्पष्ट था। मार्क्स के अनुसार किसी भी युग में, जीविका उपार्जन की प्राप्ति के विभिन्न साधनों के कारण मनुष्य पृथक पृथक वर्गों में विभाजित हो जाते हैं और प्रत्येक वर्ग में एक विशेष वर्ग चेतना उत्पन्न हो जाती है दूसरे शब्दों में वर्ग का जन्म उत्पादन के नवीन तरीकों के आधार पर होता है। जैसे ही भौतिक उत्पादन के तरीकों में परिवर्तन होता है वैसे ही नए वर्ग का उद्भव होता है इस प्रकार एक समय की उत्पादन प्रणाली ही उस समय के वर्गों की प्रकृति निश्चित करती है।

समाज़ में धनी और निर्धनों में शोषकों और शोषितों में विभाजन वर्गीय विभाजन है। यदि समाज का एक हिस्सा जमीन का मालिक है तो दूसरा उस पर कड़ी मेहनत करता है इसका तात्पर्य यह है कि जमींदार और किसान दो विरोधी वर्ग हैं। यदि लोगों का एक समूह कल कारखानों का मालिक है और दूसरा इन मिलों और फैक्टरियों में काम करता है तो इसका अर्थ यह है कि ये पूंजीपतियों और मजदूरों के दो वर्ग हैं। स्पष्ट है कि वर्ग लोगों के ऐसे बड़े बड़े समूह हैं जो उत्पादन साधनों के प्रति अपने संबंध , श्रम के सामाजिक संगठन में अपनी भूमिका हस्तान्तरण की पद्धति और सामाजिक संपदा में अपने अंश की दृष्टि से एक दूसरे से भिन्न होते हैं।

12.2.1 वर्ग निर्धारण के प्रमुख आधार

किसी भी सामाजिक वर्ग के निर्धारण में दो प्रमुख आधार होते हैं — (1) वस्तुपरक आधार (2) व्यक्तिपरक आधार ।

(1) वस्तुपरक आधार (Objective Basis) — उत्पादन के साधनों के साथ जब व्यक्तियों के समान संबंध होते हैं तो ऐसे समूह को वर्ग कहा जाता है उदाहणार्थ पूंजीवादी व्यवस्था में सभी पूंजीपतियों का उत्पादन के साधनों पर स्वामित्व होता है जबकि सभी मजदूर अपने जीविकोपार्जन के लिये श्रम पर आश्रित होते हैं। इस व्यवस्था में दो वर्ग होता है (1) पूंजीपति वर्ग तथा (2) श्रमिक वर्ग । इस संदर्भ में मार्क्स का एक प्रसिद्ध कथन है कि वर्ग अपने आप में ही पर्याप्त नहीं है, अपितु उसे एक सचेत वर्ग होना चाहिए। मार्क्स के अनुसार किसी सामाजिक वर्ग के वस्तुपरक आधार ही उसके अपने आप में वर्ग होने का निर्धारण करते हैं वर्ग का अपने आप में वर्ग होने को किसी भी सामाजिक वर्ग का वस्तुपरक आधार माना जाता है मार्क्स ने वस्तुपरक आधारों के अलावा व्यक्तिपरक आधार को भी समान महत्व दिया।

(2) व्यक्तिपरक आधार — किसी भी समाज में अनेक समूह होते हैं, यदि इन समूहों को हम पहले आधार पर ही वर्ग मान लें तो ऐसे वर्ग वर्ग न होकर केवल संवर्ग होगे। अत: वर्ग निर्धारण में व्यक्तिपरक आधार अत्यधिक महत्वपूर्ण है। इस प्रकार किसी भी वर्ग में सदस्यों के उत्पादन साधनों से न केवल एक से संबंध होते हैं, अपितु इसमें इस बात की जागरूकता भी पाई जाती है कि वे एक ही वर्ग के सदस्य हैं। वर्ग के बारे में यह एक सी चेतना कि वे एक ही वर्ग के सदस्य हैं किसी भी वर्ग के सदस्यों को सामाजिक क्रिया हेतु संगठित करने का आधार बन जाती है। अपने वर्ग हितों के लिए संगठित।

12.2.2 इतिहास में समाजों का वर्गीकरण एवं वर्गों का उदय

मार्क्स उत्पादन प्रणाली को आधार बनाकर इतिहास में पाए जाने वाले विभिन्न समाजों में वर्ग व्यवस्था को स्पष्ट किया है। मार्क्स के अनुसार आदिम सामुदायिक समाज से लेकर अब तक कुछ निश्चित वर्ग रहे हैं। ये निम्नलिखित है—

(1) आदिम सामुदायिक समाज इतिहास में मानवीय विकास की दृष्टि से प्रथम अवस्था थी। इस समाज में रहने वाले लोगों के बड़े बड़े समूह 'गोत्र' पर आधारित समुदाय और कबीले थे। वे अपने निवास क्षेत्र, संख्या और भाषा की दृष्टि से एक दूसरे से अलग अलग होते थे। सामाजिक उत्पादन में स्थान की दृष्टि से इन वर्गों के विभिन्न सदस्यों में कोई खास अन्तर नहीं हुआ करता था। पहले श्रम विभाजन स्त्रियों पुरूषों तथा विभिन्न उम्र के लोगों के बीच हुआ और बाद में जमीन जोतने वाले, पशुओं का पालन करने वाले और शिकार पर जीवनयापन कबीलों के बीच हुआ। यह अवस्था मनुष्य के संगठन का सबसे सरलतम एवं निम्नतम स्वरूप थी। उत्पादन की शक्तियां निम्नस्तरीय थी। उपयोग में लाये जाने वाले औजार साधारण किस्म के यथा भाला, लाठी, धनुष एवं तीर जैसे होते थे। इसलिये किसी व्यक्ति अथवा समूह का औजारों पर एकाधिकार नहीं होता था। यह एक ऐसी अवस्था थी जिसमें कोई किसी का मालिक अथवा सेवक नहीं था। धीरे धीरे उत्पादन शक्तियां विकसित हुईं। इसके फलस्वरूप अतिरिक्त उत्पादन होने लगा। इस अतिरिक्त उत्पादन के कारण कुछ लोगों के पास निजी सम्पत्ति संचित होने लगी और आदिम समता के स्थान समाज में सामाजिक असमानता ने ले लिया। इसी अवस्था में दास तथा मालिकों के परस्पर विरोधी वर्ग अस्तित्व में आये।

(2) मार्क्स ने ऐतिहासिक विकास की दूसरी अवस्था को दास स्वामित्व अवस्था बताया है। इस समाज में दास स्वामित्व के बड़े पैमाने के प्रचलन के पहले और दासमूलक समाज के प्रारम्भिक अवस्था में अधिकांश लोग समुदायों में रहने वाले किसान थे। वे श्रम के औजारों मवेशी, आवास-गृहों, बीजों आदि के मालिक थे, समुदाय के सदस्यों की हैसियत से उन्हें जोत की जमीन पाने का अधिकार था तथा वे सामुदायिक चारागाहों आदि का उपयोग करते थे। स्वतंत्र किसान अपने आवंटन की सीमाओं के भीतर स्वयं अपने श्रम का संगठनकर्ता था।

इस अवस्था में आदिम औजारों में सुधार हुआ। भाला, लाठी और पत्थर के औजारों की जगह लोहे और कांसे के औजारों का प्रयोग होना शुरू हो गया। उत्पादन की शक्तियों में विकास के कारण उत्पादन के संबंधों में परिर्वतन आये। ये संबंध इस बात पर आधारित थे कि मालिकों का गुलामों, उनके द्वारा उत्पादित वस्तुओं ओर उत्पादन के साधनों पर पूर्ण स्वामित्व था। इतिहास में पहली बार मनुष्य के द्वारा मनुष्य का शोषण होना शुरू हुआ और इसी के साथ वर्ग संघर्ष का इतिहास भी अस्तित्व में आया। समय के साथ साथ मालिक वर्ग और दास वर्ग में वर्ग संघर्ष चरम सीमा तक पहुंच गया जिसके फलस्वरूप ह्रास क्रान्तियां हुई।

(3) इतिहास के विकास की तीसरी अवस्था सामंती समाज की थी। मनुष्य ने इस अवस्था में अपनी उत्पादन प्रणाली को और विकसित कर लिया। इस अवस्था में मानव श्रम के अतिरिक्त उर्जा के नये स्रोत प्रयोग में लाने शुरू कर दिये गये जिसमें जल और वायु प्रमुख थे। नये मशीनों और उपकरणों का आविष्कार हुआ तथा पुराने उत्पादन शक्तियों को और उन्नत बनाने का प्रयत्न किया गया। नये उत्पादन शक्तियों के विकास ने उत्पादन के सामंती संबंधों की स्थापना की। ये सामंती संबंध भूपतियों और भूमिहीन किसानों के मध्य स्थापित हुये। इन संबंधों में महत्वपूर्ण तथ्य यह था कि भूमिहीन कृषकों पर भूपति सामंतों का पूर्ण प्रभुत्व था और ये सामंत इन कृषकों का शोषण करते थे। कृषक सामन्तों के लिये कार्य करने को विवश थे। कृषक उनकी जमीन पर या उनके घरों पर काम करते थे। भू स्वामी किसानों द्वारा पैदा किये जाने वाले अतिरिक्त उत्पादन का अधिकांश हिस्सा हड़प जाते थे। समय के साथ साथ नये आविष्कार हुये जिससे उत्पादन की शक्ति में परिवर्तन आया। बड़े पैमाने पर मिलों और कारखानों की स्थापना हुई। इसके कारण बड़ी संख्या में लोग एक स्थान पर एकत्रित हुए उत्पादन की नई शक्तियों ने उत्पादन के संबंधों को भी परिवर्तित किया, जिसके फलस्वरूप सामंतवादी उत्पादन के तरीके का पूंजीवादी उत्पादन के तरीके में परिवर्तन हुआ।

(4) उत्पादन प्रणाली में बदलाव के साथ सामन्तवादी व्यवस्था का अवसाद एवं पूंजीवादी समाज के नये वर्गों का अस्तित्व विकसित होने लगा था। प्रथम था पूंजीपति वर्ग, जिसका गठन उद्योग और कृ में उत्पादन के साधनों के स्वामी और काम करने वाले सम्पत्ति धारियों को लेकर गणित होता है। पूंजीवाद समाज का दूसरा प्रधान वर्ग होता है। सर्वहारा । यह पूंजीपति वर्ग का विरोधी होता है। सर्वहारा वर्ग का गठन भाड़े के मजदूरों को लेकर होता है जो उत्पादन के साधनों के स्वामित्व से वंचि होते हैं पूंजीपति वर्ग द्वारा सर्वहारा वर्ग का सामान्यत: शोषण किया जाता है। क्योंकि इनके पास उत्पादन के साधन पर स्वामित्व नहीं होता बल्कि श्रम बेचकर ही अपनी जीविका अर्जित करने के लिए पूंजीपति के यहां काम करने को विवश होता है।

इस प्रकार कार्ल मार्क्स के अनुसार समाज में मूल रूप से आर्थिक स्तर पर दो प्रमुख वर्गों का अस्त्वि रहा है। इन द्वय वर्गो की प्रमुख विशेषता यह होती है कि इनमें से एक वर्ग के हाथों में उत्पादन के साधन केन्द्रीकृत होते हैं और दूसरे वर्ग के पास ये नहीं होते। इसी भावाभाव के बल पर अमीर व गरीब वर्ग का शोषण करता है। और यही सें शुरू होता वर्ग संघर्ष।

12.2.3 वर्ग संघर्ष

सभ्यता के आरम्भ में ऐसा भी समय था जब कोई वर्ग नहीं था। आदिम समाज में लोग छोटे कम्यून में रहते थे। सबको समान अधिकार थे। सम्पत्तियों में उनका स्वामित्व भी साझा था। वर्गहीन आदिम प्रणाली हजारों वर्षों की अवधि में प्रभुत्वशील बनी रही। अब प्रश्न उठता है कि वर्गों की उत्पत्ति क और कैसे हुयी? कालांतर में आदिम समाज का स्तरीकरण शुरू हुआ। कुछ लोग धनी बन गये और जमीन, पशुओं तथा उत्पादन साधनों पर कब्जा करके उनके स्वामी बन गये। अन्य लोग जो गरीब थे धनिकों के लिए काम करने को विवश थे और धीरे-धीरे दास बन गये। इस प्रकार हम देखते हैं कि सामाजिक श्रम विभाजन की व्यवस्था में आय के जितने श्रोत हो सकते हैं वे सभी सामाजिक वर्गों की उत्पत्ति के लिये उत्तरदायी हैं।

मार्क्सवादी विचारधारा के चिंतक ब्लादिमीर इल्यानेविच लेनिन ने वर्ग सम्बन्धी परिभाषा इस प्रकार द है— ''वर्ग लोगों के ऐसे बड़े समूहों को कहते हैं जो सामाजिक उत्पादन की इतिहास द्वारा निर्धारित किसी रीति में अपने स्थान की दृष्टि से उत्पादन के साधनों के साथ अपने संबंध की दृष्टि से श्रम के संगठन में अपनी भूमिका की दृष्टि से और फलस्वरूप सामाजिक संपदा के जितने हिस्से के वे मालिव होते हैं उसके परिमाण तथा उसे प्राप्त करने की विधि की दृष्टि से एक दूसरे से भिन्न होते हैं। सामाजिक अर्थ प्रणाली की एक निश्चित पद्धति में अलग अलग स्थान ग्रहण करने के कारण वर्ग लो के ऐसे समूह होते हैं जिनमें एक दूसरे के श्रम का वह शोषण कर सकता है।''

कार्ल मार्क्स ने वर्गों के पारस्परिक संघर्ष को मानव के ऐतिहासिक विकास की एक अधारभूत प्रक्रिया माना है। जिसमें उन्होंने वर्गों को नकारात्मक एवं विपरीतार्थक संबंधों में देखते हुये इनके शोषण तत्व स्पष्ट करने का प्रयास किया है। मार्क्स के अनुसार — ''वर्ग संघर्ष एक ऐसी प्रक्रिया है जो आदिम सामाजिक व्यवस्था के विघटन, उत्पादन के औजारों में सुधार एवं फलत: अतिरिक्त उत्पादन पर ए समूह विशेष के अधिकार से सृजित होती है तथा कालान्तर में विभिन्न स्वरूपों में परिलक्षित होती इस प्रकार मार्क्स ने अपने 'ऐतिहासिक भौतिकवाद' के सिद्धान्त में क्रमिक रूप से वर्ग संघर्ष के स्वर को स्पष्ट किया।

वर्ग संघर्ष के प्रमुख स्वरूप — मार्क्स एवं ऐंगल्स के अनुसार वर्ग संघर्ष के तीन प्रमुख स्वरूप है

आर्थिक संघर्ष — संघर्ष का यह स्वरूप पूंजीपति एवं श्रमिकों के विपरीत हितों से विकसित होता है पूंजीपति के हित अपने मुनाफे की हिफाजत करना एवं उन्हें बढ़ाने का प्रयास करना होता है जबकि इसके विपरीत श्रमिक वर्ग उचित श्रम प्राप्त करना, सामाजिक बीमें द्वारा अपने आपको सुरक्षित करना

पेंशन, अपंगावस्था भत्ता इत्यादि प्राप्त करना होता है। दोनों वर्णों के बीच यह कश मकश बराबर चलती रहती है। पूंजीपति श्रमिकों को कम से कम देना चाहता है जबकि श्रमिक पूंजीपति वर्ग से अधिक से अधिक लेना चाहता है। परस्पर समान हितों के आधार पर दोनों वर्गों के बीच यह संघर्ष जारी रहता है।

राजनीतिक संघर्ष — उपरोक्त वर्ग संघर्ष आर्थिक संघर्ष से प्रारम्भ होकर राजनीतिक स्वरूप ग्रहण कर सकता है। ऐसी परिस्थिति में राज्य और दमनकारी वर्ग परस्पर सांठ गांठ कर श्रमिक के दमन पर आमादा हो सकते हैं। यदि इस प्रकार की स्थिति उत्पन्न होती है। तो श्रमिक बाध्य होकर राजनीतिक संघर्ष की दिशा में बढ़ते हैं। मार्क्स के अनुसार क्रान्तिकारी संघर्ष ही राजनीतिक सत्ता में वास्तविक संरचनात्मक परिवर्तन कर सकता है और उसे श्रमिक वर्ग को सौंप सकता है।

वैचारिक संघर्ष — वर्ग संघर्ष का वैचारिक स्वरूप राजनीतिक स्वरूप से अत्यधिक घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित है वर्ग अपने सिद्धान्तकारों के जरिये ही अपनी राजनीति के लक्ष्यों तथा कार्य भारों की आवश्यकता तथा समीचीनता प्रमाणित करती है। हर राजनीति के मूल में भौतिक हित निहित होते हैं किन्तु उसके लक्ष्यो, कार्यभारों, रणनीति तथा कार्यनीति सैद्धान्तिक आधार विचारधारा ही प्रदान करती है इस प्रकार वैचारिक संघर्ष एक प्रकार से राजनीति की दिशा निर्देशक हैं।

वर्ग संघर्ष एवं क्रान्ति — मार्क्स यह स्वीकार करता है कि वर्ग संघर्ष के कारण ही क्रान्ति संभव होगी और समाजवाद आयेगा। वर्ग संघर्ष में मार्क्स ने सर्वहारा को एक उभरते हुए वर्ग के रूप में माना। उसका दावा था कि एक वर्ग का दूसरे वर्ग पर विजित होना। समाज की प्रगति का आधार रहा है। मार्क्स के जीवन का उद्देश्य ही सर्वहारा वर्ग हो प्रभावी बनाया था। पूंजीपति व्यवस्था को समाप्त करने के लिए मार्क्स ने समाज व इतिहास को नियमित करने के तरीकों पर विशेष ज्ञान अर्जित किया।

यहां यह बताना जरूरी है कि वर्ग संघर्ष का विचार सबसे पहले मार्क्स ने ही नहीं दिया था। सेंट साईमन ने भी मानव इतिहास को सामाजिक वर्गों के मध्य हो रहे संघर्ष के रूप में देखा था। एक फ्रांसीसी राजनैतिक आंदोलन कर्ता बाबेक एवं उसके शिष्य ब्लाकी तथा एक जर्मन दर्जी बाइयलिंग ने सर्वहारा वर्ग की अधिनायकता की जमकर वकालत की थी। मार्क्स ने सभी विचारों का बारीकी से विश्लेषण कर एक नया सामाजिक वर्ग संघर्ष का विश्लेषण प्रस्तुत किया। मार्क्स के अनुसार सर्वहारा वर्ग सामाजिक संस्तरण में सबसे निम्न वर्ग है। वस्तुतः सर्वहारा वर्ग के उद्धार में ही मानव जाति का उद्धार है।

मार्क्स द्वारा प्रस्तावित क्रान्ति का स्वरूप उनकी निम्नलिखित मान्यताओं पर आधारित है।

1. क्रान्ति के फलस्वरूप पूंजीपति वर्ग समाप्त हो जायेगा।
2. उत्पादन की सर्वथा नवीन व्याख्या की स्थापना होंगी।
3. इस प्रकार वर्ग विहिन एवं राज्य विहिन समाज की स्थापना का मार्ग प्रशस्त होगा।
4. यह समाज शोषण मुक्त समाज होगा।
5. क्रान्ति के पश्चात सर्वहारा वर्ग सर्वशक्तिमान होगा।

इस प्रकार सर्वहारा वर्ग के नेतृत्व में वर्ग संघर्ष के द्वारा राज्य तन्त्र पर अधिकार हो जाने के बाद समाजवाद का युग प्रारम्भ होगा। मार्क्स के अनुसार राज्य शोषक वर्ग के हाथों में दमन का बहुत बड़ा

हथियार होता है। क्रान्ति के बाद भी सामंतवाद और पूंजीवाद के दलाल प्रति-क्रान्ति का प्रयत्न करते हैं इसलिए पूंजीवाद से समाजवाद में जाने के संक्रमणकाल में सर्वहारा के अधिनायकत्व की अस्थायी अवस्था होगी। समाजवाद की स्थापना के बाद शोषक वर्ग समाप्त हो जाता है और प्रत्येक व्यक्ति को श्रम के अनुसार उत्पादन का भाग मिलने लगता है और वर्गों एवं वर्ग संघर्ष का अन्त हो जायेगा।

12.3 अलगाव की अवधारणा

'अलगाव' अर्थात एलिनिएशन (Alienation) का अर्थ है 'अलग होना', मार्क्स के पूर्व अनेक विचारकों ने 'अलगाव' शब्द का भिन्न-भिन्न अर्थों में प्रयोग किया है। किन्तु मार्क्स ने प्रथम बार 'अलगाव' शब्द को समाजशास्त्रीय अर्थ प्रदान किया । मार्क्स के अलगाव के सिद्धान्त का आधार पूंजीवादी समाज में एक इकाई के रूप में मनुष्य की घटती हुई महत्ता है। अपनी पुस्तक केपिटल में मार्क्स ने स्थापित किया है कि पूंजीवाद के विकास के साथ जीवन की दशाओं में बहुत तेजी से परिवर्तन आया है। ज्यों-ज्यों पूंजीवाद का विस्तार हुआ है त्यों-त्यों कारखानों और मिलों में काम करने वाले श्रमिकों में अलगाव आया है। मिलों के धुएं के गुबार के नीचे कामगार बराबर सोचता है। इस सम्पूर्ण व्यवस्था में मैं तो बराबर घूमने वाला दांता (Cog) हूँ जिसका होना न होना बराबर है। कामगार की इस विवशता को मार्क्स ने अलगाव के अन्तर्गत रखा है।

अलगाव की विचारधारा प्लेटो के विचारों में सर्वप्रथम आया है रूसो ने भी इसका प्रयोग किया था हीगल के बाद मार्क्स ने पहली बार व्यवस्थित रूप से इस पद को वैज्ञानिक स्तर पर रखने का प्रयास किया है हीगल के बाद फारबेच (Feverbach) ने इस अवधारणा को काम में लिया है इन्होंने धर्म से विमुख होने वालों के लिये इस पद का प्रयोग किया है।

अलगाव की अवधारणा में बराबर विविधता रही है। इस विविधता के होते हुये भी, किसी अंतिम विश्लेषण में अलगाव वह अवस्था है जिसमें व्यक्ति स्वयं से ही विमुख हो जाता है मनुष्य का जो सार अथवा प्रकृति है उससे जब वह अलग हो जाता है तो यह अलगाव की अवस्था है। दूसरे शब्दों में व्यक्ति के अलगाव की अवस्था को निम्नलिखित रूप में समझा जा सकता है—

1) कामगार का अमानवीकरण - अर्थात् अपने ही काम से अलगाव महसूस करना। पूँजीवादी व्यवस्था में उत्पादन प्रक्रिया इतनी जटिल होती है कि कामगार का उत्पादन वस्तु के साथ भावनात्मक रूप से कोई जुड़ाव नहीं होता है बल्कि यांत्रिक रूप में वह उत्पादन प्रक्रिया से जुड़ा होता है।

2) अपने कामों के परिणामों अथवा उत्पादों के प्रति कामगार व्यक्ति अलगाव महसूस करता है क्योंकि सम्पूर्ण उत्पादन की प्रक्रिया में वह एक लघु अंश के निर्माण में ही अपनी योगदन दे पाता है।

3) पूंजीवादी बाजारवाद की प्रक्रिया में मनुष्य न केवल स्वयं अपितु अपने आस पास के लोगों को भी व्यवस्था के कलपुर्जों के रूप में देखने लगता है परिणामत: उसका अपने आसपास के लोगों के साथ संबंध भी भावनात्मक न रहकर यांत्रिक हो जाता है। जिसके परिणाम स्वरूप अन्य व्यक्तियों प्राकृतिक वातावरण (जिसमें वह रहता है) एवं स्वयं के प्रति अलगाव महसूस करता है।

अलगाव की इस भावना का शिकार केवल मजदूर ही नही अन्य श्रम करने वाले मध्यवर्गीय लोग, बौद्धिक, साहित्यिक और वैज्ञानिक लोग भी होते हैं। जनता के दु:ख से बेखबर और शोषण पर आधारित शासन के व्यवस्था में कामगार को अपने कार्य में कोई दिलचस्पी नहीं होती। वे वेतन पाते हैं। इसलिये मजदूरी में जितना कम कार्य कर सकते हैं करते हैं काम से उनका कोई लगाव नहीं होता है दूसरे शब्दों में जब व्यक्ति स्वयं से अलगाव की अवस्था में होता है तब वह निम्न प्रकार की गतिविधि करता है।

(अ) ये व्यक्ति स्वयं की अपनी कार्यप्रणाली, अपने जीवन की गतिविधियों से दूर हो जाते हैं जीवित रहते हुए भी ये अपने सामाजिक आर्थिक जीवन से बेखबर रहते हैं।

(ब) ऐसे व्यक्ति अपनी मानवीय प्रकृति से दूर हो जाते हैं ।

(स) यह बेखबरी इस हद तक पहुँच जाती है कि वे अपनी शरीर से भी अपने आप को नहीं जोड़ते, एक तरह से उनका सम्पूर्ण मानस ही सुन्न हो जाता है।

(द) अलगाव ऐसी विनाशकारी स्थिति है जिसमें एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति और व्यक्तियों से एक दम दूर हो जाता है, उसके इर्द गिर्द क्या होता है उसे पता नहीं। पूंजीवादी व्यवस्था में कामगार कभी भी अपने आप को उत्पादन और उससे होने वाले लाभ के साथ नहीं जोड़ता है लाभ और उत्पादन से उसका कोई मतलब नहीं है उसे तो केवल अपनी दिहाड़ी ही या वेतन मिलता है।

(य) अलगाव व्यक्ति का अमानवीकरण (De-humanisation) है। अलगाव के कई स्वरूपों में मूल स्वरूप की व्याख्या मार्क्स ने की है। मार्क्स के अनुसार अलगाव वह अवस्था है जिसमें कामगार उसके स्वयं के श्रम से उपार्जित वस्तुओं से अपने आप को अलग रखता है वह अपने आप को गुलाम समझता है शक्तिहीन मानता है और स्वयं से बेखबर होकर उत्पादन प्रक्रिया में जुटा रहता है।

मार्क्स की अवधारणा के अनुसार अलगाव का विकास कई अवस्थाओं में होता है पहली अवस्था में कामगार, कारखाने के उत्पादन में सहयोग देता है, धीरे धीरे उसे लगता है कि मालिक का मुनाफा तो बराबर बढ़ता जाता है किन्तु उसकी स्वयं की स्थिति बदतर होती जाती है। इस अवस्था में वह स्वयं से अलगाव महसूस करने लगते हैं दूसरी अवस्था में कई कामगार सामुहिक रूप से अलगाव महसूस करने लगते हैं। अब कामगार का अलगाव एक व्यक्ति का अलगाव न होकर श्रमिक वर्ग का अलगाव हो जाता है तीसरी अवस्था में समस्त मजदूरों में श्रम से अलगाव की भावना तीव्रतर हो जाती है । इस अवस्था में क्रान्तिकारी परिवर्तन की अपील होती है कामगार संगठित होती है। कामगार संगठित होते हैं और एक ऐसा वातावरण बनने लगता है जब यह निश्चित होने लगता है कि पूंजीवाद के उन्मूलन के लिए क्रान्ति एकमात्र विकल्प है।

12.4 अतिरिक्त मूल्य तथा अतिरिक्त श्रम

अतिरिक्त मूल्य शोषण का एक निश्चित तरीका है। यह पूंजीवादी व्यवस्था की उपज है। अतिरिक्त मूल्य पूंजीवादी उत्पादन में मुनाफे का एक स्वरूप है। इस मुनाफा का कारण यह है कि कामगार जिस किसी वस्तु का उत्पादन करता है उसे उसके दिहाड़ी से अधिक मूल्य में बेच दियाजाता है यह मुनाफा ही कामगार का शोषण है। इस तरह लाभ (Profit) और दैनिक मजदूरी (Wage) अतिरिक्त मूल्य औरश्रम के दो निश्चित स्वरूप हैं और पूंजी का जब उत्पादन के लिए प्रयोग किया जाता है तो ये दोनों स्वरूप सामने आते हैं।

पूंजीवादी उत्पादन में वस्तु की कीमत पूंजीपति द्वारा निश्चित की जाती है उत्पादित वस्तुओं को जब बेचा जाता है तो उसका मूल्य होता है। लागत से जितने अधिक मूल्य पर कोई वस्तु बेची जाती है वह अतिरिक्त मूल्य है दूसरे शब्दों में लागत और विक्रय मूल्य के बीच का अन्तर अतिरिक्त मूल्य है उदाहरण के रूप में हम किसी मशीन के उत्पादन को देख सकते हैं यथा किसी मशीन के उत्पादन में पूंजीपति, उपकरण, दैनिक मजदूरी घिसावट व अन्य में 1000 रूपये खर्च करता है जबकि उसे 1500 रूपये में बेचता है लागत और बिक्री मूल्य का अन्तर 500 रूपये हैं मार्क्स के अनुसार यही अतिरिक्त मूल्य है।

मार्क्स के अतिरिक्त क्लासिकल अर्थशास्त्रियों ने भी अतिरिक्त मूल्य का विश्लेषण किया है। लेकिन मार्क्स की अतिरिक्त मूल्य की अवधारणा क्लासिकल अर्थशास्त्रियों से भिन्न है। रिकार्डो का कहना है कि मूल्य का कारण कामगार की दिहाड़ी और पूंजीपति के वेतन से जुड़ा है। बाजार में कामगारों को बाध्य कियाजाता है कि वे उनके श्रम का जो वास्तविक मूल्य है उससे कम में बेच दे। यह विनिमय गैर-बराबरी का विनिमय है। इस विनिमय को रिकार्डों बेजा विनिमय (Unfair exchange) कहते हैं।

12.5 सारांश

वर्ग एवं वर्ग संघर्ष मार्क्स के सम्पूर्ण सामाजिक चिन्तन का निचोड़ है वर्ग को समाज व्यवस्था का नैसर्गिक सत्य मानते हुये भी मार्क्स की दृष्टि में यह समाज का अनिवार्य सत्य नहीं है। उनके मत में समाज में वर्ग इतिहास के प्रारम्भ से चले आ रहे हैं किन्तु इनमे एक विशेष क्रम से परिवर्तन हो रहा है, जिसकी परिणति एक वर्ग विहीन समाज के रूप में होनी है। मार्क्स की दृष्टि में वर्गों की नियति संघर्ष ही है और इसकी पुष्टि उसके प्रसिद्ध कथन से होती है कि मानव इतिहास वर्ग संघर्ष का इतिहास है। जैसा कि पहले ही बताया जा चुका है कि मार्क्स ने समस्त मानव समाज को दो भागों में बाँटा है एक तो वह जो उत्पादन के साधनों या पूंजी पर अपना अधिकार रखता है और दूसरा वह जिसके पास पूंजी के नाम पर न तो धन है न भूमि और न ही कच्चे माल पर उसका अधिकार है उसके पास केवल शारीरिक श्रम है, जिसे वह मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए बेचता है। समाज के इन दोनों वर्गों के हित सदा आपस में टकराते रहते हैं क्योंकि एक का हित दूसरे का अहित है। उनके बीच का यह संघर्ष कभी प्रत्यक्ष तो कभी प्रच्छन्न रूप से चलता ही रहता है। यह प्रक्रिया निरन्तर चलती रहती है, जब तक कि समाज पर सर्वहारा का अधिनायकत्व स्थापित नहीं हो जाता है।

12.6 बोध प्रश्न

प्र. 1 वर्ग क्या है। वर्ग निर्धारण के प्रमुख आधारों की संक्षिप्त में व्याख्या करें।

प्र. 2 मानवीय इतिहास में मार्क्स द्वारा निर्मित विभिन्न वर्गों की व्याख्या करें।

प्र. 3 अलगाव क्या है। इस स्थिति में व्यक्ति किस प्रकार की गतिविधि करता है।

प्र. 4 अतिरिक्त मूल्य की मार्क्सवादी विचार धारा पर प्रकाश डालिये।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1) नये वर्गों का निर्माण होता है।

(अ) उत्पादन के नये तरीकों के आधार पर (ब) उत्पादन के पुराने तरीकों के आधार पर

(स) मानवीय इच्छाओं के आधार पर (द) इनमें से कोई नहीं।

2) मानवीय विकास की प्रथम अवस्था थी -

(अ) आदिम समुदायिक समाज (ब) दास-मालिक समाज

(स) सामंती समाज (द) पूंजीवादी समाज

3) अलगाव की मार्क्सवादी व्याख्या है—

(अ) अपने काम से अलगाव महसूस करना

(ब) अपने काम के परिणामों से अलगाव महसूस करना

(स) अपने आस-पास के वातावरण (लोगों) से अलगाव महसूस करना

(द) उपरोक्त सभी

4) अतिरिक्त मूल्य है—

(अ) लागत और विक्रय मूल्य का अन्तर (ब) लागत और विक्रय मूल्य का योग

(स) लागत से कम मूल्य पर वस्तु का विक्रय (द) उपरोक्त सभी

12.7 बोध प्रश्नों के उत्तर

उत्तर 1 (अ) 2. (ब) 3. (द) 4. (अ)

12.8 संदर्भ ग्रन्थ सूची

एस. एल. दोषी	सामाजिक विचारक
अर्माकोव व कालिकेव	वर्ग व वर्ग संघर्ष क्या है।
	प्रगति प्रकाशन मास्को
जोनाथन एच. टर्नर	द स्ट्रक्चर आफ सोसोलोजिकल थ्योरी
ब्रजराज चौहान	समाज विज्ञान के प्रेरक स्रोत

इकाई 13 सामाजिक क्रान्ति का सिद्धान्त

13.0 उद्देश्य

13.1 प्रस्तावना

13.2 सामाजिक क्रान्ति की अवधारणा

13.3 क्रान्ति की विशेषताएं

13.4 क्रान्ति की स्थिति

13.5 क्रान्ति और प्रतिक्रान्ति

13.6 सारांश

13.7 बोध प्रश्न

13.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

13.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त आप:

- सामाजिक क्रान्ति की स्पष्ट व्याख्या कर सकेंगे।
- सामाजिक क्रान्ति के लिए आरम्भिक स्थितियों की विवेचना कर सकेंगे।
- क्रान्ति की विभिन्न विशेषताओं का वर्णन सकेंगे।
- क्रान्ति और प्रतिक्रान्ति घटनाओं की नियम संगतता एवं अवश्यम्भाविता पर टिप्पणी कर सकेंगे।

13.1 प्रस्तावना

सामाजिक क्रान्ति आधुनिक सामाजिक चिंतन की एक प्रमुख समस्या है। सामाजिक क्रान्ति के अवधारणा द्वारा मार्क्स ने शोषण और दमन रहित समाज की परिकल्पना की है। मनुष्य का अन्तिम लक्ष्य उसकी स्वतंत्रता है और यह स्वतंत्रता उसे तब तक नहीं मिल सकती, जब तक उस पर अंकुश रखने वाला राज्य समाप्त नहीं होता, शोषण करने वाला पूंजीवादी वर्ग नहीं रहता। यह सब परिवर्तन तभी संभव हैं जब समाज में क्रान्ति आये। सामाजिक क्रान्तियों की आवश्यकता सामाजिक विकास के वस्तुपरक नियमों द्वारा निर्धारित होती हैं। आधुनिक क्रान्तियों की बुनियाद स्वयं पूंजीवादी जगत के आंतरिक आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक अंतर्विरोध हैं लेनिन ने लिखा है "क्रान्तियां कभी आर्डर से नहीं की जाती, उनका समय निश्चित नहीं किया जाता बल्कि वे ऐतिहासिक विकास की प्रक्रिया में परिपक्व होती है तथा अनेक आंतरिक और बाहरी कारणों के समुच्चय द्वारा निर्धारित क्षण में ही घटती हैं।" अत: क्रान्ति कोई राजनैतिक दुर्घटना नहीं है यह तो ऐतिहासिक आवश्यकता की अभिव्यक्ति मात्र है।

13.2 सामाजिक क्रान्ति की अवधारणा

प्राकृतिक जगत की ही भांति सामाजिक जीवन भी सदा परिवर्तनशील और विकासमान होता है। विकास दो रूपों में होता है - क्रमिक परिवर्तनों और छलांगों के रूप में। एक समग्र व्यवस्था की सीमाओं में सामाजिक जीवन के विभिन्न पहलुओं के अनवरत क्रमिक परिवतनों को उद्‌विकास कहते हैं। मार्क्सवादी उद्‌विकास को सामाजिक विकास का महत्वपूर्ण रूप मानते हैं लेकिन वर्गीय समाजों में सामाजिक उद्‌विकास के मार्ग में उत्पन्न बाधाओं को दूर करने हेतु क्रान्ति की आवश्यकता महसूस होती है। क्रान्ति का अर्थ है समाज के विकास में छलांग, परिमाणात्मक परिवर्तनों का गुणात्मक परिवर्तनों में बदलना। क्रान्तिकारी विकास के लक्षण बताते हुये लेनिन ने लिखा कि क्रान्ति "छलांगों, महाविपत्तियों और क्रान्तियों के रूप में होने वाला विकास है" निरंतरता में व्यक्तिक्रम है परिमाणात्मक का गुणात्मक रूपान्तरण है।

सामाजिक उद्‌विकास और क्रान्ति एक दूसरे के पूरक होते हैं वे ऐतिहासिक प्रक्रिया के अन्योन्य क्रियारत अनिवार्य रूप हैं। सामाजिक व्यवस्था के क्रमिक परिमाणात्मक और गौण गुणात्मक परिवर्तन उसके आमूल गुणात्मक पुनर्गठन की तैयारी करते हैं। सामाजिक उद्‌विकास सामाजिक क्रान्ति की तरफ ले जाता है। यह सामाजिक क्रान्ति ऐतिहासिक प्रक्रिया को नये चरण पर उठाती है आगे के उद्‌विकास मूलक विकास के लिये नयी संभावनाओं का द्वार खोलती है स्पष्ट है कि मार्क्स जब कभी क्रान्ति की चर्चा करते हैं तो वस्तुतः उनका उद्देश्य समाज के आमूल चूल परिवर्तन से होता है। आमूल चूल परिवर्तन इसलिये कि एक सामाजिक व्यवस्था एकाएक बदलकर दूसरी सामाजिक व्यवस्था को जन्म देती है यह सामाजिक परिवर्तन त्वरित गति से होता है इसलिये इसे क्रान्ति कहते हैं।

मार्क्स का मत है कि कोई भी सामाजिक व्यवस्था चाहे कितनी ही सड़ी गली क्यों न हो, तब तक नष्ट नहीं होती है जब तक समाज में निहित सभी उत्पादन शक्तियां अपनी पराकाष्ठा तक विकसित नहीं हो जाती। इससे आगे नये उत्पादन सम्बन्ध तक तक पैदा नहीं होते जब तक उत्पादन की भौतिक स्थितियां नहीं बदलती हैं उत्पादन पद्धति में परिवर्तन के साथ नये वर्ग का उदय होता है। यह नया वर्ग उत्पादन शक्तियों और उत्पादन सम्बन्धों का वाहक होता है। इसके विपरीत प्रतिगामी वर्ग जो पुराने उत्पादन सम्बन्धों का वाहक होता है तथा जिसके हाथ में राजनैतिक शक्ति भी होती है। यथास्थिति बनाये रखने में अपना हित समझता है अपने हितों की पूर्ति के लिये वह राज्य को दमन का साधन बनाता है। इसी कारण मार्क्स राज्य को हर स्थिति में उत्पीड़क मानते हैं इसलिए इतिहास के इस मोड़ पर नवीन उत्पादन शक्तियों और पुराने उत्पादन सम्बन्धों तथा उनके वाहक वर्गों के बीच संघर्ष अपरिहार्य हो जाता है। लेनिन के शब्दों में "उग्रता के चरम शिखर पर पहुँच गया वर्गों का भीषण संघर्ष ही क्रान्ति कहलाता है।"

सामाजिक क्रान्ति में नियमतः दो विरोधी, विलोमस्थ वर्गों का टकराव होता है। इसमें एक प्रतिगामी, अतीतोन्मुख वर्ग होता है, जो अपना प्रभुत्व और पुराने उत्पादन संबंध बनाये रखने के लिए एड़ी चोटी का जोर लगाता है दूसरा वर्ग क्रान्तिकारी होता है, भविष्य इसी वर्ग का होता है, मार्क्स का यह विश्वास था कि वर्ग और वर्गाधारित समाज की संकल्पना के बिना सामाजिक क्रान्ति की संकल्पना में पर्याप्त मूर्तता नहीं आती । प्रत्येक राजनीतिक सत्ता परिवर्तन यदि वह मात्र शासक गुटों का फेर बदल नहीं है सामाजिक क्रान्ति है।

13.3 क्रान्ति की विशेषताएं

क्रान्ति से मार्क्स का तात्पर्य सम्पूर्ण सामाजिक परिवेश में परिवर्तन से है। जब आर्थिक संरचना बदलती है, उत्पादन पद्धतियां बदलती हैं तो परिणाम स्वरूप सम्पूर्ण सामाजिक अधिसंरचना भी बदल जाती हैं। राज्य की प्रकृति में अन्तर आता है, धर्म को देखने का दृष्टिकोण दूसरा हो जाता है, साहित्य, कला और नृत्य को समझने का संदर्श बदल जाता है।

(1) क्रान्ति एक लम्बी प्रक्रिया है — क्रान्ति में परिवर्तन की निरंतरता समाप्त हो जाती है यह बड़ी तेजी से घटित होती है पहले समाज के किसी एक क्षेत्र में क्रान्ति होती है। धीरे धीरे यह क्रान्ति समाज के अन्य क्षेत्रों राजनीति, परिवार, विवाह, धम्र आदि में देखने को मिलती है। इसलिये क्रान्ति लम्बी अवधि तक चलती है।

(2) सामाजिक क्रान्ति समाज सुधार नहीं है—सुधारों की मदद से भी सामाजिक अंतर्विरोध दूर किये जाते हैं। लेकिन सुधार का मर्म यह है कि वह कभी गहन सामाजिक पुनर्गठन करते हुये भी सत्ता पुराने वर्ग के हाथ में रहने देता है मार्क्स पूंजीवादी समाज में सुधारों के विरोधी नहीं है बशर्ते इनसे मजदूरों की दशा सुधरती हो तथा ये उनकी क्रान्तिकारी चेतना के जागरण में सहायक हो। लेकिन जहां सुधारवादी सुधारों को ही अपने आप में एक ध्येय मानते हैं और मजदूरों के लिये श्रम शक्ति के विक्रय की अधिक अनुकूल शर्तें पाने की कोशिश करते हैं, वही मार्क्स सुधारों को क्रान्ति का क्षण समीप लाने का साधन मानते हैं।

(3) अधिसंरचना का आविर्भाव — मार्क्स के अनुसार प्रत्येक युग में पिछले युग का प्रतिरोध हुआ है और इसलिये किसी भी क्रान्ति का उददेश्य तात्कालिक युग की बुनियादी संरचना को उखाड़कर उसके स्थान पर नयी अधिरचना को स्थापित करना होना चाहिए। जब बुनियादी संरचना क्रान्ति के परिणाम स्वरूप बदल जाती हैं तब अपने आप ही अधिरचना में भी क्रान्तिकारी परिवर्तन आते हैं। यह इसलिये कि बुनियादी संरचना ही समाज के सोच, समझ और विचारधारा को बदलती है और इसी कारण अधिरचना का सम्पूर्ण परिवेश भी बदल जाता है मार्क्स का विचार है कि संस्कृति भी पूँजीवादी अधिरचना की उपज है इसी कारण क्रान्ति जब होती है तो पूंजीवादी व्यवस्था पर आधारित सम्पूर्ण अधिरचना ताश के पत्तों के महल की तरह धाराशायी हो जाती है। अत: क्रान्ति की एक पहचान यह भी है कि इसके परिणाम स्वरूप समाज की अधिरचना भी बदल जाती है संस्कृति , साहित्य, धम्र, दर्शन, सभी सर्वहारा वर्ग की विचारधारा के अनुकूल अपने आपको परिवर्तित कर लेते हैं।

(4) वर्गहीन समाज का निर्माण — सामाजिक क्रान्ति समाज के आमूल पुनर्गठन से जुड़े अनेक प्रश्न हल करती हैं वह पुरातन का विनाश और नूतन का सृजन करती हैं। क्रान्ति को जिन प्रश्नों को हल करना होता है, उनमें पहला और प्रमुख प्रश्न यह होता है कि सत्ता सर्वहारा वर्ग के हाथों में आये। लेनिन ने लिखा है ''प्रत्येक क्रान्ति का आधारभूत प्रश्न राज्य सत्ता का प्रश्न है'' इतिहास बताता है कि बुर्जआ वर्ग मिले कारखानें, व्यापार और वित्त यानी अर्थव्यवस्था अपने हाथों में केन्द्रित करके और सेना, पुलिस, जेले समेत राज्य सत्ता पर अधिकार रखते हुये पुराने पड़ चुके पूंजीवादी समाज को बनाये रखने के लिए उग्र संघर्ष करता है।

(5) सर्वहारा का अधिनायकवाद — यद्यपि मार्क्स ने कहीं भी सर्वहारा के अधिनायकवाद की कोई परिभाषा नहीं दी है लेकिन वे निश्चित रूप से यह कहते हैं कि किसी भी क्रान्ति की बहुत बड़ी पहचान सर्वहारा का अधिनायकवाद है इसीलिए इंग्लैण्ड की क्रान्ति रक्तहीन क्रान्ति (Bloodless Revolution)

फ्रांस की राज्यक्रान्ति और ऐसी ही यूरोप की कई अन्य क्रान्तियों को जो 19वीं शताब्दी में हुई, उन्हें मार्क्स क्रान्ति की श्रेणी में नहीं रखते हैं वह क्रान्ति की बहुत बडी शिनाख्त बुर्जुआ की समाप्ति के पश्चात सर्वहारा का अधिनायकवाद मानते हैं क्योंकि जब तक क्रान्ति के बाद सर्वहारा का प्रभुत्व नही आता यानी मजदूरों की हुकूमत नहीं आती क्रान्ति को मार्क्सवादी क्रान्ति नहीं कहते। इस अधिनायकवाद में यह कहा जाता है कि वह अपनी मिल्कियत राज्य को सौंप दें। यह प्रक्रिया अन्वर्ग (De-class) की प्रक्रिया है जिसमें पूंजीपति वर्ग खत्म हो जाता है। मार्क्स के अनुसार सर्वहारा का अधिनायकवाद एक संक्रमककाल है जिसका अन्त वर्गहीन समाज यानि साम्यवाद के साथ होता है इसके सम्मुख यह कार्यभार होता है कि वह आन्तरिक और बाहरी दोनों शत्रुओं से मजदूर वर्ग की उपलब्धियों की रक्षा करें, उत्पीड़कों और उत्पीड़ितों में समाज का विभाजन मिटायें, ऐसी परिस्थितियां बनाये जिनमें इंसान द्वारा इंसान के शोषण की गुंजाइश न हो। सर्वहारा वर्ग मेहनतकश जनसाधारण के साथ अपने सम्बन्धों को इस तरह से सुदृढ़ बनाने और उसका विस्तार करने के लिऐ अपनी सत्ता का उपयोग करे जिससे कि समाजवाद के ध्येय की प्राप्ति हो।

(ब) सामाजिक क्रान्ति और राजनीतिक क्रान्ति की सम्बद्धता — राजनीतिक क्रान्ति का अर्थ है प्रगतिशील वर्ग द्वारा सत्ता पर अधिकार पाना। इसे संकीर्ण अर्थ में सामाजिक क्रान्ति भी कहा जाता है क्योंकि यह समाज के क्रान्तिकारी पुनर्गठन के सभी प्रश्नों को नहीं बल्कि केवल उन प्रश्नों को हल करती हैं जो प्रगतिशील शक्तियों के हाथों में सत्ता आने से जुड़े होते हैं । रजनीतिक क्रान्ति सामाजिक जीवन के सभी पहलुओं के आमूल पुनर्गठन का महत्वपूर्ण साधन होती है । राजनीतिक क्रान्ति के बाद सामाजिक जीवन के सभी क्षेत्रों के क्रान्तिकारी पुनर्गठन का न्यूनाधिक लम्बा काल शुरू होता है। मार्क्स ने लिखा है : ''प्रत्येक क्रान्ति पुराने समाज को नष्ट करती है इसलिए वह सामाजिक होती है प्रत्येक क्रान्ति पुरानी सत्ता को ढहाती है इसीलिये उसका स्वरूप राजनीतिक होता है।''

क्रान्ति का विशिष्ट लक्षण क्रान्तिकारी वर्ग का सत्ता पर अधिकार होना है। ''राज्य सत्ता का एक वर्ग के हाथों से दूसरे वर्ग के हाथों में पहुंचना क्रान्ति का पहला, प्रमुख, बुनियादी लक्षण है।''

13.4 क्रान्ति की स्थिति

विश्व की अनेकों क्रान्तिकारी प्रक्रियाओं के समसामयिक चरणों का विश्लेषण करते हुए यह स्पष्टत: देखा जा सकता है कि नयी उत्पादन शक्तियों और पुराने पड़ गये उत्पादक सम्बन्धों के बीच टकराव क्रान्ति के लिए आवश्यक तो हैं किन्तु पर्यात्प नहीं हैं । क्रान्ति केवल तभी प्रभावी हो सकती है जब आवश्यक वस्तुगत परिस्थितियों और आत्मगत कारण मौजूद हों। अर्थात कोई भी क्रान्ति आनन-फानन में नहीं होती, बल्कि इसके पीछे वस्तुगत दशायें या परिस्थितियां (Objective conditions) होती हैं इन दशाओं के परिपक्व होने पर ही क्रान्ति होती है जिनमें आत्मगत कारण निहित होते हैं।

क्रान्ति की वस्तुगत परिस्थितियों में आर्थिक और सामाजिक राजनीतिक पूर्वाधार आते हैं जो लोगों और राजनीतिक पार्टियों की इच्छा से स्वतंत्र रूप से बनते हैं इन वस्तुगत परिस्थितियों का कुल योग जिनमें क्रान्ति हो सकती है। क्रान्तिकारी स्थिति कहलाती है।

(4.4) अ क्रान्ति की स्थिति के प्रमुख तीन लक्षण —

(1) ऊपरी वर्गों का या शासक वर्ग की नीति का संकट, पुराने तरीकों से अपना प्रभुत्व बनाये रखने में इस वर्ग का असमर्थ हो जाना।

(2). समाज के उत्पीड़ित वर्ग में अभावों और विपदाओं का अत्यधिक बढ़ जाना।

(3) जनसाधारण का दासता और राजनीतिक अधिकार हीनता को आगे सहने से इंकार किया जाना तथा उनके खिलाफ तीव्रतम विरोध का बढ़ना ।

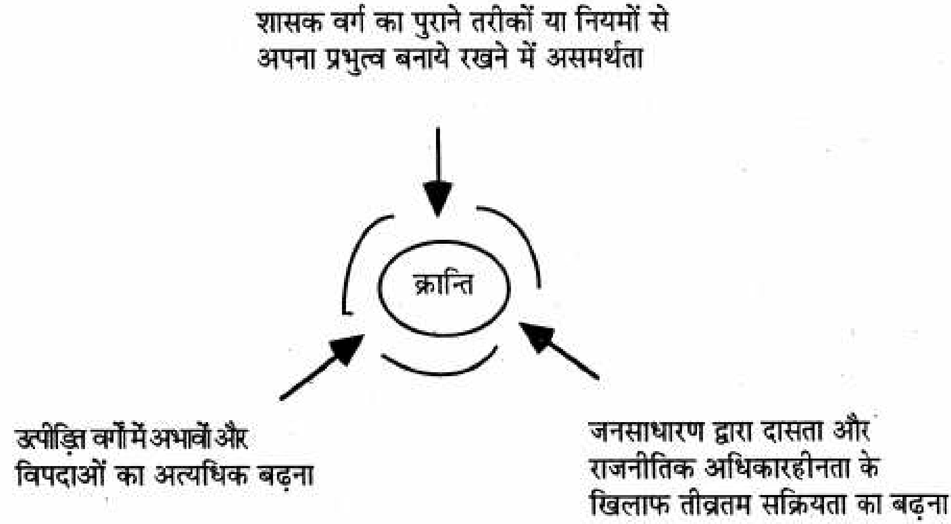

क्रान्ति के अन्य प्रमुख कारण निम्न हैं :-

1) क्रान्ति उत्पादन पद्धति के युगों पर आधारित सिलसिला है— इतिहास का एक युग दूसरे युग की ओर बढ़ता है युगों के बढने के सिलसिले में भौतिक दशायें ऐसी अवस्था में आती हैं जब क्रान्ति होती है एक तरफ पुरानी सामाजिक व्यवस्था तो दूसरी ओर नयी उत्पादन शक्तियां। ये नयी उत्पादन शक्तियां मनुष्य की आजादी पर जोर देती हैं और जब पुरानी व नवीन युगीन व्यवस्था में संघर्ष होता है तब क्रान्ति होती है।

2) क्रान्ति की सुदृढ़ता का आधार वर्गों का ध्रुवीकरण — क्रान्ति के लिए समाज में एक वर्ग अर्थात कामगारों की हालत का अत्यधिक दयनीय होना आवश्यक है। गन्दी बस्तियां , कारखानों के धुएं में तथा अन्य अभावों में रहने वाले कामगारों की तगं हाली जितनी अधिक बढ़ती जाती है उतना ही उसका अलगाव भी बढ़ता जाता है कामगार अपनों की पहचान एक वर्ग की रूप में करने लगता है। धीरे धीरे उन सब की व्यक्तिगत समस्यायें सामूहित समस्यायें बन कर उभरती हैं तब उन सब में अपनी दुदर्शापूर्ण स्थिति चेतना जागृत होती है जो कि वर्ग चेतना होती है इसी को मार्क्स ने अपने आप में वर्ग (Class in itself) तथा वर्ग के लिए वर्ग (Class for itself) के माध्यम से समझाया है।

इसी तरह जैसे जैसे अभावग्रस्त में तंग हाली बढ़ती जाती है वैसे वैसे क्रान्ति की दशा निकट आती जाती है।

3) सुविधाभोगी वर्ग द्वारा उत्पीड़न की मात्रा में उत्तरोत्तर वृद्धि — क्रान्ति का एक प्रमुख कारण राज्य का आतंकवादी होना है। राज्य की शक्ति सामान्यतया प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से बुर्जआ वर्ग के हाथों में होती है राज्य बुर्जआ वर्ग का ऐसा हथियार है जिसके द्वारा सर्वहारा वर्ग के ऊपर अन्याय अत्याचार किये जाते हैं। मार्क्स कहते हैं कि जो राज्य बुर्जआ के हाथों में शोषण को बढ़ावा देता है उसका आर्थिक पतन निश्चित रूप से होता है अर्थहीनता की अवस्था में राज्य अधिक समय तक सत्ता को अपने हाथों में नहीं रख सकता। यह अवस्था क्रान्ति को गति देती है।

4) पूंजीवाद का लगातार अनेकों आर्थिक संकटों से जूझते रहना — जब लगातार अनेकों आर्थिक संकटों की मार दशाएं अत्यन्त खस्ता और अमानवीय हो जाती हैं ऐसे में ऊब चुके कामगार अपनी सुखद जिन्दगी के सपनें संजोये, क्रान्ति के द्वारा पुरानी जर्जर व्यवस्था को नष्ट करने के लिऐ तत्पर रहते हैं। ऐसे में वह उपर्युक्त समय की तलाश में रहते हैं जब पुराने ढांचे को उखाड़ फेंका जाये इसके लिए कामगारों की क्रान्ति करने की तीव्रतम इच्छा प्रमुख रूप से उत्तरदायी है।

5) तीव्रतम वर्ग चेतना — व्यक्ति की जो कुछ समझ सोच और विचारधारा है वह वस्तुत: उसकी सामाजिक चेतना है। किसी भी व्यक्ति की सामाजिक चेतना मूल में जिस वर्ग का सदस्य है उससे पैदा होती है। इस अर्थ में सर्वहारा वर्ग की जो भी सामाजिक चेतना है। उसका मूल स्रोत उसका सर्वहारा वर्ग ही है। जब एक कामगार धर्म को देखता है, उपासना, कर्मकाण्ड, अर्चना और संस्कारों को देखता है तब उसकी चेतना कहती है कि यह सब धार्मिक संरचना और कुछ न होकर सत्तारूढ़ दल द्वारा किया गया शोषण है जो पूंजीपतियों की साजिश के कारण है कहने का तात्पर्य यह है कि कामगार की जो चेतना धर्म या राजनीति के बारे में हुई वह विचारधारा और सोंच की उत्पत्ति सर्वहारा वर्ग से हुई है। इसी तरह ही मालिक या प्रभुत्वशाली व्यक्तियों की चेतना भी उनके ही वर्ग से होती है। मालिक की साठ-गांठ सत्तारूढ़ दल के साथ रहती है और इसी कारण पूंजीपति वर्ग के धर्म, साहित्य कला, नृत्य, संगीत आदि के विषय में जो विचार होते हैं उनका जन्म पूंजीपति वर्ग की कोख से ही होता है।

जब विभिन्न वर्गों में सामाजिक चेतना अपनी पराकाष्ठा पर पहुंच जाती है तो यह स्थिति क्रान्ति की स्थिति होती है।

6) निश्चित भौतिक दशाओं की अपरिहार्यता — क्रान्ति के लिए निश्चित भौतिक दशाओं का होना आवश्यक है। कामगार वर्ग पूँजी का स्वामित्व नहीं चाहते। वह तो पूंजी से अलगाव रखते हैं। तात्पर्य यह है कि क्रान्ति इस लिये नहीं होती कि कामगार उस सम्पूर्ण मिल्कियत के मालिक हो जाये जो आज पूंजीपतियों के हाथों में है। बल्कि क्रान्ति तो उन्मुक्तता का एजेण्डा है क्रान्ति तो वह है जिसमें आम जनता की भागीदारी होती है। यह तब होती है जब पूंजीपति वर्ग किसी भी दशा में सन्तुष्टिपूर्वक अपने कल कारखाने नहीं चला पाता है। ये भौतिक दशायें जो वस्तुगत वास्तविकताएं हैं। क्रान्ति को निश्चित करती हैं क्रान्ति न तो किसी राजनीतिक दल और न वर्ग की इच्छा पर निर्भर करती हैं इसकी दशा और दिशा तो इतिहास निश्चित करता है।

जनता की भूमिका — यदि आवश्यक वस्तुगत परिस्थितियां मौजूद न हों, तो क्रान्तिकारी अपना पूरा जोर लगाकर भी क्रान्ति नहीं ला सकते, क्रान्तिकारी उत्साह से ही समाज का पुनर्गठन नहीं हो सकता। वस्तुगत परिस्थितियों के अलावा क्रान्ति के लिए परिपक्व आत्मगत कारक होना भी आवश्यक है । आत्मगत कारक का अर्थ है कर्ता (विषयी) अर्थात जनसाधारण, वर्गों पार्टियों, व्यक्तियों का सचेतन कार्यकलाप।

जनता ही वह शक्ति है जो सामाजिक विकास में निर्णायक भूमिका अदा करती है समाज के जीवन में जनसाधारण का उत्पादन कार्यकलाप बुनियादी महत्व रखता है संस्कृति के सर्वाधिक महत्वपूर्ण तत्व भाषा का सृजन जनता ही करती है वही संगीत, महाकाव्य, नृत्य की रचयिता है। आज भी लोक सृजन अपार कलात्मक मूल्य रखता है। उसी में प्रत्येक देश की कला और साहित्य का राष्ट्रीय स्वरूप उत्पन्न और गठित होता है। जनता ही श्रम के औजार बनाते और उनका परिष्कार करते हैं श्रम कौशल और दक्षता संचित करते तथा उसे पीढ़ी दर पीढ़ी संम्प्रेषित करते हैं, सभी भौतिक संपदाओं का निर्माण करते हैं जिनके बिना समाज एक दिन भी नही चल सकता।

जनता राजनीतिक जीवन में भी विशाल भूमिका अदा करती है वर्गीय बैर भाव पूर्ण समाजों में शोषक वर्ग सदा जनता को राज्य के संचालन से दूर रखने, उसकी राजनीतिक सक्रियता न्यूनतम बनाये रखने की कोशिश करते आये हैं लेकिन राजनीति ही शोषकों और शोषितों के बीच घनघोर संघर्ष का क्षेत्र है। समाज के राजनीतिक जीवन में जनसाधारण की भूमिका इतिहास के युगान्तरकारी मोड़ों पर क्रान्तियों, राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलनों में विशेषत: बढ़ जाती है। और खुल कर प्रकट होती है। विश्व इतिहास इस बात का साक्षी है कि जनता में जितनी अधिक हलचल हुई है उतने ही समाज के सामाजिक और राजनीतिक पुनर्गठन गहरे रहे हैं। दूसरी ओर ऐतिहासिक घटनाएं ज्यों-ज्यों अधिक गहरी और व्यापक होती गयी है त्यों-त्यों इतिहास में सक्रिय लोगों की संख्या बढ़ती गयी है।

अत: क्रान्तिकारी पार्टी का यह कर्तव्य है कि वह जनसाधारण को क्रान्तिकारी स्थिति का होना दिखाये उनकी क्रान्तिकारी चेतना और संकल्प जगाये तथा इस दिशा में काम के लिये क्रान्तिकारी स्थिति के अनुरूप संगठन बनाये।

इस तरह हम देखते हैं कि क्रान्ति के आत्मगत कारक में निम्न तत्व शामिल हैं—

(1) जनसाधारण की क्रान्तिकारी सचेतनता, अन्त तक संघर्ष करने की उनकी तत्परता और संकल्प।

(2) जनसाधारण और उनके हरावल का संगठन, जो क्रान्ति की विजय के लिए संघर्ष करने में सक्षम सभी शक्तियों को एकजुट करना संभव बनाता है।

(3) उस पार्टी द्वारा जनसाधारण का मार्ग दर्शन जो संघर्ष की सही रणनीति और कार्यनीति निर्धारित तथा क्रियान्वित कर सकती हो।

किसी भी सामाजिक क्रान्ति का आधारभूत नियम वस्तुगत परिस्थितियों और आत्मगत कारक की एकता है।

आधुनिक युग में क्रान्तिकारी स्थिति के परिपक्व होने की प्रक्रिया में बहुत सी नयी बातें जुड़ी हैं आम शक्ति-संतुलन का समाजवाद के हित में बदलना, विश्व पूँजीवाद का क्षीण पड़ना और उसकी औपनिवेशिक व्यवस्था का विघटित हो जाना- इस सबका इस प्रक्रिया पर गहरा प्रभाव पड़ रहा है। अतीत में क्रान्तिकारी स्थिति नियमत: भारी आर्थिक संकटों, युद्धों और अकाल से जुड़ी होती थी। आज ऐसी स्थिति की उत्पत्ति की संम्भावनाएं अधिकाधिक विविधतापूर्वक होती जा रही है क्रान्तिकारी स्थिति का प्रकट होना विभिन्न कारणों से जुड़ हो सकता है आर्थिक उथल पुथल सरकार की नीति का विफल हो जाना, जातीय या रंगभेद का टकराव, जिनसे सामाजिक अन्तर्विरोध तेजी से अत्यन्त उग्र हो उठे, इत्यादि ।

13.5 क्रान्ति और प्रतिक्रान्ति

सामाजिक क्रान्ति समाज विशेष में विकसित हो चुके मुख्य सामाजिक राजनैतिक और सामाजिक आर्थिक वर्ग प्रतिरोध के समाधान की एक प्रक्रिया है। जहां एक ओर शोषित, सुविधाविहीन वर्ग क्रान्ति करने के लिए अमादा होता है वहीं पर दूसरी ओर सुविधा सम्पन्न या शासक वर्ग क्रान्ति के खिलाफ अपनी चटुकारतापूर्ण कूटनीति के द्वारा शोषित वर्ग के व्यक्तियों के बीच आपसी मतभेदों, चालों आदि के माध्यम से क्रान्तिकारी संगठन को कमजोर करने के प्रयास में लगा रहता है जिससे कि क्रान्ति को टाला जा सके और उनकी सत्ता कायम रहे। इसी को प्रतिक्रान्ति की स्थिति कहते हैं।

क्रान्तिकारी स्थिति के प्रत्येक मामले में क्रान्ति का उतार चढ़ाव, पीछे हटना और अस्थायी विफलता तक संभव है। इसका कारण यह है कि प्रतिक्रियावादी शक्तियां अपना वर्गीय प्रभुत्व बनाये रखने के लिए सभी संभव साधनों का उपयोग करती हैं। बढ़ते क्रान्तिकारी आन्दोलन के विरूद्ध संघर्ष में वे विभिन्न रूपों का इस्तेमाल करती हैं।

प्रतिक्रान्ति क्रान्ति पर प्रतिक्रिया है, क्रान्तिकारी शक्तियों के विरूद्ध प्रतिगामी वर्गों के संघर्ष का चरम और निर्ममरूप है। प्रतिक्रान्ति की विधियों में षडयन्त्र, तोड-फोड़ भीतरघात, क्रान्तिकारी सत्ता और उसकी कार्यवाहियों के विरूद्ध प्रचार तो है ही इसके अलावा सामान्यता वह हिंसा और आतंक का सहारा भी लेने की कोशिश करते हैं। प्रतिक्रान्ति समाज के क्रान्तिकारी पुनर्गठन को जबरदस्ती रोकने की कोशिश करती है यदि प्रतिक्रान्ति के फलस्वरूप प्रतिगामी वर्ग विजयी होता है तो पुरानी व्यवस्था पुनस्थापित होती है प्रतिक्रान्ति की विजय उत्पीड़ित वर्ग के लिए भयानक त्रासदी होती है जैसे रूस में 1905 -1907 की क्रान्ति की पराजय के बाद मजदूरों को गोलियों से भूना गया।

(अ) प्रतिक्रान्ति का सामाजिक आधार — प्रतिक्रान्ति का सामाजिक आधार सर्वप्रथम वे प्रतिगामी शोषक वर्ग होते हैं जो क्रान्ति के फलस्वरूप अपनी सम्पदा और सत्ता गवाँने का खतरा जिन्हें रहता है वे ही प्रतिक्रान्तिकारी कार्यवाहियों के संगठनकर्ता और प्रेरक होते हैं। वे सामान्यत: वर्गच्युत तत्वों अज्ञानी और पददलित किसान संस्तरों के मातांधों तथा पुलिस और सेना के हाथों अपना आतंक फैलाते और प्रतिक्रान्तिकारी कार्यवाही करवाते हैं किन्तु संख्या की दृष्टि से संस्तर आबादी का अल्पमत होते हैं। क्रान्ति का सामना करने के लिए प्रति क्रान्तिकारी शक्तियों को व्यापक सामाजिक आधार की जरूरत होती हैं। प्रतिक्रान्तिकारी शक्तियां समस्या के टुटपुंजिया वर्ग की ओर सबसे अधिक ध्यान देती है। वे किसानों के मन में खेती के सहकारीकरण के खिलाफ पूर्वाग्रह पैदा करने और गरीब व मंझले किसानों के साथ मजदूर वर्ग का सहबंध भंग करने की कोशिश करती है।

प्रतिक्रान्ति को अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिक्रियावादी शक्तियों से मिलने वाला विभिन्न प्रकार से समर्थन उसके लिए बहुत बड़ा सहारा होता है। ये अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिगामी शक्तियां अपनी प्रतिक्रान्तिकारी गतिविधियों का प्रमुख निशाना विद्यमान समाजवाद को ही बनाती हैं आज समाजवाद सभी प्रगतिशील , शान्तिप्रिय जनवादी और राष्ट्रीयमुक्ति की शक्तियों का गढ़ है। वह समसामयिक विश्व क्रान्तिकारी प्रक्रिया का सबसे सशक्त संबल है। यही कारण है कि विद्यमान समाजवाद की प्रतिष्ठा और प्रभाव के बढ़ने के साथ साथ साम्राज्यवाद और अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिगामी शक्तियों की समाजवादी देशों के विरूद्ध लक्षित प्रतिक्रान्ति चालें भी तेज हो रही हैं। इसी कारण ये भाँति भाँति के साधनों का उपयोग करती हैं। समाजवाद के निर्माण में सैनिक बल में बाधा डालने की कोशिशें, समाजवादी देश को पूंजीवादी देशों पर वित्तीय या दूसरी आर्थिक निर्भरता में फंसाने के प्रयास जातीय और धार्मिक अंधविश्वास भड़काने की चेष्टाऐं इत्यादि।

13.6 सारांश

सारे वस्तुगत जगत की ही भांति समाजिक जीवन भी सदा परिवर्तनशील और विकासमान होता है सामाजिक क्रान्ति, सामाजिक विकास के परिणामात्मक परिवर्तनों का गुणात्मक परिवर्तन में अधिक ऊँचे स्तर में समाज का संक्रमण है जो प्रगतिशील शक्तियां लाती हैं। यह पुरानी पड़ चुकी सामाजिक व्यवस्था से नयी , अधिक अग्रणी व्यवस्था की ओर अग्रगति हैं।

क्रान्ति से मतलब सम्पूर्ण सामाजिक परिवेश में परिवर्तन से है जब आर्थिक संरचना बदलती है उत्पादन शक्तियां बदलती हैं तो परिणाम स्वरूप सम्पूर्ण सामाजिक अधिसंरचना भी बदल जाती है। राज्य की

प्रकृति में अन्तर आता है धर्म को देखने का दृष्टिकोण, साहित्य, कला, नृत्य आदि को समझने का संदर्भ बदल जाता है। क्रान्ति की स्थिति तभी आती है जब ऊपरी या शासक वर्ग की नीति संकट पुराने तरीकों से अपना अस्तित्व बनाये रखने में असमर्थ हो जाते हैं समाज के उत्पीड़ित वर्ग में अभावों और विपदाओं का चरम सीमा पर पहुंचना जनसाधारण का दासता और राजनीतिक अधिकारहीनता को और आगे सहने से इंकार किया जाना तथा उनके खिलाफ तीव्रतम विरोध का बढ़ना सुनिश्चित हो जाता है।

क्रान्ति करने का अवसर तभी आता है जब वस्तुगत दशाएं (Objective conditions) और व्यक्तिगत तैयारी (Subjective Readiness) मेल खाते हैं। क्रान्ति को दबाने या निष्फल करने के उद्देश्य से प्रतिगामी वर्ग हिंसा, कूटनीति, जातीय भेदभाव आदि के माध्यमों को अपनाता है जिसे प्रतिक्रान्ति कहते हैं । प्रतिक्रान्ति की स्थिति सम्पन्न वर्ग अपना वर्गीय प्रभुत्व बनाये रखने के लिए करता है।

अत: हम कह सकते हैं कि क्रान्ति ऐतिहासिक रूप से अपरिहार्य है उसे टाला जा सकता है उसकी तिथि में फेर बदल किया जा सकता है। लेकिन उसे रद्द नहीं किया जा सकता। अत: क्रान्ति कोई राजनैतिक दुर्घटना नहीं है, यह तो एक ऐतिहासिक आवश्यकता की अभिव्यक्ति मात्र है।

13.7 बोध प्रश्न

1. सामाजिक क्रान्ति किसे कहते हैं? सामाजिक तथा राजनैतिक क्रान्ति की सहबद्धता की विवेचना कीजिये।
2. क्रान्ति के लिए आवश्यक दशाओं की विवेचना कीजिये।
3. सामाजिक क्रान्ति क्या अपरिहार्य है? यदि हां तो स्पष्ट कीजिए?
4. क्रान्ति और प्रतिक्रान्ति पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिये।
5. प्रतिक्रान्ति की स्थिति की विवेचना कीजिए।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न —

1. "उग्रता के चरम शिखर पर पहुंच गया वर्गों का भीषण संघर्ष ही क्रान्ति कहलाता है।" यह किसका कथन है?

(अ) एंजेल्स (ब) लेनिन (स) मार्क्स (द) स्टालिन

2. क्रान्ति के फलस्वरूप अ वर्ग (De -class) की स्थिति आती है इस स्थिति में निम्न घटना सामने आती है—

(अ) जिसमें पूंजीवाद वर्ग की स्थापना होती है।

(ब) जिसमे सामान्ती वर्ग व्यवस्था की स्थापना होती है।

(स) जिसमें पूंजीवादी वर्ग समाप्त हो जाता है।

(द) इनमें से कोई नहीं।

3. क्रान्ति होती है —

(अ) एक अनायास घटना के रूप में

(ब) कुछ विशिष्ट दशाओं के उत्पन्न होने पर

(स) साामान्य परिस्थितियों

(द) इनमें से कोई नहीं।

4. प्रतिक्रान्ति होती है —

(अ) क्रान्ति के विरोध में

(ब) क्रान्ति के समर्थन में

(स) एक नयी क्रिया के रूप में

(द) इनमें से कोई नहीं ।

13.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

उत्तर (1) ब (2) स (3) ब (4) अ

13.9 संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. नरेन्द्र कुमार सिपी – समाजशास्त्रीय सिद्धान्त, विवेचन व व्याख्या, रावत पब्लिकेशन, जयपुर

2. लेविस ए. कोजर – मास्टर आफ सायकोलोजिकल थाट रावत पब्लिकेशन, जयपुर

3. अन्ना सेर्त्सोवा
वलेन्तीना शीरिकना
ल्युदमीला योकोप्लेना – क्रान्ति क्या है ? प्रगति प्रकाशन, मास्को

4. ब्रजराज चौहान – समाज विज्ञान के प्रेरक स्रोत ए. सी. ब्रदर्स, उदयपुर ।

NOTES

NOTES

खण्ड

4

दुर्खीम

इकाई 14

समाजशास्त्रीय पद्धति के नियम : सामाजिक तथ्य

इकाई 15

समाज में श्रम विभाजन

इकाई 16

धर्म तथा समाज

इकाई 17

आत्महत्या

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

परामर्श समिति

प्रो० देवेन्द्र प्रताप सिंह — अध्यक्ष
कुलपति
उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय,
इलाहाबाद

डॉ० एच० सी० जायसवाल — कार्यक्रम संयोजक
परामर्शदाता
उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इला०

डॉ० आर० के० बसलस — सचिव
कुल सचिव
उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय,
इलाहाबाद

विशेषज्ञ समिति

प्रो० वी० के० पंत — विषय विशेषज्ञ
से०नि०आचार्य एवं विभागाध्यक्ष
कुमाऊँ विश्वविद्यालय, नैनीताल

प्रो० डी० पी० सक्सेना — विषय विशेषज्ञ
से० नि० आचार्य
गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर

प्रो० पी० एन० पाण्डेय — विषय विशेषज्ञ
आचार्य एवं पूर्व विभागाध्यक्ष
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

डा० मंजूलिका श्रीवास्तव — संरचनात्मक विषय विशेषज्ञ
स्ट्राइड, इग्नू, नई दिल्ली

पाठ्यक्रम लेखन समिति

MASY-02 : – *पाश्चात्य सामाजिक विचारधारा*

खण्ड एक : अनूप कुमार सिंह, प्रवक्ता , डी०ए०वी० कालेज, कानपुर 5 इकाई (आकारगत 3)
खण्ड दो : पवन कुमार मिश्र, प्रवक्ता, लखनऊ विश्वविद्यालय 4 इकाई (आकारगत 3)
खण्ड तीन : डॉ० अनिल कुमार मिश्र, प्रवक्ता, डी०ए०वी० कालेज, कानपुर 4 इकाई
खण्ड चार : मणीन्द्र कुमार तिवारी, प्रवक्ता, डी०ए०वी० कालेज, कानपुर 4 इकाई
खण्ड पाँच : पवन कुमार मिश्र, प्रवक्ता, लखनऊ विश्वविद्यालय 5 इकाई (आकारगत 4)
सम्पादन : प्रो० वी० के० पंत

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

सर्वाधिकार सुरक्षित, इस कार्य के किसी भी अंश की उ० प्र० राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद की लिखित अनुमति के बिना मिमियोग्राफ अथवा किसी अन्य साधन से पुन: प्रस्तुति अनुमन्य नहीं है।

दूरस्थ शिक्षा परिषद, नई दिल्ली के सहयोग से प्रकाशित।

खण्ड 4 का परिचय : दुर्खीम

दुर्खीम समाजशास्त्र के उन पथ प्रदर्शकों में से हैं जिन्होंने मार्क्स और बेवर की भांति समाजशास्त्र की दशा और दिशा को गहराई से प्रभावित किया है। प्रस्तुत खण्ड फ्रांसीसी चिन्तक दुर्खीम के योगदान पर समर्पित है। दुर्खीम ने मूलरूप में फ्रांसीसी भाषा में अपनी रचनाएं लिखी हैं, जो बाद में अंग्रेजी में अनूदित की गयी है।

इस खण्ड का प्रारम्भ दुर्खीम के जीवन परिचय और उनकी प्रमुख रचनाओं के उल्लेख से होता है। वस्तुत: किसी भी विचारक को जानने के लिये उसकी जीवनी को जानना प्रथम सीढ़ी माना जाता है। अत: इस जीवन परिचय के सहारे आपको दुर्खीम के विचारों को समझने में सहायता मिलेगी। इसके साथ ही आप यह भी समझ पायेंगे कि दुर्खीम के समय के समाज की परिस्थितियां क्या थीं।

इकाई 1 में "हम समाजशास्त्रीय पद्धति के नियम: समाजिक तथ्य" का अध्ययन करेंगे।

दुर्खीम ने समाजशास्त्र को सामाजिक तथ्यों का विज्ञान माना। अत: दुर्खीम के समाजशास्त्रीय अध्ययनों को समझने के लिये यह आवश्यक है कि उनकी सामाजिक तथ्यों की अवधारणा तथा उनके अवलोकन के तरीकों को समझने में मदद मिलेगी। इस इकाई के अध्ययन से आपको यह भली भांति स्पष्ट हो जायेगा कि दुर्खीम उन विचारकों में से थे जो समाजशास्त्र को विज्ञान बनाने के लिए गंभीरतापूर्वक प्रयासरत थे। इसका अध्ययन आप इकाई 1 में करेंगे।

इकाई 2 में दुर्खीम की श्रम के विभाजन की अवधारणा का विस्तार से विवेचन किया गया है। श्रम विभाजन पर लिखी दुर्खीम की पुस्तक उनकी पहली पुस्तक है। वस्तुत: यह उनका शोध प्रबन्ध था। जिसको उन्होंने बाद में पुस्तक के रूप में छपवाया था। दुर्खीम का समय औद्योगिक क्रान्ति का समय था, जिसमें समाज में अत्यधिक विशेषीकृत किस्म के श्रम के विभाजन का विस्तार हो रहा था। दुर्खीम इस विभेदीकृत समाज में एकता के कारकों की तलाश कर रहे थे। वास्तव में एकता की समस्या दुर्खीम की केन्द्रीय समाजशास्त्रीय समस्या है। यह इकाई दुर्खीम के इन विचारों पर प्रकाश डालती है।

इकाई 3 में दुर्खीम के धर्म के समाज शास्त्रीय विश्लेषण पर प्रकाश डाला गया है। इस इकाई के अध्ययन से आपको यह जानने में मदद मिलेगी कि दुर्खीम धर्म की उत्पत्ति के श्रोत को किस प्रकार विवेचित करते हैं। इसके साथ ही आप यह भी जान पायेंगे कि दुर्खीम के लिये धर्म का प्रकार्य क्या है? दुर्खीम के लिये एकता की समस्या उनकी केन्द्रीय समाजशास्त्रीय समस्या है। इस इकाई के अध्ययन से आप पुन: दुर्खीम की इस समस्या को सुलझाने के समाजशास्त्रीय प्रयासों से परिचित होंगे। इस इकाई के अध्ययन से आप यह भी जान पायेंगे कि धर्म को लेकर दुर्खीम की दृष्टि वस्तुत: धर्म निरपेक्ष है।

इकाई 4 में दुर्खीम के आत्महत्या से सम्बन्धित विचारों को स्पष्ट किया गया है। यहां यह उल्लेखनीय है कि आत्महत्या एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है, शायद आपको ऊपर की इकाइयों को पढ़ने के बाद यह लगे कि दुर्खीम समाजशास्त्र को मनोवैज्ञानिक विश्लेषण के दायरे से बाहर लाना चाहता है तो फिर क्यों वह मनोवैज्ञानिक तथ्यों का विश्लेषण कर रहा है। इस प्रश्न का उत्तर इस इकाई में मिलेगा, यहाँ यह उल्लेखनीय है कि दुर्खीम ने आत्महत्या का नहीं बल्कि आत्महत्या की दर का अध्ययन किया है और उसे सामाजिक दशाओं से सम्बन्धित किया लेकिन आपको यह भी पता होना चाहिये कि दुर्खीम जब आत्महत्या की सामाजिक दर की चर्चा करता है तो उसके पूर्व वह सम्बन्धित आत्महत्या की प्रकृति पर भी संक्षिप्त चर्चा करता है। ताकि वह इसे भली भांति सामाजिक दशाओं से सम्बन्धित करने में सफल हो सके।

ईमाइल दुर्खीम (1858 - 1917) कृतित्व एवं व्यक्तित्व

समाजशास्त्र के इतिहास में दुर्खीम का महत्वपूर्ण स्थान है। टाटकट पारसंस आधुनिक समाजशास्त्रीय सिद्धान्त के जनक के रूप में दुर्खीम को अग्रणी मानते हैं। दुर्खीम ने 1895 से 1913 के मध्य कई पुस्तकें तथा लेख लिखे। उन्होंने समाज के वैज्ञानिक अध्ययन पर जोर दिया। समाज में श्रम विभाजन हो या आत्महत्या या धर्म, दुर्खीम की कृतियों में यह पद्धति दृष्टिगोचर होती है। दुर्खीम ने अपने विचारों को फ्रेंच भाषा में ही लिपिबद्ध किया जिनका अंग्रेजी में अनुवाद उपलब्ध है।

कोई भी चिन्तक अपने परिवेश, सामाजिक सांस्कृतिक परिस्थितियों से अछूता नहीं रहता है। अत: दुर्खीम के कृतित्व का मूल्यांकन उनके प्रखर व्यक्तित्व और सामाजिक सांस्कृतिक पृष्ठभूमि में किया जा सकता है ।

ईमाइल दुर्खीम का जन्म 15 अप्रैल 1858 को उत्तर पूर्वी फ्रांस में राइन नदी की घाटी में आटसास प्रान्त के एपिनल कस्बे के एक यहूदी परिवार में हुआ था। यह वह क्षेत्र था जिसने विख्यात फ्रांसीसी प्रतिभाओं को तैयार किया और इस देश की राजनीति और संस्कृति में भी अपना अमूल्य योगदान दिया। फ्रांस के अन्य भागों में यहूदी मतानुयायियों को अनेक कष्ट सहने पड़ते थे। इस क्षेत्र में यहूदियों के प्रति व्यवहार अपेक्षाकृत अधिक सहनशील और सहिष्णु था। बाल्यकाल में ही दुर्खीम को यहूदी दर्शन का ज्ञान प्राप्त करने का अवसर मिला। जिसका प्रभाव उनके व्यक्तित्व पर दिखाई देता है। दुर्खीम बचपन में ईसाई तथा हिब्रू धम्र के भी सम्पर्क में आया, जिसके प्रभाव से धार्मिक तथा नैतिक जीवन के अध्ययन के सन्दर्भ वह जागरूक हुआ। किसी भी सफल पुरूष के पीछे एक स्त्री होती है यह उक्ति दुर्खीम के सन्दर्भ में सत्य है। अध्यापन कार्य शुरू करने के साथ दुर्खीम का विवाह लुई ड्रेफू से हुआ। उसकी पत्नी ने जहां परिवार का सम्पूर्ण दायित्व वहन किया वहीं दुर्खीम के अकादमिक कार्यों में उसका हाथ बंटाया।

दुर्खीम बचपन से ही कुशाग्र बुद्धि के थे। दुर्खीम ने हाई स्कूल तक की शिक्षा उत्तर पूर्व प्रांत से उत्तीर्ण की। दो असफल प्रय्रासों के पश्चात् 1879 में उसे 'इकोल नारमेल' नामक देश की प्रसिद्ध अकादमी में प्रवेश मिला। जिस वर्ष दुर्खीम ने इकोल नारमेल में प्रवेश लिया उस वर्ष तत्कालीन फ्रांस का प्रसिद्ध दार्शनिक बर्गसन उसका वरिष्ठ था। मनोवैज्ञानिक जैनेट, तर्कशास्त्री गोबलोट तथा समाजशास्त्री बागल, ह्यूबर्ट,ग्रेनेट तथा डेवी उस अकादमी में शिक्षा प्राप्त कर रहे थे।

'इकोल नारमेल' में दुर्खीम पर अपने शिक्षकों बोट्राडक्स तथा कोलेन्जेस का काफी प्रभाव पड़ा। बोट्राडक्स के विचार और पद्धति का दुर्खीम पर गहरा प्रभाव पड़ा। दुर्खीम का समूहवाद इसी सैद्धान्तिक पृष्ठभूमि का प्रभाव है। समूह के आधार पर सामाजिक जीवन एवं मानवीय व्यवहार की व्याख्या की प्रवृत्ति, दुर्खीम को बोट्राडक्स से ही प्राप्त हुई। दुर्खीम ने अपने डाक्ट्रेट के शोधप्रबन्ध समाज में श्रम विभाजन को बोट्राडक्स को समर्पित किया है। कोलेन्सेज दुर्खीम का पद्धतिशास्त्रीय मार्ग दर्शक था। कोलेन्सेज एक प्रत्यक्षवादी इतिहासकार था। कोलेन्सेज से प्रभावित होकर दुर्खीम ने कान्ट के द्वारा प्रतिपादित प्रत्यक्षवादी पद्धति को समाजशास्त्रीय अध्ययन में महत्वपूर्ण स्थान प्रदान किया है।

'इकोल नारमेल' से उपाधि प्राप्त करने के पश्चात दुर्खीम ने पांच वर्षों तक हाई स्कूल कक्षाओं में दर्शन शास्त्र पढ़ाया। 1885-1886 के सत्र में दुर्खीम ने अवकाश लेकर पेरिस तथा जर्मनी में उच्च

अध्ययन किया। एक वर्ष के शैक्षणिक अवकाश में दुर्खीम ने दो रिपोर्ट प्रस्तुत की। जिनमें से एक का सरोकार दर्शन शास्त्र के सामान्य शिक्षण से था तो दूसरी का प्रत्यक्षवादी नीतिशास्त्र से । 1887 में बार्डीयक्स (Bordeaux) विश्वविद्यालय में दुर्खीम की नियुक्ति से इस विश्वविद्यालय में समाज शास्त्र प्रारम्भ हुआ। 1896 में दुर्खीम को समाजशास्त्र विभाग का अध्यक्ष बना दिया गया। दुर्खीम को इस प्रकार फ्रांस में समाजशास्त्र का प्रथम प्रोफेसर होने का गौरव प्राप्त हुआ। यहां रहते हुए दुर्खीम के तीन महत्वपूर्ण ग्रन्थों - समाज में श्रम विभाजन, समाजशास्त्रीय पद्धति के नियम तथा आत्महत्या का प्रकाशन हुआ। सन 1902 में दर्खीम को पेरिस विश्वविद्यालय में अध्यापन का मौका मिला।

दुर्खीम समाजशास्त्र के प्रथम सम्पादक थे। 1918 में उन्होंने ऐनी सोशियोलाजी ('Annee Sociologique) नामक समाजशास्त्रीय पत्रिका का प्रकाशन प्रारम्भ किया। दुर्खीम बारह वर्षों तक इस पत्रिका के सम्पादक रहे।

तत्कालीन फ्रांस में डाक्टरेट अभ्यर्थियों को एक दीर्घ तथा एक लघु शोध प्रबन्ध लिखना पड़ता था। दुर्खीम ने अपना लघु शोध प्रबन्ध लातीनी भाषा में माण्टेस्क्यू पर लिखा। 1893 में दुर्खीम का दीर्घ शोध प्रबन्ध समाज में श्रम विभाजन प्रकाशित हुआ।

प्रमुख कृतियाँ — दुर्खीम की चार प्रमुख कृतियों का समाजशास्त्रीय साहित्य में महत्वपूर्ण स्थान है। दुर्खीम की प्रथम महत्वपूर्ण कृति उस का शोध प्रबन्ध 'समाज में श्रम विभाजन' (De la divison du travail social) 1893 में प्रकाशित हुआ। इस ग्रन्थ में दुर्खीम ने श्रम विभाजन की समाजशास्त्रीय व्याख्या की और इसे नैतिक तथ्य बताया। इस ग्रन्थ में दुर्खीम ने श्रम विभाजन के प्रकार्य, श्रम विभाजन के कारण और दशाएं तथा श्रम विभाजन के असमान्य स्वरूप की चर्चा की है।

दुर्खीम की रचना 'समाजशास्त्रीय पद्धति के नियम' (Les Regles de la methode sociologique) उनकी दूसरी रचना है जो 1895 में प्रकाशित हुई थी। सामाजिक तथ्यों को स्पष्ट करने के साथ ही दुर्खीम ने इस रचना में वैज्ञानिक अवलोकन वर्गीकरण, विश्लेषण और सामान्यीकरण के नियमों की सरल व्याख्या की है। इस पुस्तक में ही दुर्खीम ने सामान्य तथा व्याधिकीय तथ्यों में अन्तर बताया है।

दूसरी रचना के दो वर्ष पश्चात् 'आत्महत्या' नामक दुर्खीम की तीसरी रचना 1897 में प्रकाशित हुई। दुर्खीम ने आत्महत्या जैसे व्यक्तिगत तथ्य को भी व्यक्ति के सामूहिक जीवन से सम्बन्धित करके विश्लेषित करने का प्रयास किया है।

दुर्खीम ने सामाजिक कारकों के संदर्भ में अहंमवादी, परार्थवादी और प्रतिमानविहीन आत्महत्या के 3 रूपों का विश्लेषित किया है।

दुर्खीम की सबसे विशाल एवं उनकी चौथी रचना ''धार्मिक जीवन के प्रारम्भिक स्वरूप'' (Les farmes Elementaires de la vie religieuse) 1912 में प्रकाशित हुयी। दुर्खीम ने आस्ट्रेलियाई जनजाति के नृजातीय विवरण को आधार बनाकर येय्मवाद के आधार पर धर्म की व्याख्या की। दुर्खीम की कुछ रचनाएं उनकी मृत्यूपरांत उनकी पत्नी लुई ड्रेफू (Louise Drefus) ने प्रकाशित करवायीं वे निम्न हैं-

1. सोशियोलाजी आफ एजुकेशन 2. सोशियोलाजी आफ फिलोसोफी

3. मोरल एजुकेशन ।

इन पुस्तकों के अतिरिक्त कुछ रचनाएं दुर्खीम की पत्नी की मृत्युपरांत प्रकाशित हुयी, वह है — द सोशियलिज्म, द इवोल्यूशन आफ पेडागोलाजी इन फ्रांस, लेकस डि सोशियोलाजी, मोनटेस्क्यू एण्ड रूसो तथा प्रेम मेटिजम एण्ड सोशियोलाजी ।

प्रथम विश्व युद्ध में दुर्खीम के पुत्र ऐण्ड्रे की मृत्यु हो गयी। पुत्र की मृत्यु ने दुर्खीम को हिला कर रख दिया। वह नैतिकशास्त्र पर एक ग्रन्थ लिखना चाहते थे जिसकी प्रारम्भिक रूपरेखा भी उन्होनें बना ली थी लेकिन 15 नवम्बर 1917 में समाजशास्त्र के इस महान पुरोधा ने 59 वर्ष की अवस्था में अपना पार्थिव शरीर छोड़ दिया।

इकाई 14 समाजशास्त्रीय पद्धति के नियम: सामाजिक तथ्य

इकाई की रूपरेखा

14.0 उद्देश्य

14.1 प्रस्तावना

14.2 सामाजिक तथ्य

14.3 सामाजिक तथ्यों के अवलोकन के नियम

14.4 सामान्य तथा व्याधिकीय तथ्य

14.5 समाजशास्त्रीय प्रमाणों की स्थापना के नियम

14.6 सारांश

14.7 बोध प्रश्न

14.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

14.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप:

- समाजिक तथ्य एवं उनकी विशेषताओं का वर्णन कर सकेंगे।
- सामाजिक तथ्यों के अवलोकन के नियमों के का उल्लेख कर सकेंगे।
- सामान्य तथा व्याधिकीय तथ्यों के बीच विभेद की विवेचना कर सकेंगे।
- समाजशास्त्रीय प्रमाणों की स्थापना के नियमों को स्पष्ट कर सकेंगे।

14.1 प्रस्तावना

द रूल्स आफ सोशियोलाजिकल मेथड्स का प्रकाशन 1895 में हुआ। अपनी इस पुस्तक में दुर्खीम ने दो समस्याओं की व्याख्या की। पहले तो उसने समाजशास्त्र के विद्यार्थियों के लिये विशिष्ट तथा उपयुक्त विषय सामग्री का निर्धारण किया है। और तत्पश्चात् प्राकृतिक विज्ञानों की प्रत्यक्षवादी तथ्यात्मक अध्ययन पद्धति की रूपरेखा प्रस्तुत की एवं इसके नियमों का निर्माण किया। उन्नीसवीं शताब्दी के अंत में सामाजिक विज्ञानों में उपयोगितावाद का महत्व बढ़ गया था। दुर्खीम आधुनिक समाज की उपयोगितावादी धारणा के प्रबल विरोधी थे। दुर्खीम ने प्रत्यक्षवादी सिद्धान्त के आधार पर समाजशास्त्रीय पद्धति को स्वीकार किया जो कि उपयोगितावाद के विपरीत थी। दुर्खीम के सामाजिक पद्धति के नियमों की चर्चा हम इस इकाई में करेंगे। सर्वप्रथम हम सामाजिक तथ्यों के विषय में चर्चा करेंगे जिन्हें दुर्खीम ने समाजशास्त्र की विषयसामग्री के रूप में प्रस्तुत किया है, इसके साथ साथ हम सामाजिक तथ्यों की विशेषताओं का भी अध्ययन करेंगे। तत्पश्चात इस इकाई में हम सामाजिक तथ्यों के अवलोकन के नियमों की चर्चा करेंगे और यह जानने का प्रयास करेंगे कि वैज्ञानिक ज्ञान दुर्खीम के अनुसार समाजशास्त्र में कैसे प्राप्त किया जा सकता है। इसके पश्चात इसी इकाई में हम सामान्य तथा व्याधिकीय तथ्यों की चर्चा करेंगे और तत्पश्चात् समाजशास्त्रीय प्रमाणों की स्थापना के नियमों के विषय में जानेगें।

14.2 सामाजिक तथ्य

दुर्खीम ने अध्ययन पद्धति तथा विषय सामग्री दोनों ही रूपों से समाजशास्त्र को एक स्वतंत्र सामाजिक विज्ञान बनाने का प्रयास किया। समाजशास्त्र की विषय सामग्री के रूप में दुर्खीम ने सामाजिक तथ्यों को प्रस्तुत किया है। समूह की चेतना से सम्बन्धित वे तथ्य जो व्यक्तिगत चेतना से स्वतंत्र हो और जिनके दबाव के कारण समाज के व्यक्ति और समूह क्रियायें करते हैं सामाजिक तथ्य कहलाते हैं दुर्खीम (1895) के शब्दों में ''एक सामाजिक तथ्य, क्रिया करने का प्रत्येक स्थायी अथवा अस्थायी तरीका है जो व्यक्ति पर बाहरी दबाव डालने में समर्थ होता है, अथवा पुन: क्रिया करने का प्रत्येक तरीका जो किसी समाज में सामान्य रूप से पाया जाता है किन्तु साथ ही साथ व्यक्तिगत अभिव्यक्तियों से स्वतंत्र पृथक अस्तित्व रखता है।''

सामाजिक तथ्य किसी भी समूह के सदस्यों की क्रियाओं, सोच और भावनाओं के निर्धारित स्वरूप है जो किसी एक व्यक्ति से परे और उससे अधिक सशक्त है। कभी कभी ऐसे तथ्य निश्चित स्वरूप ग्रहण कर लेते हैं और यदा कदा सामाजिक लहर के रूप में विद्यमान रहते हैं। सामाजिक तथ्य मनुष्यों की क्रियाओं से सम्बन्धित घटनाएं हैं। क्रिया करने के तरीके सामाजिक तथ्य हैं। ऐसी सामाजिक घटनाएं स्थायी भी होती हैं और अस्थायी भी। किसी समूह में इन घटनाओं में बहुत कम हेर फेर होता है। विभिन्न समाज में आत्म हत्या, विवाह तथा मृत्यु की वार्षिक दर प्राय: स्थिर रहती है। अत: इन्हें भी सामाजिक तथ्य कहा जा सकता है। ईश्वर को सामाजिक तथ्य नहीं माना जा सकता है क्योंकि उसका वास्तविक निरीक्षण संभव नहीं है। इसी प्रकार मन में सोचा गया कोई विचार भी सामाजिक तथ्य नहीं है क्योंकि उसका बाह्य स्वरूप स्पष्ट नहीं है। परन्तु ईश्वर से सम्बन्धित पूजा या आराधना जैसे - टोटेमवाद को सामाजिक तथ्य माना जायेगा, क्योंकि उसका निरीक्षण संभव है।

दुर्खीम ने निवास करने अथवा रहने के तरीकों को क्रिया करने के तरीकों में शामिल किया। नगरों में जनसंख्या का अधिक घनत्व और अधिक जनसंख्या एक सामाजिक तथ्य है जो कि मनुष्यों के व्यवहार करने के तरीकों को प्रभावित करती है। भोजन, खान पान के तरीके और आवास प्रतिमान भी सामाजिक तथ्य है और कम परिवर्तनशील हैं। सामाजिक तथ्य की प्रमुख विशेषतायें निम्न हैं-

(1) **बाध्यता बाहरीपन** — सामाजिक तथ्य की सबसे पहली और महत्वपूर्ण विशेषता उसकी वाह्यता है। सामाजिक तथ्य व्यक्ति के लिये सामाजिक वास्तविकता का एक बाहरी तत्व होता है अर्थात किसी एक व्यक्ति के मस्तिष्क में सामाजिक तथ्य की उत्पत्ति नहीं होती। सामाजिक तथ्यों का निर्माण तो समाज के सदस्यों द्वारा ही होता है परन्तु सामाजिक तथ्य एक बार विकसित हो जाने के बाद किसी एक व्यक्ति के नहीं रहते। दुर्खीम के विचार से क्रिया करने, विचार करने और अनुभव करने के तरीके हमें पहले से ही तैयार मिलते हैं कोई व्यक्ति स्वयं इनका निर्माण नहीं करता। सामूहिक जीवन या सामूहिक चेतना जो सामाजिक तथ्यों की उत्पत्ति और विकास के लिये उत्तरदायी है, का मनुष्यों की व्यक्तिगत चेतनाओं से पृथक एक बाहरी अस्तित्व है एक उदाहरण के द्वारा इसे हम स्पष्ट कर सकते हैं- पानी का निर्माण आक्सीजन और हाइड्रोजन के परमाणुओं के संयोग से होता है परन्तु पानी की विशेषतायें हाइड्रोजन और आक्सीजन की विशेषताओं से अलग होती है। इसी प्रकार व्यक्तिगत चेतनाओं के निर्माण से सामूहिक चेतना का निर्माण होता है जो व्यक्तिगत तथ्यों से पृथक अस्तित्व रखती है।

(2) **बाध्यता** — सामाजिक तथ्य व्यक्ति के लिये बाहरी वस्तु होने के कारण उस पर विशिष्ट प्रकार के व्यवहार को करने के लिये दबाव डालते हैं। बाध्यता या दबाव सामाजिक तथ्यों की प्रमुख विशेषता है सामूहिक चेतना की शक्ति वैयक्तिक चेतना की शक्ति से अधिक होती है इस शक्ति की

इच्छा और दबाव के द्वारा व्यक्ति का व्यवहार निर्देशित होता है। दुर्खीम का मानना है कि सामाजिक तथ्य केवल व्यक्ति के व्यवहार को ही नहीं बल्कि उसके सोचने, विचारने तथा अनुभव करने के तरीके को भी प्रभावित करते हैं। सामाजिक तथ्य व्यक्तिगत अभिरूचि के अनुरूप नहीं होते बल्कि व्यक्ति का व्यवहार सामाजिक तथ्यों के अनुरूप होता है। जिन सामाजिक तथ्यों में बाध्यता का लक्षण दुर्खीम ने बताया है उनमें परिवार, धर्म सेना तथा शिक्षा का प्रमुख स्थान है। आदिम समाज में धर्म जीवन के समस्त कार्यकलापों का नियामक बन जाता है । यहूदी, कैथोलिक तथा प्रोटेस्टेन्ट धर्म में यह दबाव क्रमशः कुछ कम होता जाता है आत्महत्या से सम्बन्धित दुर्खीम के सिद्धान्त का अध्ययन करते समय आप धर्म, परिवार, विवाह तथा राष्ट्र का व्यक्ति के व्यवहार पर पड़ने वाले प्रभाव का विस्तृत अध्ययन करेंगे। दुर्खीम जब बाध्यता का विश्लेषण करते हैं तो यह मानते हैं कि यह आवश्यक नहीं है कि दबाव प्रत्यक्ष ही हो, कई बार यह दबाव अप्रत्यक्ष भी होता है।

(3) सामान्यता - सामाजिक तथ्यों का वितरण समाज में सामान्य रूप से होता है। सामाजिक तथ्य व्यवहार का वह तरीका है जो किसी विशिष्ट समाज में सामान्य रूप से पाया जाता है। किसी व्यवस्थित समाज में सामाजिक तथ्यों को इतने बड़ पैमाने पर या सामान्य रूप से स्वीकार कर लिया जाता है कि उसे समाज की ही विशेषता मान लिया जाता है। आधुनिक समाज में शिक्षा, मतदान तथा व्यवसाय सम्बन्धी नियम ऐसे ही सामाजिक तथ्य हैं । दुर्खीम का कहना है कि मनुष्य का शरीर कोष्ठों का योग है परन्तु कोष्ठों की विशेषताओं के आधार पर मनुष्य के शरीर की विशेषताओं को नहीं समझा जा सकता है। समाज भी केवल व्यक्ति के गुणों का योग नही है। सामाजिक तथ्य को एक प्रकार से सामाजिक आदर्श भी कह सकते हैं जो सामूहिक होने के कारण सामान्य बन जाता है। यह एक सामाजिक दशा है जिसकी पुनरावृत्ति प्रत्येक व्यक्ति में होती है। आशय यह है कि सामाजिक तथ्य की सामान्यता उसकी सामूहिकता का परिणाम है। सामाजिक तथ्य प्रत्येक व्यक्तिगत चेतना में सामान्य रूप से इस लिये पाया जाता है क्योंकि वह संपूर्ण समूह में व्याप्त है।

(4) अधिवैयक्तिकता — दुर्खीम के अनुसार सामाजिक तथ्य व्यक्तिगत अभिव्यक्तियों से स्वतंत्र होता है। साामजिक तथ्य वैयक्तिक क्रियाओं में विभिन्न स्वरूपों में स्पष्ट होता है किन्तु वह इन स्वरूपों पर निर्भर नहीं करता है। व्यक्ति बनाम समाज उन्नीसवीं शताब्दी के यूरोप की बहुत बड़ी समस्या थी। दुर्खीम उपयोगितावादी विचारकों से असहमति प्रकट करते हुये समाज को व्यक्ति से ऊपर मानते हैं । अपने श्रमविभाजन सम्बन्धी सिद्धान्त में भी दुर्खीम समाज अथवा समूह की महत्ता का प्रतिपादन करते हैं! सामाजिक पद्धति के नियम स्पष्ट करते समय दुर्खीम यह भी स्पष्ट करते हैं कि सामाजिक तथ्य अधिवैयक्तिक होते हैं, अर्थात् सामाजिक तथ्य सामूहिक वास्तविकता है जो वैयक्तिक वास्तविकताओं से श्रेष्ठ और स्वतन्त्र हैं।

14.3 सामाजिक तथ्यों के अवलोकन के नियम

सामाजिक तथ्य के विषय में ज़ानने के पश्चात आइये हम सामाजिक तथ्यों के अवलोकन के नियमों के विषय में जानें। अपनी पद्धतिशास्त्र विषयक पुस्तक के द्वितीय अध्याय में दुर्खीम ने सामाजिक तथ्यों के अवलोकन के नियमों की चर्चा की है। समाजशास्त्र को व्यवस्थित और वास्तविक विज्ञान के रूप में स्थापित करने के लिए दुर्खीम ने प्राकृतिक विज्ञानों की अध्ययन पद्धति को अपनाना आवश्यक समझा। पूर्ण रूप से तटस्थ व निष्पक्ष हुये बिना तथ्यों का वैज्ञानिक अध्ययन संभव नहीं है दुर्खीम ने सामाजिक तथ्यों के वैज्ञानिक अवलोकन के लिये निम्न विशिष्ट नियमों का प्रतिपादन किया।

(1) सामाजिक तथ्यों को यथार्थ अथवा प्रत्यक्ष माना जाये — दुर्खीम का मानना है कि प्रत्येक सामाजिक तथ्य का सम्बन्ध प्रत्यक्ष तथ्य से है जबकि विचार का अमूर्त अथवा परोक्ष से। दुर्खीम तथ्य के प्रत्यक्ष स्वरूप पर ध्यान केन्द्रित करते हैं। प्रत्यक्ष तथ्य में अध्ययनकर्ता अपनी इच्छा से परिवर्तन नहीं कर सकता है। दुर्खीम के अनुसार घटनाओं का सामान्य ज्ञान व वैज्ञानिक ज्ञान दोनों भिन्न होते हैं। जब तक सामाजिक तथ्यों को एक बाहरी वस्तु समझकर उसका प्रत्यक्ष अवलोकन नहीं किया जायेगा, तब तक वैज्ञानिक ज्ञान प्राप्त होना संभव नहीं है। समाज वैज्ञानिक जब सामाजिक तथ्यों की व्याख्या करते हैं तो पूर्व निर्णय तथा पूर्व धारणायें वैज्ञानिक अध्ययन में बाधक सिद्ध होती है अर्थात् अध्ययनकर्ता के समस्या के सम्बन्ध में निजी विचार वास्तविक ज्ञान की प्राप्ति में बाधक होते हैं। इस बांधाओं को दूर करने के लिए भौतिक तथ्यों की भांति सामाजिक तथ्यों को भी एक बाहरी घटना के रूप में समझते हुये वस्तुओं के रूप में देखना चाहिए।

(2) पूर्व मान्यताओं का निराकरण — तथ्यों के वस्तुओं के रूप में अध्ययन के लिये आवश्यक है कि अध्ययनकर्ता इनके सम्बंध मे अपनी कल्पनाओं अथवा मान्यताओं को त्याग दें। सामाजिक तथ्यों के विषय में रागमूलक अथवा द्वेषमूलक भावनाओं से ऊपर हटकर वस्तुनिष्ठ रूप से अवलोकन करना चाहिए। धार्मिक, नैतिक तथा राजनैतिक विश्वासों से सम्बन्धित हमारी मान्यताएं तटस्थ अध्ययन में बाधायें उत्पन्न करती हैं या भावात्मक प्रवृत्ति तथ्यों को समझने तथा उनकी व्याख्या करने के मार्ग में अवरोध उत्पन्न करती है। जितना अधिक हम सामाजिक तथ्यों के अवलोकन में पूर्व मान्यताओं और भावनात्मक अवधारणाओं से मुक्त होते जायेंगे, अध्ययन उतना ही वैज्ञानिक होता जायेग।

(3) विषयवस्तु की परिभाषा — दुर्खीम के अनुसार समाज शास्त्री का प्रथम कार्य उन वस्तुओं की परिभाषा करना होना चाहिए जिनका वह अध्ययन करता है जिससे कि उसकी विषय सामग्री के विषय में जाना जा सके। परिभाषा में घटना की वाह्य विशेषता का समावेश होना चाहिए। परिभाषा इतनी विस्तृत होनी चाहिए जिसमें विशेषताओं से सम्बन्धित प्रत्येक सामग्री को सम्मिलित किया जा सके। समाजशास्त्री को वैज्ञानिक अध्ययन करने के लिये विषय सामग्री की स्पष्ट व्याख्या करना आवश्यक है। यह स्पष्टीकरण तभी संभव है जब विषय सामग्री के अन्तर्गत आने वाली सभी महत्वपूर्ण वस्तुओं को परिभाषित कर लिया जाये।

(4) वैयक्तिक तथ्यों तथा सामाजिक तथ्यों की पृथकता — विज्ञान के लिये वैषयिकता आवश्यक है। वैषयिकता प्राप्त करने में सबसे बड़ी बाधा व्यक्तिगत भाव है। अत: समाजशास्त्री को यह प्रयास करना चाहिए, कि वह घटना पर ऐसे नजरिये से विचार करें जो उसकी व्यक्तिगत भावनाओं से स्वतंत्र हों। अत: सामाजिक तथ्यों के अनुभव में व्यक्तिगत पक्षपात, उचित अनुचित के मानदंड, राग और द्वेष जैसे वैयक्तिक तथ्यों से बचते हुये सामाजिक तथ्यों का वैषयिक अध्ययन करना चाहिये।

14.4 सामान्य तथा व्याधिकीय तथ्य

दुर्खीम के अनुसार अवलोकन की प्रक्रिया में हमारा परिचय दो प्रकार के सामाजिक तथ्यों से होता है। कुछ तथ्य सामान्य होते हैं जो कि समाज के प्रचलित मानदण्डों के अनुरूप होते हैं इन्हें दुर्खीम सामान्य सामाजिक तथ्य मानते हैं। इसके विपरीत दूसरे प्रकार के सामाजिक तथ्य सामाजिक मान्यताओं के विरूद्ध होते हैं इन्हें दुर्खीम असामान्य या व्याधिकीय तथ्य कहता है। सामान्य तथ्य सामाजिक जीवन के स्वास्थ्य में वृद्धि करते हैं, जबकि व्याधिकीय तथ्य समाज के स्वास्थ्य के लिए हानिकारक हैं उसी प्रकार समाज के लिये व्याधिकीय तथ्य हानिकारक व सामान्य तथ्य लाभदायक हैं।

आशा है कि सामान्य व व्याधिकीय तथ्य क्या है, यह तो आप समझ गये होंगे परन्तु एक प्रश्न आपके मन में होगा कि सामान्य व व्याधिकीय तथ्यों में विभेद कैसे किया जाये। इस प्रश्न का उत्तर देने का दुर्खीम ने प्रयास किया है दुर्खीम के अनुसार हमें कुछ बाहरी और प्रत्यक्ष विशेषताओं की खोज करनी चाहिये जिनके आधार पर हम सामान्य व व्याधिकीय तथ्यों में भेद कर सकें। ये आधार निम्नांकित हैं —

(1) **व्यापकता** — दुर्खीम का मानना है कि सामान्य तथ्यों की प्रमुख पहचान यह है कि ये तथ्य व्यापक होते हैं जैसे - विवाह, व्यवसाय, राजनीति, वर्ग, शिक्षा, आदि ऐसे तथ्य हैं जो पूरे समाज में पाये जाते हैं। समाज में प्रत्येक व्यक्ति किसी न किसी व्यवसाय, स्थान अथवा समूह से जुड़ा होता है। समस्त सामाजिक घटनाएं भिन्न भिन्न सामाजिक स्वरूपों में प्रकट होती हैं। घटनाओं के कुछ स्वरूप समाज में अधिक पाये जाते हैं, व उनमें परिवर्तन भी कुछ कम होता है। हालांकि स्थान व काल के सापेक्ष उनमें परिवर्तन हो सकता है उदाहरण के लिये भारत में अन्तर्जातीय विवाह एक सामान्य सामाजिक तथ्य हैं और आज भी देश के कई भागों में जाति से बाहर विवाह करने वाले को सामाजिक प्रताड़ना झेलनी पड़ती है। अत: अन्तर्राजातीय विवाह एक सामान्य सामाजिक तथ्य है जबकि जाति से बाहर विवाह एक व्याधिकीय तथ्य है स्थान व काल के सापेक्ष यदि हम व्याख्या करें तो भारत के अतिरिक्त अन्य देशों में अन्तर्जातीय विवाह की व्यापकता नहीं हैं या विवाह के सम्बन्ध में जातिगत निषेध नही पाये जाते हैं। हो सकता है कि आने वाले सौ दो सौ वर्षों में अन्तर्जातीय विवाह की व्यापकता कम हो जाये। इस प्रकार सामान्य व व्याधिकीय तथ्यों को विशिष्ट समाज अथवा विशेष समय के सापेक्ष ही समझा जा सकता है। सामान्य तथ्यों के विपरीत असामान्य या व्याधिकीय तथ्यों की व्यापकता कम होती है।

(2) **उपयोगिता** — सामान्य तथा व्याधिकीय तथ्यों मे दूसरा अंतर उपयोगिता को लेकर है। व्यापकता का गुण सामान्य सामाजिक तथ्य को उपयोगी या लाभदायक बना देता है। ऐसे व्यापक तथ्यों की आवृत्ति अधिक होती है जो समाज के लिये उपयोगी होते हैं। इसके विपरीत समाज के अस्तित्व की सुरक्षा में बाधक तथ्य उपयोगी नहीं होते व इनकी आवृत्ति भी कम होती है अर्थात ये समाज में प्रचलित कम होते हैं दुर्खीम यह भी मानते हैं कि यह आवश्यक नहीं है कि प्रत्येक सामान्य तथ्य उपयोगी ही हों अथवा प्रत्येक तथ्य जो उपयोगी हो, सामान्य तथ्य ही हों।

14.5 समाजशास्त्रीय प्रमाणों की स्थापना के नियम

समाजशास्त्रीय पद्धति का उद्देश्य निष्कर्षों की स्थापना अथवा समाजशास्त्रीय नियमों का निर्माण करना है विज्ञान में किसी एक घटना के घटित होने के लिये दूसरी घटना को तभी जिम्मेदार माना जाता है जब तुलनात्मक रूप से उन **दोनों घटनाओं में पारस्परिक निर्भरता दिखायी जा सके। दुर्खीम वैज्ञानिक** नियमों के आधार पर समाजशास्त्रीय नियमों की स्थापना करना चाहते हैं सामाजिक घटनाओं पर चूँकि समाजशास्त्रीय का नियंत्रण नहीं रहता इसलिये प्रत्यक्ष प्रयोग की पद्धति का प्रयोग नहीं किया जा सकता। बल्कि इसके लिये दुर्खीम अप्रत्यक्ष प्रयोगात्मक विधि की अनुशंसा करते हैं।

तुलनात्मक पद्धति— कोंत ने ऐतिहासिक पद्धति के आधार पर सामाजिक जीवन के विकास की **व्याख्या की थी, परन्तु दुर्खीम** का मानना है कि ऐतिहासिक विधि द्वारा हम घटनाओं के सह सम्बन्ध को नहीं जान सकते हैं। **इसके** अतिरिक्त प्राकृतिक विज्ञानों में प्रयुक्त प्रयोगात्मक विधि का प्रयोग भी **समाजशास्त्र में नहीं किया जा सकता है।** दुर्खीम ने तुलनात्मक पद्धति को अपनाया जो कि प्राकृतिक विज्ञानों के **प्रयोगात्मक पद्धति** के अधिक निकट थी। इसे अप्रत्यक्ष प्रयोगात्मक विधि भी कहा जाता है दुर्खीम ने तुलनात्मक विधि के प्रयोग में विज्ञान के सूत्र को माना है कि विशिष्ट परिणाम उससे सम्बन्धित एक ही विशिष्ट कारण का फल होता है। दुर्खीम का मानना है कि यदि आत्महत्या के कई कारण हैं तो

इसका आशय यह है कि आत्महत्याओ के कई प्रकार हैं और प्रत्येक कारण तत्सम्बन्धी विशेष प्रकार के आत्महत्या के लिये उत्तरदायी हैं।

सह-विचरण अथवा सह-सम्बन्ध की विधि — दुर्खीम ने समाजशास्त्रीय नियमों की स्थापना के लिये तुलनात्मक पद्धति की जिस विधि को उपयुक्त माना है वह सह-सम्बन्ध या सह-विचरण की विधि है इस विधि के अन्तर्गत दो तथ्यों के पारस्परिक प्रभाव का अध्ययन किया जाता है। दुर्खीम का मानना कि इस पद्धति के द्वारा कार्य-कारण सम्बन्धों की स्थापना संभव है। परस्पर सम्बन्धित दो घटनाओं में से एक कारण तथा दूसरा परिणाम हो सकती है अथवा यह भी हो सकता है कि दोनों किसी तीसरी घटना का परिणाम हो अथवा उन दोनों में से एक किसी तीसरी घटना का कारण और दूसरी उसका परिणाम हो सकती है। उदाहरण के लिये यदि हम आत्महत्या की दर और आर्थिक स्तर के मध्य सम्बन्ध का अध्ययन करें (जैसा कि चित्र 1 (क) में दिखाया है)।

चित्र - 1 (क)

आर्थिक स्तर	आत्महत्या की दर
उच्च	अधिक
निम्न	कम

चित्र - 1 (ख)

धार्मिक संगठन	आत्महत्या की दर
सुगठित (कैथोलिक)	कम
शिथिल (प्रोटेस्टैण्ट)	अधिक

आर्थिक स्तर व आत्महत्या की दर में तुलना करने पर हम पाते हैं कि उच्च आर्थिक स्तर के लोगों में आत्महत्या की दर अधिक होती है व निम्न आर्थिक स्तर के लोगों में आत्महत्या की दर कम होती है चित्र 1 (ख) में हम देखते हैं कि जो धार्मिक संगठन सुगठित होते हैं जैसे — कैथोलिक, उनके अनुयायियों में आत्महत्या की दर शिथिल, धार्मिक संगठन जैसे प्रोटेस्टैण्ट के अनुयायियों की तुलना में कम होती है यदि हम आर्थिक स्थिति को एक जैसा रख दें अर्थात आर्थिक स्थिति की विभिन्नता को नियंत्रित कर दें और फिर धार्मिक संगठन की विभिन्न स्थितियों में आत्महत्या की दर की विभिन्नता को देख सकते हैं जैसा कि चित्र 2 में दिखाया गया है—

चित्र - 2

आर्थिक स्थिति	धार्मिक संगठन	आत्महत्या की दर
उच्च	सुगठित (कैथोलिक)	कम
उच्च	शिथिल (प्रोटेस्टण्ट)	अधिक

यहां दो विभिन्नतायें साथ साथ परिवर्तित हो रही हैं । आर्थिक स्थिति एक जैसी होने पर हम देखते हैं धार्मिक संगठन की सुदृढ़ता व आत्महत्या की दर में प्रतिलोमानुपाती अथवा विपरीत सम्बन्ध होता अर्थात एक सी आर्थिक स्थिति वाले कैथोलिकों की तुलना में प्रोटेस्टेण्ट मतावलम्बियों में आत्महत्या

दर अधिक होती है। दुर्खीम का मानना है कि इस पद्धति का प्रयोग केवल आत्महत्या के सम्बन्ध में ही नहीं, अपितु समस्त सामाजिक तथ्यों के संदर्भ में किया जा सकता है।

14.6 सारांश

इस इकाई में आपने दुर्खीम की समाजशास्त्रीय पद्धति के नियमों का अध्ययन किया। दुर्खीम ने अपनी समाजशास्त्रीय पद्धति के नियमों के माध्यम से कोम्ट द्वारा प्रारम्भ किये गये प्रत्यक्षवादी पद्धतिशास्त्रीय आंदोलन को एक निश्चित दिशा प्रदान की। इस इकाई के प्रारम्भ में आपने जाना कि दुर्खीम समाजशास्त्र की विषय सामग्री के रूप में सामाजिक तथ्यों की चर्चा करते हैं। इसके पश्चात् आपने सामाजिक तथ्यों के अवलोकन के नियमों का ज्ञान प्राप्त किया। दुर्खीम ने अपनी पुस्तक के तीसरे अध्याय में सामान्य तथा व्याधिकीय तथ्यों की चर्चा की है जिसका अध्ययन हमने इस इकाई में किया है इकाई के अंत में आपने समाजशास्त्रीय प्रमाणों की स्थापना के नियम के अन्तर्गत यह जाना कि दुर्खीम किस प्रकार ऐतिहासिक व प्रयोगात्मक विधि की तुलना में तुलनात्मक पद्धति की महत्ता को स्वीकार करते हैं।

14.7 बोध प्रश्न

(क) वस्तुनिष्ठ बोधात्मक प्रश्न —

(1) दुर्खीम किस पद्धति को समाजशास्त्रीय अध्ययन में उपयोगी मानते है—

(क) ऐतिहासिक पद्धति (ख) तुलनात्मक पद्धति (ग) प्रयोगात्मक विधि

(2) दुर्खीम की पद्धतिशास्त्र मूलक पुस्तक का प्रकाशन वर्ष क्या है —

(क) 1890 (ख) 1897 (ग) 1895 (घ) 1912

(3) सामाजिक तथ्य क्या हैं—

(क) समाज में फैली हुयी भ्रान्तियां (ख) सामाजिक शोध से मिले निष्कर्ष

(ग) क्रिया करने, विचार करने व अनुभव करने के तरीके (घ) इतिहास सम्बन्धी ज्ञान

(4) सामाजिक तथ्य की प्रमुख विशेषता क्या है—

(क) गूढ़ता (ख) वाह्यता (ग) बाध्यता (घ) वाह्यता एवं बाध्यता

(5) दुर्खीम ने सामाजिक तथ्यों को दो प्रकार का माना है पहला सामान्य तथ्य व दूसरा —

(क) मनोवैज्ञानिक तथ्य (ख) जैविक तथ्य (ग) व्याधिकीय तथ्य (घ) मूर्त तथ्य

(ख) लघुउत्तरीय प्रश्न —

प्र. 1 सामाजिक तथ्य की प्रमुख विशेषताएं क्या हैं !

प्र. 2 सामाजिक तथ्य को वस्तुओं के रूप में क्यों देखना चाहिए?

प्र. 3 सामान्य व व्याधिकीय तथ्यों में क्या अंतर है?

प्र. 4 तुलनात्मक पद्धति से आप क्या समझते हैं?

प्र. 5 सामाजिक तथ्यों के अवलोकन के क्या नियम हैं?

(ग) दीर्घ उत्तरीय प्रश्न —

प्र. 1 सामाजिक तथ्य से आप क्या समझते हैं? इनकी विशेषताओं का वर्णन कीजिये।

प्र. 2 सामान्य व व्याधिकीय तथ्यों में अंतर बताते हुये सामाजिक तथ्यों के अवलोकन के नियमों की चर्चा कीजिये?

14.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

1. (ख) तुलनात्मक पद्धति
2. (ग) 1895
3. (ग) क्रिया करने, विचार करने व अनुभव करने के तरीके
4. (घ) वाह्यता एवं बाध्यता
5. (ग) व्याधिकीय तथ्य

इकाई 15 समाज में श्रम विभाजन

इकाई की रूपरेखा

15.0 उद्देश्य

15.1 प्रस्तावना

15.2 श्रम विभाजन का अर्थ

15.3 श्रम विभाजन के प्रकार्य

15.3.1 कानून तथा एकता

15.3.2 यांत्रिक एकता

15.3.3 सावयवी एकता

15.4 श्रम विभाजन के कारण

15.4.1 श्रम विभाजन के प्राथमिक कारण

15.4.2 श्रम विभाजन के द्वितीयक कारण

15.5 श्रम विभाजन के परिणाम

15.6 श्रम विंभाजन के असमान्य स्वरूप

15.6.1 आदर्शहीन श्रम विभाजन

15.6.2 बलात् श्रम विभाजन

15.6.3 व्यक्तिगत कार्य की अपर्याप्तता

15.7 सारांश

15.8 बोध प्रश्न

15.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

15.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप:

- श्रमविभाजन के अभिप्राय एवं आशय का उल्लेख कर सकेंगे।
- श्रम विभााजन के प्रकार्य की विवेचना कर सकेंगे।
- श्रमविभाजन के कारणों को स्पष्ट कर सकेंगे।
- श्रमविभाजन के परिणामों को स्पष्ट कर सकेंगे।
- श्रमविभाजन के असामान्य स्वरूपों का उल्लेख कर सकेंगे।

15.1 प्रस्तावना

समाज में श्रम विभाजन (De la divison du erauail social) 1893 में प्रकाशित दुर्खीम की प्रथम कृति है। मूलतः यह दुर्खीम का शोधग्रन्थ है जो उसने पी. एच. डी. उपाधि के लिए लिखा था। इस ग्रन्थ

के विश्लेषण में हमें दुर्खीम द्वारा प्रतिपादित समस्त समाजशास्त्रीय अवधारणाओं की छाप मिलती है । समाजशास्त्रीय अध्ययन के लिए दुर्खीम द्वारा प्रयुक्त प्रत्यक्षवादी पद्धति का अनुसरण उन्होंने प्रथम ग्रन्थ से ही किया है। अपनी पुस्तक को दूर्खीम ने तीन खण्डों में विभाजित किया है। ये खण्ड निम्न हैं—

(1) श्रम विभाजन के प्रकार्य — इस खण्ड में दुर्खीम ने श्रम विभाजन को सामाजिक एकता के आधार के रूप में प्रस्तुत किया है।

(2) दूसरे खण्ड में दुर्खीम ने श्रम विभाजन के कारणों और परिणामों पर प्रकाश डाला है।

(3) तीसरे खण्ड में दुर्खीम ने श्रम विभाजन के असमान्य स्वरूपों की चर्चा की है।

इस इकाई में सर्वप्रथम हम श्रम विभाजन का अर्थ जानेगें। हम यह जानने का प्रयास करेंगे कि श्रम विभाजन दुर्खीम के लिये एक आर्थिक अवधारणा न होकर सामाजिक अवधारणा क्यों है। इसके पश्चात् हम श्रम विभाजन के प्रकार्य के अन्तर्गत दमनकारी तथा प्रतिकारी कानून तथा यांत्रिक एवं सावयवी एकता का अध्ययन करेंगे। इसके पश्चात् हम श्रमविभाजन के कारण तथा परिणामों एवं श्रम विभाजन के असामान्य स्वरूपों की हम चर्चा करेंगे।

15.2 श्रम विभाजन का अर्थ

श्रम विभाजन से आशय है किसी कार्य को छोटे-छोटे खण्डों या भागों में विभाजित करना। कार्य को खण्डित कर छोटे छोटे भागों में विभिन्न व्यक्तियों द्वारा सम्पादित किया जाता है। आइये एक छोटा सा उदाहरण घर से लें। प्रायः घर में बाहर के कार्य पुरूष करते हैं। माताएं भोजन बनाती हैं। हो सकता है आपकी बहन तरकारी काटने या भोजन परोसने में माताजी की मदद करती हो। इस प्रकार सामान्य जनजीवन में आप श्रम विभाजन को देख सकते हैं। समाज में कोई व्यक्ति अन्न का उत्पादन करता है कोई विपणन करता है कोई चिकित्सक है या कोई शिक्षक है। सभी व्यक्ति अपनी विशेषज्ञता के अनुरूप कार्य करते हैं। यही श्रम विभाजन है श्रम विभाजन द्वारा विशेषज्ञता उत्पन्न होती है जिससे समय बचता है और उत्पादकता में वृद्धि होती है।

स्काटलैंड के प्रसिद्ध अर्थशास्त्री एडम स्मिथ ने अपनी कृति वैल्थ आफ नेशन्स (1776) में श्रम विभाजन की अवधारणा का क्रमबद्ध विवेचन किया है। स्मिथ का मानना था कि श्रम विभाजन आर्थिक सम्पन्नता का मुख्य आधार है । स्मिथ का मानना है कि मनुष्य अपनी आर्थिक स्थिति सुधारने का निरन्तर प्रयास करता है और श्रम विभाजन आर्थिक विकास की गति को बढ़ाता है।

दुर्खीम के लिए श्रम विभाजन के आर्थिक मायनों से अधिक सामाजिक सरोकार महत्व रखते है। दुर्खीम यह जानने का प्रयास करते हैं कि समाज को एक सूत्र में बांधने वाली शक्तियां कौन सी हैं। अगस्त काम्ट का मानना है कि नैतिक सर्वसम्मति अर्थात् विचारों, मूल्यों और नियमों की समानता समाज को एकजुट रखती है। हबर्ट स्पेंसर की मान्यता है कि एकजुट रहने से व्यक्तिगत स्वार्थों की पूर्ति होती है इसलिए निजी स्वार्थों के कारण समाज एकजुट रहता है । दुर्खीम इन दोनों विद्वानों से भिन्न मत रखते हैं। दुर्खीम का मानना है कि औद्योगिक क्रान्ति के पहले और बाद के समाजों में सामाजिक एकता के आधार तथा मूलभाव अलग अलग हैं। दुर्खीम यह मानते हैं कि विषमता तथा जटिलता में ग्रसित आधुनिक समाजों में विशेषज्ञता और श्रम विभाजन से एकता उत्पन्न होती है दुर्खीम ने अपनी पुस्तक के प्रारम्भ में स्पष्ट किया है कि उनकी पुस्तक नैतिक जीवन के तथ्यों को प्रत्यक्ष विज्ञानों की पद्धति के अनुसार समझने का प्रयास है। रेमण्ड एरन का मानना है कि श्रम विभाजन की केन्द्रीय समस्या दुर्खीम

के पूरे समाजशास्त्रीय चिन्तन की प्रमुख समस्या है यह समस्या व्यक्ति और समाज के पारस्परिक सम्बन्धों से जुड़ी है।

15.3 श्रम विभाजन के प्रकार्य

दुर्खीम के अनुसार 'श्रम विभाजन' एक सामाजिक तथ्य है इसलिए दुर्खीम ने श्रम विभाजन का प्रकार्यात्मक विश्लेषण किया। दुर्खीम ने प्रकार्य के दो अर्थ बताये हैं—

(1) प्रकार्य का आशय गतिव्यवस्था अथवा क्रिया से है।

(2) प्रकार्य का आशय क्रिया अथवा गति के अनुरूप पूर्ण होने वाली आवश्यकता से है।

दुर्खीम प्रकार्य का प्रयोग दूसरे अर्थ में करते हैं। अर्थात् उनके अनुसार प्रकार्य शब्द का अर्थ उन सम्बन्धों से है जो सावयव के किसी अंग की गतिविधियों तथा पूर्ण सावयव की आवश्यकता के मध्य पाया जाता है। इस प्रकार श्रम विभाजन के प्रकार्य से उनका आशय यह है कि श्रम विभाजन की प्रक्रिया समाज के अस्तित्व के लिये किन आवश्यकताओं की पूर्ति करती है । दुर्खीम के पूर्व यह धारणा थी कि श्रम विभाजन का प्रकार्य सभ्यता का विकास करना है क्योंकि विशेषीकरण के परिणामस्वरूप समाजों की सभ्यता बढ़ती है। दुर्खीम का मानना है कि श्रम विभाजन के परिणाम स्वरूप सभ्यता का विकास नहीं होता है बल्कि सभ्यता का विकास तो श्रम विभाजन का परिणाम है। उसका प्रकार्य नहीं है दुर्खीम के अनुसार नवीन समूहों का निर्माण एवं उनकी एकता ही श्रम विभाजन के प्रकार्य हैं। एक ओर श्रम विभाजन नवीन समूहों का निर्माण करता है, वहीं सामाजिक एकता को भी स्थापित करता है। दुर्खीम श्रम विभाजन को एक सामाजिक तथ्य मानते हैं। इसलिए श्रम विभाजन नैतिकता से भी सम्बद्ध है तथा दुर्खीम यांत्रिक तथा सावयवी एकता की व्याख्या में दमनकारी तथा प्रतिकारी कानूनों को महत्वपूर्ण स्थान प्रदान करते हैं।

15.3.1 कानून तथा एकता

दुर्खीम श्रमविभाजन से उत्पन्न सामाजिक एकता को स्पष्ट करने के लिये कानूनों को दो वर्ग में रखते हैं और इनके अनुरूप सामाजिक एकता का विवेचन करते हैं। दुर्खीम ने दो प्रकार के कानूनों का उल्लेख किया है —

(1) **दमनकारी कानून** (Repressive Law) — दुर्खीम दमनकारी कानूनों को अविकसित समाजों की विशेषता मानते हैं यह कानून 'जैसे को तैसा' के आधार पर निर्णय करते हैं। इन कानूनों में प्रतिकार स्वरूप दण्ड दिया जाता है और इसका कोई लाभ नहीं उठाया जाता है। ये दो प्रकार के होते हैं। पहला दण्ड सम्बन्धी (Penal Law) जिसका सम्बन्ध कष्ट पहुंचाने, हत्या करने तथा स्वतंत्रता आदि का हनन करने से है इन्हें संगठित दमनकारी कानून भी कहा जाता है। कुछ दमनकारी कानून ऐसे होते हैं जिनका नैतिकता के आधार पर संपूर्ण समाज में प्रसार होता है।

(2) **प्रतिकारी कानून** — प्रतिकारी कानून व्यक्तियों के सम्बन्ध में उत्पन्न होने वाले असंतुलन की स्थिति को प्रदर्शित करते हैं। इसके अन्तर्गत दीवानी कानून, प्रशासनिक कानून, व्यावसायिक कानून आदि सम्मिलित होते हैं। प्रतिकारी कानून की प्रकृति सुधारात्मक होती है। विकसित समाज इस लिये दण्ड देते हैं कि आगे से लोग ऐसा कार्य न करें।

कानूनों की दोनों कोटियों के अनुसार दुर्खीम ने दो भिन्न प्रकार की सामाजिक एकता अथवा समाजों का उल्लेख किया है। दमनकारी कानून मानव समाज में जिस प्रकार की सामूहिक चेतना का विकास करते

हैं वह यांत्रिक सामाजिक एकता को स्थापित करती है, जो कि समानता पर आधारित होती है। प्रतिकारी कानून श्रमविभाजन के आधार पर स्थापित सामाजिक एकता से सम्बद्ध होती है।

15.3.2 यांत्रिक एकता

यांत्रिक एकता का जन्म दुर्खीम के अनुसार स्वत: सहजता से हुआ। इस एकता में समाज के सभी सदस्यों का जीवन तथा अनुभव एक से होते हैं, प्रत्येक व्यक्ति अपनी उम्र तथा लिंग के हर व्यक्ति के समान होता है। जिस प्रकार किसी मशीन अथवा यंत्र से बनी हुयी वस्तुयें एक जैसी होती है उसी प्रकार इस समाज में सभी व्यक्ति समान होते हैं इसलिये दुर्खीम ने इस प्रकार की एकता को यांत्रिक एकता कहा है दुर्खीम के अनुसार यह अविकसित समाजों की विशेषता है और सामूहिक चेतना तथा दमनकारी कानून समाज के सदस्यों को यंत्रवत कार्य करने के लिये विवश करते हैं।

दुर्खीम के अनुसार यांत्रिक एकता वाले समाज में अपराध सामूहिक चेतना को आघात पहुंचाते हैं। यांत्रिक समाजों में दण्ड की प्रकृति दमन करने वाली होती है अर्थात् यांत्रिक समाजों की दंड व्यवस्था, सामूहिक चेतना का सम्मान है अथवा सामूहिक चेतना को बनाये रखने का प्रयास होता है। यांत्रिक समाजों में व्यक्तियों तथा वैयक्तिक चेतना का स्थान गौड़ होता है । व्यक्ति का अस्तित्व समाज के अस्तित्व में विलीन हो जाता है यांत्रिक एकता वाले समाज मे सामूहिक चेतना प्रभावी होती है। सामूहिक चेतना का तात्पर्य दुर्खीम के लिये वह विश्वास व संवेग है जो समाज के औसत सदस्यों में समान रूप से पाये जाते हैं। पारसंस (1937) ने श्रम विभाजन में प्रयुक्त सामूहिक चेतना की अवधारणा का विवेचन करते हुए माना है कि सामूहिक चेतना, वह विश्वास व संवेग है जो सभी सदस्यों में समान रूप से पाया जाता है।

यांत्रिक समाज समरूपी खण्डों में विभक्त होते हैं। ये खण्डात्मक समाज कुल के आधार पर विस्तृत भू भाग में फैले रहते हैं। इन समाजों में जनसंख्या तथा जनसंख्या का घनत्व न्यून होता है तथा जनसंख्या का नैतिक घनत्व भी कम होता है । (नैतिक घनत्व की अवधारणा आप 'श्रम विभाजन के कारण' शीर्षक में पढ़ेगें)।

15.3.3 सावयवी एकता

जिस प्रकार यांत्रिक एकता, समानता पर आधारित थी, उसी प्रकार सावयवी एकता, भिन्नता पर आधारित होती है। 'सावयव' का तात्पर्य शरीर तथा उसके अंगों से है । हमारे शरीर में आंख, नाक, कान, हृदय, जैसे अंग पृथक पृथक कार्य करते है परन्तु इनका उद्देश्य शरीर को बनाये रखना है इन अंगों के कार्य भिन्न भिन्न हैं लेकिन इनका उद्देश्य व्यवस्था को बनाए रखना है। सावयवी एकता वाले समाजों में भी इसी प्रकार व्यक्ति भिन्न भिन्न कार्यों का संपादन करते हैं, और श्रम विभाजन सामाजिक एकता का आधार होता है। दुर्खीम का मानना है कि श्रम विभाजन सावयवी एकता की एक अनिवार्य विशेषता है जो सामाजिक समरूपता के स्थान पर विभिन्नता स्थापित करता है।

सावयवी एकता विकसित समाजों की एक विशेषता होती है। सावयवी सामाजिक एकता में प्रतिकारी कानून प्रचलित होते हैं इन कानूनों का उद्देश्य दमन करने की अपेक्षा व्यक्ति में सुधार लाना होता है। आधुनिक समाजों में विशेषीकरण बढ़ने के परिणाम स्वरूप सदस्यों के मध्य अन्तर्निभरता पायी जाती है सावयवी एकता में जनसंख्या का आयतन अधिक रहता है तथा जनसंख्या घनत्व भी अधिक रहता है। समूह में सदस्यों के मध्य सम्बन्धों में तीव्रता के कारण जनसंख्या का नैतिक घनत्व भी अधिक होता है।

दुर्खीम ने तीन प्रमुख आधारों पर यांत्रिक तथा सावयवी एकता में अंतर बताया है वे निम्न हैं—

(1) यांत्रिक एकता, व्यक्ति को समाज से बिना किसी मध्यस्त के जोड़ती है जबकि सावयवी एकता में व्यक्ति समाज पर आश्रित होता है क्योंकि समाज का निर्माण करने वाले अंगों अर्थात अन्य सदस्यों पर वह निर्भर रहता है।

(2) यांत्रिक एकता, समाज के सामूहिक स्वरूप को स्पष्ट करती है जिसमें समूह के सदस्यों में सामान्य रूप से पाये जाने वाले विश्वासों एवं भावनाओं का दृढ़ संगठन होता है जब कि सावयवी एकता कार्यों की विभिन्नता तथा निश्चित सम्बन्धों से सम्बन्धित होती है।

(3) यांत्रिक एकता समानताओं से सम्बन्धित है जबकि सावयवी एकता विभिन्नताओं व विशेषीकरण से सम्बन्धित है।

यांत्रिक एकता तथा सावयवी एकता में अंतर संक्षेप में हम इस तालिका के माध्यम से हम देख सकते हैं—

यांत्रिक एकता	सावयवी एकता
1. आदिम समाज	1. विकसित समाज
2. दमनकारी कानून	2. प्रतिकारी कानून
3. समानता पर आधारित	3. श्रम विभाजन द्वारा उत्पन्न विभिन्नता पर आधारित
4. सामूहिक चेतना प्रबल होती है।	4. सामूहिक चेतना दुर्बल होती है
5. व्यक्ति व समाज के मध्य प्रत्यक्ष सम्बन्ध	5. व्यक्ति व समाज के मध्य अप्रत्यक्ष सम्बन्ध
6. खण्डात्मक सामाजिक संरचना	6. परस्पर निर्भर संगठित सामाजिक संरचना
7. जनसंख्या का आयतन सापेक्षिक रूप से कम होता है।	7. जनसंख्या का आयतन सापेक्षिक रूप से अधिक होता है ।
8. जनसंख्या का भौतिक व नैतिक घनत्व सापेक्षिक रूप से कम होता है।	8. जनसंख्या का भौतिक व नैतिक घनत्व सापेक्षिक रूप से अधिक होता है।
9. धार्मिक मूल्यों पर आधारित	9. धर्मनिरपेक्ष तथा मानवतावादी मूल्यों पर आधारित ।

15.4 श्रम विभाजन के कारण

आप यह जान चुके हैं कि दुर्खीम को श्रम विभाजन की आर्थिक कारकों पर आधारित व्याख्या मान्य न थी, उसने श्रमविभाजन के मूल में सामाजिक जीवन की दशाओं और उनसे उत्पन्न सामाजिक आवश्यकताओं की व्याख्या की। दुर्खीम ने श्रम विभाजन के सामाजिक कारकों को दो खण्डों में विभाजित किया— पहला प्राथमिक कारक और दूसरा द्विवीयक कारक। श्रम विभाजन के प्राथमिक कारकों में दुर्खीम जनसंख्यात्मक कारकों और उनसे उत्पन्न परिणामों को सम्मिलित करते हैं। श्रम विभाजन के द्वितीयक कारकों में दुर्खीम सामान्य आत्मा (चेतना) को उत्तरोत्तर ह्रास तथा पैतृकता के घटते हुये प्रभाव को सम्मिलित करते हैं।

15.4.1 श्रम विभाजन के प्राथमिक कारण

दुर्खीम के अनुसार जनसंख्या की वृद्धि के दो पक्ष हैं — पहला जनसंख्या के आकार में वृद्धि और दूसरा जनसंख्या के घनत्व में वृद्धि । दुर्खीम के अनुसार जनसंख्या में वृद्धि होने से खण्डात्मक समाजों का पतन होता है और मिश्रित समाजों का निर्माण होता है। जनसंख्या के घनत्व को भी दुर्खीम ने दो भागों में विभाजित किया है, पहला भौतिक घनत्व, दूसरा नैतिक घनत्व। भौतिक घनत्व से तात्पर्य एक निश्चित भू-भाग पर निवास करने वाली जनसंख्या से है जिसका प्रयोग जनांकिकीय तथा सामाजिक विज्ञानों में प्रायः होता रहता है। भौतिक घनत्व के परिणामस्वरूप लोगों के पारस्परिक सम्बन्ध बढ़ने लगते है। लोगो के मध्य अर्न्तसम्बन्धों तथा अन्तर्कियाओं में वृद्धि के कारण उत्पन्न जटिलता को दुर्खीम 'गतिशीलता' अथवा 'नैतिक घनत्व' कहते हैं। नैतिक घनत्व को दुर्खीम सामाजिक आयाम या सामाजिक घनत्व भी कहते हैं। नैतिक घनत्व में वृद्धि के दुर्खीम ने तीन कारण बताये हैं —

(1) दुर्खीम का मानना है कि प्राचीन समाज विस्तृत भू-भागों में फैलकर घुमक्कड़, शिकारी अथवा चरवाहे के रूप में जीवन व्यतीत करते थे। कृषि के प्रादुर्भाव से लोग एक ही स्थान पर रहने लगे। जनसंख्या में वृद्धि के परिणामस्वरूप कृषि प्रधान समुदाय से छोटे छोटे नगरों का निर्माण हुआ, और जनसंख्या के केन्द्रीकरण के कारण मनुष्यों के परस्पर सम्बन्धों की आवृत्ति में वृद्धि हुयी।

(2) खण्डात्मक समाजों के परस्पर विलय के कारण विशेष स्थानों पर जनसंख्या केन्द्रित हो जाती है और यह केन्द्र नगरों के रूप में परिवर्तित हो जाते हैं।

(3) संचार और आवागमन के साधनों में वृद्धि के परिणामस्वरूप मनुष्यों के सम्बन्धों का क्षेत्र विस्तृत हो जाता है। इसके परिणामस्वरूप उत्पन्न होने वाली सामाजिक जटिलता श्रम विभाजन को अनिवार्य बना देती है।

दुर्खीम के अनुसार जनसंख्या की वृद्धि और घनत्व अस्तित्व के लिए संघर्ष को जन्म देते हैं। प्रतिद्वन्द्वता से बचते हुये अपनी आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए लोग नये नये व्यवसायों को अपनाने लगते हैं। जनसंख्या वृद्धि के परिणाम स्वरूप नवीन आवश्यकताएं उत्पन्न हो जाती हैं जिनकी पूर्ति के लिये नये नये व्यवसायों का उदय होता है। लोगों के अन्दर विशेषीकरण की प्रवृत्ति श्रम विभाजन को बढ़ावा देती है दुर्खीम के अनुसार सामाजिक समूह के संतुलन में होने वाला विखण्डन संघर्षों को उत्पन्न करता है। जिसका सामना विकसित श्रम विभाजन द्वारा किया जा सकता है। दुर्खीम का मानना है कि विशेषीकरण अधिक उत्पादन के लिये नहीं होता है बल्कि यह विद्यमान अस्तित्व की नवीन दशाओं में जीवित रहने का बल प्रदान करता है अधिक उत्पादन तो विशेषीकरण का अनिवार्य परिणाम है न कि कारण।

15.4.2 श्रम विभाजन के द्वितीयक कारण

सामान्य अथवा सामूहिक आत्मा के उत्तरोत्तर ह्रास को दुर्खीम श्रम विभाजन का प्रमुख द्वितीयक कारक मानते हैं। समानता पर आधारित यांत्रिक समाजों में सामूहिक आत्मा प्रबल होती है अर्थात् समूह का निर्णय व्यक्ति के लिये बाध्यकारी होता है व्यक्ति का निजी दृष्टिकोण कोई मायने नहीं रखता है । श्रम विभाजन व व्यक्तिगत विशेषीकरण का विकास तभी होता है जब सामूहिक आत्मा (चेतना) दुर्बल हो जाती है। दुर्खीम धर्म की शक्ति में कमी होने को श्रम विभाजन के लिये आवश्यक मानते हैं क्योंकि धर्म के कमजोर होने से सामूहिक आत्मा दुर्बल हो जाती है । यात्रिंक एकता वाले समाजों में व्यक्ति सामूहिक आत्मा (चेतना) के विरूद्ध कार्य नहीं कर पाता है । फलस्वरूप व्यावसायिक भिन्नता नहीं होती है। सावयवी एकता वाले समाजों में खण्डों के स्थान पर विशिष्ट प्रकार्यात्मक अंगों का उद्‌भव हो जाता है और श्रम विभाजन को विकास का अवसर मिलता है। पैतृक आधार पर

मानना है कि प्रारम्भ में तो पैतृकता ने योगदान दिया, जैसे भारत की जाति व्यवस्था इसका एक उदाहरण है। पैतृक आधार पर श्रम विभाजन कर देने से व्यवसायों के स्वतंत्रतापूर्ण चयन तथा नवीन व्यवसायों के उदय का मार्ग अवरूद्ध हो जाता है। पैतृक्ता भले ही श्रम विभाजन का प्रथम चरण रही हो, लेनिक श्रम विभाजन के विकास के लिये पैतृकता से निजात पाना आवश्यक था। दूर्खीम का मानना है कि विकास के साथ साथ पैतृकता का उत्तरोत्तर ह्रास होता है जो कि श्रम विभाजन के विकास के लिये आवश्यक है। भारतीय समाज का यदि उदाहरण ले तो जजमानी व्यवस्था सम्पूर्ण आर्थिक प्रणाली को नियंत्रित करती थी। जातिगत आनुवांशिक विशेषता पर आधारित इस व्यवस्था में जातियां व्यावसायिक सेवायें प्रदान करती थीं। जातियां, जजमान (सेवा प्राप्त करने वाले) और कमीन (सेवा प्रदान करने वाली जातियां) में विभक्त थी। जाति पंचायत जो कि सामूहिक चेतना का कार्य करती थी, और सदस्यों पर नियन्त्रण स्थापित करती थी, के ह्रास ने भारत में श्रम विभाज़न की प्रक्रिया को बढ़ावा दिया है। औद्योगीकरण तथा नगरीकरण के प्रभाव से बदलती आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये नवीन व्यवसायों का उदय हुआ और व्यवसायों का पैतृक आधार समाप्त हो गया।

15.5 श्रम विभाजन के परिणाम

दूर्खीम ने अपनी पुस्कत के द्वितीय खण्ड में श्रम विभाजन के कारणों के विवेचन के पश्चात् दुर्खीम ने श्रम विभाजन के परिणामों पर प्रकाश डाला है। दुर्खीम ने श्रम विभाजन के जिन परिणामों की चर्चा की है उनमें से प्रमुख निम्न है—

प्रकार्यात्मक स्वतंत्रता और विशेषीकरण —दुर्खीम ने शारीरिक श्रम विभाजन एवं सामाजिक श्रम विभाजन में अंतर किया है। शरीर का निर्माण करने वाली कोशिकाओं/ अंगों के विशिष्ट कार्य होते हैं जिनमें परिवर्तन की संभावना नहीं होती है इसके विपरीत सामाजिक कार्यों के विभाजन में इतनी कठोरता नहीं पायी जाती है। कार्यों का समाज में विभाजन होने के साथ साथ कार्य करने की स्वतंत्रता तथा गतिशीलता बढ़ जाती है अर्थात्, व्यक्ति अपनी क्षमताओं के अनुरूप कार्य करने के लिये स्वतंत्र हो जाते हैं । श्रम विभाजन के कारण व्यक्ति अपनी क्षमताओं को विशिष्ट कार्य में लगा देता है व्यक्ति उन कार्यों को करने के लिए स्वतंत्र हो जाते हैं जिनमें उनका विशेषीकरण होता है। विशेषीकरण कार्यकुशलता को बढ़ावा देती है। दुर्खीम के अनुसार श्रम विभाजन के परिणामस्वरूप व्यक्तियों के कार्य उनकी शारीरिक विशेषताओं से स्वतंत्र हो जाते हैं। अर्थात् व्यक्तियों की शारीरिक विशेषताएं उनके कार्यों की प्रवृत्ति में बाधा नहीं उत्पन्न करती है उदाहरण के लिए आप देख सकते हैं श्रम विभाजन के बढ़ने के साथ साथ महिलाओं की भूमिका केवल घर तक सीमित नहीं रह गयी है। आज समाज के विभिन्न व्यवसायों में महिलाओं की भागीदारी श्रम विभाजन के कारण बढ़ती जा रही है।

सभ्यता का विकास तथा सामाजिक प्रगति —समाज में जनसंख्या के भौतिक तथा नैतिक घनत्व के दबाव तथा बढ़ती हुई जटिलता विशेषीकरण को प्रोत्साहित करती है। इसके परिणाम स्वरूप उत्पन्न होने वाली परिवर्तन की प्रक्रिया के कारण सभ्यता का विकास होता है। परिवर्तन के कारण मनुष्य की आवश्यकताएं बदल जाती हैं और सभ्यता के वैज्ञानिक , कलात्मक और आर्थिक पक्षों का विकास होता है।

श्रम विभाजन के परिणामस्वरूप समाज में परिवर्तन उत्पन्न होते हैं। प्रगति सामाजिक परिवर्तन का सकारात्मक पक्ष है। दुर्खीम के अनुसार प्रगति तभी रूक सकती है जब समाज की गति रूक जाए परन्तु ऐसा सम्भव नहीं है।

सामाजिक परिवर्तन और व्यक्तिगत परिवर्तन — श्रम विभाजन के परिणामस्वरूप नए प्रकार के समाज सावयवी एकता वाले समाज का उदय होता है। व्यक्ति अपने सामाजिक परिवेश से रहता है। इस कारण समाज में रहने वाले व्यक्ति के व्यक्तित्व में परिवर्तन उत्पन्न हो जाता है। यांत्रिक एकता वाले समाजों की तुलना में सावयवी एकता वाले समाज का व्यक्ति अधिक स्वतंत्र होता है। परम्परा की अपेक्षा समाज में तार्किकता को महत्व दिया जाता है। पैतृकता तथा मूलवृत्तियां व्यक्ति को अधिक नियंत्रित नहीं का पाती है।

नवीन समूहों की उत्पत्ति और अन्तर्निभरता—श्रम विभाजन के कारण विशिष्ट कार्यों में संलग्न व्यक्ति के विशिष्ट हितों का विकास होता है। विशिष्ट स्वार्थों की रक्षा करने की दृष्टि से विशेष वर्गों तथा समूहों का निर्माण हो जाता है। विशेषीकरण व्यक्तियों को विशिष्ट कार्य में निपुण बना देता है, साथ ही साथ अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उन्हें दूसरे व्यक्तियों पर निर्भर बना देता है श्रम विभाजन बढ़ने के साथ साथ अन्त निर्भरता बढ़ती जाती है।

व्यक्तिवादी विचारधारा — श्रम विभाजन के विकास के साथ सामूहिक चेतना का नियंत्रण कम हो जाता है जिसके फलस्वरूप व्यक्तिगत जितना का उदय हो जाता है व्यक्तियों की अर्जित परिस्थिति का महत्व बढ़ जाने के कारण व्यक्तिगत स्वतंत्रता का महत्व बढ़ जाता है। भारतीय समाज का एक उदाहरण लें। औद्योगिकरण के परिणामस्वरूप बढ़ते हुए श्रम विभाजन ने जजमानी प्रथा तथा जातिप्रणाली को कमजोर किया है। आज व्यक्ति अपने निर्णय जाति पंचायत के निर्देशन पर नहीं अपितु व्यक्तिगत आकांक्षाओं के आधार पर लेते हैं।

प्रतिकारी कानून तथा नैतिक दबाव — श्रम विभाजन के परिणाम स्वरूप नए कानूनी नियम अस्तित्व में आते हैं। यान्त्रिक समाज के कानून 'जैसे को तैसा' पर आधारित दमनकारी कानून होते हैं श्रम विभाजन में व्यक्तिगत समझौतों का महत्व बढ़ जाता है। व्यक्तिगत संघर्षों को कम करने के लिए प्रतिकारी कानूनों का विकास होता है। प्रतिकारी कानून व्यक्तिगत हितों पर आघात करने वाले व्यक्तियों को दण्ड देने के स्थान पर क्षतिपूर्ति की व्यवस्था करता है।

श्रम विभाजन जहां एक ओर व्यक्तिवाद को प्रोत्साहन देता है वहीं दूसरी ओर यह नैतिक जागरूकता या व्यावसायिक नैतिकता का भी निर्माण करता है दुर्खीम के अनुसार व्यक्तिवाद श्रम विभाजन से उत्पन्न अनिवार्य सामाजिक परिस्थितियों का परिणाम है। इन सामाजिक परिस्थितियों में वे कारक भी विद्यमान हैं जो मनुष्य को नैतिक प्रतिमान के प्रति सचेत रखते हैं।

सावयवी सामाजिक एकता की स्थापना भी दुर्खीम के विचार से श्रम विभाजन का परिणाम है जिसकी चर्चा हमने इस इकाई के पहले के पृष्ठों में की है।

15.6 श्रम विभाजन के असामान्य स्वरूप

अपने ग्रन्थ के अन्तिम भाग में दुर्खीम ने श्रम विभाजन के असमान्य स्वरूप अथवा व्याधिकीय स्वरूपों की चर्चा की है। दुर्खीम के अनुसार श्रम विभाजन का प्राकार्य समाज में सामाजिक एकता उत्पन्न करना है। जिन स्थितियों में श्रम विभाजन समाज में इस प्रकार्य की पूर्ति नहीं कर पाता, उन स्थितियों को दुर्खीम श्रम विभाजन के असमान्य अथवा व्याधिकीय स्वरूप मानता है।

दुर्खीम ने श्रम विभाजन के तीन असमान्य स्वरूप बताये हैं। पहला प्रकार आदर्श विहीन अथवा प्रतिमान विहीन श्रम विभाजन का है, जिसका सम्बन्ध आर्थिक तथा वैज्ञानिक क्षेत्र से है। दूसरा प्रकार बलात्, श्रम विभाजन का है जो लोगों के मध्य संघर्ष उत्पन्न करके सामाजिक एकता को नष्ट

करता है। अपर्याप्त वैयक्तिक क्रिया श्रम विभाजन का तीसरा असमान्य प्रकार है जो सामाजिक एकता उत्पन्न करने में सहायक नहीं होता है । आइये इन तीनों पर पृथक पृथक चर्चा करें-

15.6.1 आदर्शहीन श्रम विभाजन

श्रम विभाजन में प्रकार्यात्मक सहयोग और सम्बद्धता में वृद्धि करने की प्रवृत्ति होती है। जिन स्थितियों में श्रम विभाजन असामंजस्य उत्पन्न करता है वे स्थितियां आदर्शहीन श्रम विभाजन की है। आदर्शहीन श्रम विभाजन को आर्थिक तथा वैज्ञानिक क्षेत्र में देखा जाता है। आर्थिक क्षेत्र में विशेषीकरण में वृद्धि के साथ साथ एकता में वृद्धि की अपेक्षा संघर्ष बढ़ जाते हैं। कर्मचारियों तथा स्वामियों के मध्य संघर्ष श्रम विभाजन के फलस्वरूप बढ़ जाते हैं। आर्थिक क्षेत्र में निर्णय प्राय: स्वामी करते हैं जिससे श्रमिक कार्य के प्रति उदासीन हो जाते हैं । बड़े उद्योगों में अशान्ति का प्रमुख कारण यह है कि श्रमिक अपनी दशाओं से संतुष्ट न होकर मजबूरी में इन दशाओं को स्वीकार करते हैं।

दुर्खीम का मानना है कि प्रारम्भ में विज्ञानों का विभाजन नहीं हुआ था और उस समय विज्ञानों की एकता थी। एक विद्वान सभी विज्ञानों का अध्ययन कर सकता था। विज्ञान के क्षेत्र में विशेषीकरण के कारण वैज्ञानिक एक विशिष्ट विज्ञान से बंध गया है। इस कारण विज्ञानों की एकता नष्ट हो गई है। दुर्खीम के अनुसार वैज्ञानिक क्षेत्र में श्रम विभाजन का यह स्वरूप आदर्शविहीन श्रम विभाजन का स्वरूप है।

15.6.2 बलात् श्रम विभाजन

दूर्खीम के अनुसार श्रम विभाजन समाज में तभी एकता उत्पन्न कर सकता है जब लोगों को उनकी रूचि और योग्यता के अनुरूप कार्य करने का अवसर मिले। जब लोगों को व्यवसायों के वरण का अवसर नहीं प्राप्त होता है तो उन्हें कुंठा व्याप्त हो जाती है। यह स्थिति समाज में एकता स्थापित करने की अपेक्षा तनाव उत्पन्न करती है। दुर्खीम के अनुसार बलात्, श्रम विभाजन श्रम विभाजन का परिणाम नहीं है बल्कि यह किसी बाहरी शक्ति द्वारा श्रम विभाजन की स्थापना से होता है भारत में जाति व्यवस्था का उदाहरण इस सम्बन्ध में आपको अवधारणा को समझने में मदद कर सकता है। जाति व्यवस्था धर्म जैसी संस्थाओं के माध्यम से श्रम विभाजन की स्थापना करती है । प्रत्येक जाति का निश्चित व्यवसाय होता है। व्यवसायिक निर्योक्ता भारतीय समाज में जातीय संघर्षों तथा तनावों को बढ़ाती रही है।

15.6.3 व्यक्तिगत कार्य की अपर्याप्तता

श्रम विभाजन का तीसरा असामान्य प्रकार वैयक्तिक कार्य की अपर्याप्तता है। कभी कभी औद्योगिक तथा व्यावसायिक संस्थानों में श्रम विभाजन इस प्रकार का होता है कि लोगों को पर्याप्त वैयक्तिक कार्य नहीं प्राप्त हो पाते हैं। लोगों के मध्य कार्यों में समन्वय का अभाव होता है। लोग कार्य तो करते हैं परन्तु उनके मध्य एकता का अभाव होता है। ऐसी स्थिति में अव्यवस्था तथा असम्बद्धता फैल जाती है।

15.7 सारांश

इस इकाई में हमने सर्वप्रथम श्रमविभाजन का अर्थ सामाजिक संदर्भों में समझा। इसके पश्चात् श्रम विभाजन के प्रकार्य के अन्तर्गत कानून तथा सामाजिक एकता के विषय में चर्चा की है। श्रमविभाजन के प्राथमिक तथा द्वितीयक कारकों की चर्चा करने के उपरान्त श्रम विभाजन के परिणामों के विषय में ज्ञान प्राप्त किया। अंत में श्रम विभाजन के असामान्य स्वरूपों के अन्तर्गत आदर्शहीन श्रमविभाजन, बलात् श्रमविभाजन तथा व्यक्तिगत कार्य की अपर्याप्तता की चर्चा की है।

15.8 बोध प्रश्न

(क) वस्तुनिष्ठ प्रश्न

प्र. 1 दुर्खीम की श्रमविभाजन विषयक पुस्तक का प्रकाशन वर्ष क्या है—

(क) 1893 (ख) 1895 (ग) 1897 (घ) 1912

प्र. 2 दुर्खीम के अनुसार श्रम विभाजन का प्रकार्य क्या है—

(क) सभ्यता का विकास (ख) आर्थिक प्रगति (ग) नवीन समूहों का निर्माण तथा उनकी एकता (घ) दण्ड व्यवस्था।

प्र. 3 सावयवी समाज की विशेषता क्या है—

(क) श्रमविभाजन (ख) विशेषीकरण (ग) प्रतिकारी कानून (घ) तीनों

प्र. 4 यांत्रिक समाज किस प्रकार के समाज हैं —

(क) विकसित समाज (ख) आदिम समाज (ग) औद्योगिक समाज (घ) उत्तर आधुनिक समाज

प्र. 5 प्रतिकारी कानूनों का सम्बन्ध है—

(क) बदला लेने की प्रवृत्ति से (ख) सुधार की प्रवृत्ति से

(ख) लघुउत्तरीय प्रश्न

प्र. 1 दुर्खीम की 'श्रमविभाजन' की अवधारणा से आप क्या समझते हैं ?

प्र. 2 दमनकारी तथा प्रतिकारी कानून क्या है? और किस प्रकार की एकता से सम्बन्धित होते हैं ?

प्र. 3 यांत्रिक एकता एवं सावयवी एकता में क्या अंतर है ?

प्र. 4 श्रम विभाजन के द्वितीयक कारण क्या हैं ?

प्र. 5 श्रम विभाजन के सामाजिक परिणाम क्या हैं ?

(ग) दीर्घउत्तरीय प्रश्न

प्र. 1 श्रम विभाजन के कारणों को स्पष्ट करते हुये परिणामों की व्याख्या कीजिये?

प्र. 2 श्रम विभाजन क्या है? इसके प्रकार्यों का वर्णन करते हुये इसके असामान्य स्वरूप पर प्रकाश डालिये?

15.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

उ. 1 (क) 1893

उ. 2 (ग) नवीन समूहों का निर्माण तथा उनकी एकता

उ. 3 (घ) तीनों

उ. 4 (ख) आदिम समाज

उ. 5 (ख) सुधार की प्रवृत्ति से।

इकाई 16 धर्म तथा समाज

इकाई की रूपरेखा

16.0 उद्देश्य

16.1 प्रस्तावना

16.2 धर्म की प्रारंभिक धारणा : आत्मवाद तथा प्रकृतिवाद

- 16.2.1 आत्मवाद
- 16.2.2 प्रकृतिवाद

16.3 दुर्खीम की धर्म की अवधारणा

- 16.3.1 धार्मिक विश्वास तथा कर्मकाण्ड
- 16.3.2 पवित्र तथा पार्थिव (सामान्य) की धारणा

16.4 धर्म की उत्पत्ति: सरलतम समाज में

- 16.4.1 टोटम
- 16.4.2 टोटमवाद
- 16.4.3 धर्म की उत्पत्ति

16.5 सारांश

16.6 बोध प्रश्न

16.7 बोध प्रश्नों के उत्तर

16.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप:

- आत्मावाद तथा प्रकृतिवाद पर टिप्पणी कर सकेंगे।
- धर्म के मूल तत्वों के विषय का वर्णन कर सकेंगे।
- टोटम तथा टोटमवाद पर टिप्पणी कर सकेंगे।
- दुर्खीम द्वारा वर्णित 'धर्म' की उत्पत्ति विवेचना कर सकेंगे।

16.1 प्रस्तावना

इस इकाई में हम दुर्खीम की धर्म की अवधारणा का अध्ययन करेंगे। "धार्मिक जीवन के प्रारम्भिक स्वरूप" (Les formes elementaires de la vie religieuse) 1912 में प्रकाशित हुयी। दुर्खीम की यह अंतिम प्रमुख परन्तु सर्वोत्तम रचना है। यह मौलिक प्रकृति का गहन अध्ययन है। रेमण्ड एंरा का मानना है कि समाज के अध्ययन के आनुभाविक अंकड़ो के आधार पर दुर्खीम ने धर्म के सम्पूर्ण सार को इस रचना में प्रस्तुत किया है।

दुर्खीम ने अपनी पुस्तक के प्रथम खण्ड में आत्मावाद व प्रकृतिवाद जैसी अवधारणाओं का खंडन किया है। इस इकाई के प्रारंभ में 'आत्मवाद' तथा प्रकृति वाद' के सिद्धान्तों को समझेंगे, तत्पश्चात्, दुर्खीम द्वारा उठायी गयी आपत्तियां भी आपको पढ़ने को मिलेंगी। तत्पश्चात् आप दुर्खीम द्वारा प्रस्तुत धर्म के समाजशास्त्रीय सिद्धान्त का अध्ययन करेंगे। धर्म की उत्पत्ति के अध्ययन के क्रम में आप टोटम व टोटमवाद जैसी अवधारणाओं से भी परिचित होंगे। इसके साथ आशा है आप दुर्खीम के धर्म विषयक विचारों को समझने में समर्थ होंगे।

16.2 धर्म की प्रारंभिक धारणा : आत्मवाद एवं प्रकृतिवाद

दुर्खीम पहले विद्वान थे, जिन्होंने धर्म की व्याख्या सामाजिक आधार पर की है। इसके लिए पूर्व में प्रचलित धर्म सम्बन्धी अवधारणाओं का दुर्खीम ने विश्लेषण किया। अपने ग्रन्थ 'धर्म के प्रारम्भिक स्वरूप' के पहले खण्ड के दूसरे व तीसरे अध्याय में दुर्खीम ने धर्म के पूर्व प्रचलित सिद्धान्तों आत्मवाद, तथा प्रकृतिवाद का खण्डन किया। आइये हम सर्वप्रथम आत्मावाद तथा प्रकृतिवाद का ज्ञान प्राप्त करेंगे, तत्पश्चात् दुर्खीम के इन सिद्धान्तों के संदर्भ में विचारों को जानेगें।

16.2.1 आत्मवाद

आदिम धर्म के सम्बन्ध में सबसे पहला सिद्धान्त आत्मवाद का सिद्धान्त 'एडवर्ड वी. टायलर' द्वारा प्रस्तुत किया गया। टायलर का मानना है कि ऊपरी तौर पर आदिम धर्म में बहुतला दिखायी पड़ती है। किन्तु इनके मूल में अपना अथवा जीव में विश्वास निहित है। टायलर के अनुसार आदिम मानव ने अपने जीवन के सम्बन्ध में अनुभवों के आधार पर आत्मावाद का विकास किया। टायलर ने अपने समाज के मानव की मनोदशा की कल्पना की। आदिम मानव ने महसूस किया कि उसके शरीर में कोई आत्मा है जो निद्रा में उसे छोड़कर दूर-दूर जाती है स्वप्न में उसे अपने पूर्वजों के सम्बन्ध में भ्रान्तिजनक अनुभव हुये। वह स्वप्न में अपने मृत परिवारो जनों को देखता होगा। टायलर मानते हैं कि आदिम मनुष्य ने शरीर में दो प्रकार की आत्माओं की कल्पना की। पहली मुक्त आत्मा जो शरीर से बाहर आ सकती है और दूसरी देह आत्मा जो मनुष्य से शरीर के साथ रहती है। आदिम मनुष्य इस निष्कर्ष पर पहुंचा होगा कि जब देहात्मा शरीर का साथ छोड़ देती है, तो सम्बंन्धित व्यक्ति मर जाता है। काफी समय पहले मृत लोगों को सपने में देखकर उसमें निश्चित ही आत्मा को अमर माना होगा। टायलर का मानना है कि अमूर्त व भौतिक आत्माओं के प्रति श्रद्धा व भय क प्रवृत्ति ही आदिम धर्म के मूल में है। इन आत्माओं की पूजा आराधना की जाती है। इस तरह टायलर ने पूर्वज पूजा को ही पूजा, आराधना का प्रारंभिक रूप माना है। टायलर का मानना है कि समय के साथ धार्मिक विश्वासों का उद्‌विकासीय विकास होता रहता है। इस विकास की दिशा बहुदेववाद से एक देववाद की तरफ होती है।

16.2.2 प्रकृतिवाद

आत्मावाद का सिद्धान्त जहां आधुनिक समाजों से सम्बंधित है, वही प्रकृतिवाद का सिद्धान्त, यूरोप तथा एशिया की सभ्यता से सम्बंधित है। प्रकृतिवाद के समर्थकों में जर्मन विद्वान मैक्स मूलर प्रमुख है। उनका मानना है कि धर्म का प्रारंभिक रूप प्राकृतिक उपादानों की पूजा रहा होगा, मैक्समूलर ने भाषा विज्ञान के नियमों के आधार पर यह सिद्ध किया कि मनुष्यों ने प्राकृतिक शक्तियों का नामकरण उनकी प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति के अनुसार किया, जो मानवीय क्रिया से मेल खाती है। यह माना गया है कि प्रकृति के प्रति भय अथवा प्रेम की अभिव्यक्ति, निर्जीव प्राकृतिक वस्तुओं को सजीवता प्रदान करने के कारण हुयी। यह सजीवता त्रुटिपूर्ण भाषा के कारण हुयी। उदाहरण के लिय यह कहना कि सूर्य जगता (राइसेस) और सोता

(सेट्स) है या पेड़ फूल व फल पैदा (बियर) करते हैं। मैक्स मूलर का मानना है कि पूर्वज पूजा या आत्मवाद की धारणा प्रकृतिवाद के विकास के पश्चात् हुयी।

दुर्खीम ने धर्म की उत्पत्ति के विषय में अपने विचार प्रकट करने से पूर्व इन सिद्धान्तों का निम्न आधार पर खंडन किया।

1- दुर्खीम के अनुसार दोनों सिद्धान्त 'अनुभाविकता' से दूर व भ्रामक है। यह सिद्धान्त धार्मिक घटनाओं के एक पक्ष की व्याख्या करते हैं, न कि संपूर्ण धार्मिक तथ्य की ।

2- दुर्खीम मानते हैं कि दोनों ही सिद्धान्त पवित्र व अपवित्र के मध्य अन्तर को स्पष्ट करने में समर्थ नहीं है। धर्म का सम्बन्ध जीवन के पवित्र पक्ष से है। आत्मा और प्रकृति की भयानक वस्तुओं को पवित्र नहीं माना जा सकता है।

3- यह सिद्धान्त सामाजिक जीवन के दूर एक मायाजाल के रूप में धर्म की व्याख्या करता है।

दुर्खीम के अनुसार ये सिद्धान्त न तो मनोविज्ञान की कसौटी पर खरे उतरे हैं, और न ही प्राकृतिक विज्ञानों की कसौटी पर । दुर्खीम यहां मानते हैं कि धर्म का सम्बन्ध विश्वास और कर्मकाण्डों से है जो निश्चित रूप से सामाजिक है। इसीलिये दुर्खीम धर्म की व्याख्या टोटमवाद के आधार पर करते हैं।

4- दुर्खीम किसी भी सामाजिक तथ्य का अध्ययन इस आधार पर करते हैं कि उसके कारण तथा प्रकार्य क्या है। दुर्खीम के लिये धर्म एक सामाजिक तथ्य है और इसका कारण किसी सामाजिक तथ्य के आधार पर ही किया जाना चाहिये। चूँकि आत्मवाद और प्रकृतिवाद का सिद्धान्त धर्म की उत्पत्ति के सामाजिक कारकों के सम्बंधित नहीं है अत: दुर्खीम इन दोनों सिद्धान्तों को अस्वीकृत कर देते हैं।

16.3 दुर्खीम की धर्म की अवधारणा

दुर्खीम रहस्यात्मक व दैवीय तत्वों को धर्म के लक्षण मानने से इंकार करते हैं। उन्होंने धर्म को कुछ तत्वों से मिलकर बनी संरचनात्मक व्यवस्था माना है। दुर्खीम के अनुसार धर्म, धार्मिक विश्वास व अनुष्ठानों का एकीकृत स्वरूप है।

16.3.1 धार्मिक विश्वास तथा कर्मकाण्ड

धार्मिक विश्वास से तात्पर्य विभिन्न नियमों, नैतिक विचारों तथा मिथकों से हैं। ये सब वे सामूहिक प्रतिनिधान हैं। जो व्यक्ति के बाहर होते हुए भी उसे धार्मिक व्यवस्था से एकीकृत करते हैं। विश्वासों के माध्यम से व्यक्ति दिव्य क्षेत्र के साथ अपने सम्बन्धों को समझ सकता है।

धार्मिक विश्वासों पर आधारित अनुष्ठान वे नियम हैं, जो दिव्य क्षेत्र के प्रति किये जाने वाले व्यवहारों को निर्देशित करते हैं। संक्षेप में विश्वासों के माध्यम से व्यक्ति अपने तथा अधि प्राकृतिक जगत् के मध्य सम्बन्धों का ज्ञान प्राप्त करता है और इसी ज्ञान व सम्बन्धों की समझ के आधार पर अधिप्राकृतिक जगत् के प्रति किये जाने वाले व्यवहारों को दिशा प्रदान करता है। अनुष्ठान व कर्मकाण्ड, धार्मिक विश्वासों का गतिशील अथवा व्यावहारिक पक्ष है। उदाहरण के लिए आप भारतीय समाज का सहारा ले सकते हैं हिन्दू समाद में मृत्युपरांत किये जाने वाले श्राद्धकर्म, कर्मकाण्ड है जो कि परलोक के सम्बन्ध में धार्मिक विश्वासों पर आधारित हैं। हिन्दू समाज में पारलौकिक तथा धार्मिक जगत के प्रति विश्वास ही इन कर्मकाण्डों के मूल में है। धार्मिक अनुष्ठान सकारात्मक व नकारात्मक भी होते हैं।

16.3.2 पवित्र तथा पार्थिव (सामान्य) की धारणा

दुर्खीम के अनुसार धर्म, पवित्र वस्तुओं के प्रति की जाने वाली विश्वासों व कर्मकाण्डों की एक संगठि व्यवस्था है जो अनुयायियों को एक निष्ठावान समुदाय (चर्च) के रूप में संगठित करती है। दुर्खीम के अनुसार धर्म का सम्बन्ध जीवन के पावन पक्ष से हैं। धर्म का विचार भौतिक जगत की वस्तुओं को प और सामान्य (पार्थिव) में विभाजित करता है। पवित्र वस्तुयें प्रायः अमूर्त होती है। पवित्र वस्तुओं का प्रयोग सामान्य दशा में वर्जित रहता है। पवित्र वस्तुओं के प्रयोग के लिये विश्वासों के कर्मकाण्डों के निर्धारित स्वरूप होते हैं जिन्हें सामाजिक मान्यता मिली रहती है। पवित्र वस्तुओं से सम्बन्धित कर्मका बार - बार सामूहिक रूप से किये जाते हैं। चर्च (निष्ठावान समुदाय) का दुर्खीम की धर्म की अवधार में महत्वपूर्ण स्थान है। चूंकि धार्मिक विश्वासों का सम्बन्ध निष्ठावान समुदाय से होता है जो उनमें आ रखता है, और धार्मिक क्रिया का संचालन करता है। धार्मिक विश्वास, व्यक्तिगत आस्था के विषय नह होते हैं। बल्कि वे पूरे समूह के होते हैं। विश्वास व कर्मकाण्ड का वैयक्तितक आधार संभव नहीं है त धर्म का स्वरूप सामाजिक नहीं रह जायेगा। दुर्खीम तो धर्म की उत्पत्ति ही सामूहिक जीवन में मानते है जीवन के पवित्र पक्ष से सम्बंधित धार्मिक विश्वास और अनुष्ठानों की एकीकृत व्यवस्था, जो व्यक्तियं एक निष्ठावान समुदाय के रूप में प्रस्तुत करती है, वह दुर्खीम के लिये धर्म है। धर्म के मूल तत्वों के अध्ययन के लिये दुर्खीम सरलतम समाज के अध्ययन पर जोर देते हैं। धर्म के इसी सरलता स्वरूप के अध्ययन के लिए दुर्खीम, 'टोटमवाद' के आधार पर धर्म की व्याख्या करते हैं। आइये अब हम इस इ के अगल भाग में टोटमवाद पर चर्चा करेंगे।

16.4 धर्म की उत्पत्ति : सरलतम समाज में

दुर्खीम ने धर्म की आत्मवाद तथा प्रकृतिवाद पर आधारित मान्यताओं को नकारकर टोटमवाद पर आध 'धर्म' की व्याख्या प्रस्तुत की। दुर्खीम ने अपने अध्ययन के लिये सरलतम समाज का चयन किया। दु ने आस्ट्रेलिया की आदिम जनजाति 'अरूहंटा जनजाति' को अपने अध्ययन का केन्द्र बिन्दु बनाया। दु ने माना कि 'टोटमवाद' धर्न का प्रारम्भिक स्वरूप है और टोटमवाद में प्रचलित विश्वासों व अनुष्ठानों आधार पर हम वर्ग की व्याख्या कर सकते हैं। दुर्खीम की धर्म की व्याख्या को समझने से पूर्व आइये टोटम तथा टोटमवाद पर चर्चा करें।

16.4.1 टोटम

टोटम, कोई वस्तु अथवा वस्तुओं का समूह है जो सामान्यतः कोई पशु अथवा पौधा होता है। जिसे ि सामाजिक, समूह के सदस्य द्वारा सम्मान व श्रद्धा का भाव किया जाता है। टोटम अथवा गणचिन्ह की अवधारणा संसार की अनेक जनजातियों में पायी जाती है। जनजातियाँ किसी भौतिक पदार्थ, पशु, पे पौधों से अपना रहस्यमय सम्बन्ध जोड़कर अलौकिक विश्वासों की स्थापना करती है व अपने सामा जीवन को नियमित करती है। प्रायः जनजातियाँ अपनी उत्पत्ति टोटम से मानती हैं और इसके प्रति श्र का भाव रखती हैं और उसके प्रति कुछ निषेधों का पालन करती है। टोटम के साथ गोत्र के लोग प तथा अलौकिक सम्बन्ध रखते हैं। गोत्र के सदस्य यह मानते हैं कि टोटम उनके समूह की रक्षा करता टोटम समय-समय पर खतरों के प्रति समूह को आगाह भी करता है। टोटम को प्रायः हानि नहीं पहुँ जाती है, टोटम से सम्बंधित निषेधों का गोत्र के सदस्य पालन करते हैं। निषेध का तात्पर्य किसी कार करने से रोकना है। उदाहरणार्थ-यदि किसी जनजाति का टोटम कोई पेड़ है तो उसके सदस्य उसको काटते नहीं है, और यदि टोटम कोई पशु है तो उसका शिकार न करते हुए उसकी रक्षा करते हैं।

16.4.2 टोटमवाद

किसी गणचिन्ह या टोटम से जुड़े विश्वासों व संस्कारों के समुच्चय को टोटमवाद कहा जाता है। 'टोटमवाद' किसी सामाजिक समूह तथा प्राकृतिक वस्तु (जो कि टोटम है) के मध्य स्थापित संकेतों की अभिव्यक्ति है। दुर्खीम ने अपनी पुस्तक (1912) में 'टोटमवाद' के ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर प्रकाश डाला। सबसे पहले ''जो लोंग'' ने 1791 में 'टोटमवाद' का वर्णन भारतीय संदर्भ में किया। काफी वर्षों तक इसे अमेरीकी जनजातियों की विशेषता समझा गया। 1841 में 'ग्रे' (Grey) ने अस्ट्रेलिया में टोटमवाद पर प्रकाश डाला। 1877 में 'फ्रेजर' ने अपनी पुस्तक ''टोटमवाद'' में टोटमवाद को एक धर्म और वैधानिक संस्था के रूप में स्थापित किया। स्पेंन्सर और गिलिन (Baldwin, Spencer, F.J. Gillin) ने अपनी दो पुस्तकों ''मध्य आस्ट्रेलिया की आदिम जनजातियों'' (The Native Tribes of Central Australia) तथा ''मध्य आस्ट्रेलिया की उत्तरी जनजातियाँ'' (The Northern Tribes of Central Australia) में टोटमवाद का विशद् वर्णन किया है जिसमें अरूहंटा यादि जनजातियों में टोटमवादी विश्वासों पर विस्तार से चर्चा की है। दुर्खीम ने अपने अध्ययन के लिये आस्ट्रेलियाई जनजाति को चुना, क्योंकि उसका मानना था कि यह पूर्णत: सजातीय अर्थात् सरलतम रूप में है और इनके सम्बन्ध में प्रचुर सामग्री उपलब्ध है।

16.4.3 धर्म की उत्पत्ति

'अरूहंटा जनजाति' में प्रचलित टोटमवाद को आधार बनाकर दुर्खीम ने 'धर्म' के सिद्धान्त का निरुपण किया। दुर्खीम ने इस जनजाति के जीवन के दो पक्षों का निरुपण किया। एक पक्ष सांसारिक या लौकिक जीवन से सम्बंधित है जिसे उसने 'अपवित्र पक्ष' कहा। यह जीवन का वह पक्ष है जिसमें वह दैनिक कार्यो का सम्पादन करता है और अपनी दिनचर्या में तल्लीन होता है। अरुहंटा जनजाति के जीवन का दूसरा पक्ष सामूहिक पक्ष है। यह जनजाति के जीवन का पवित्र पक्ष होता है। यह पक्ष तब देखने को मिलता है, जब समूह के लोग एक साथ एकत्र होते हैं। इसमें समूह के सदस्य उत्साहित व सक्रिय होते हैं। टोटम के आन्तरिक गुणों का महत्व गौड़ होता है। महत्वपूर्ण बात यह होती है कि टोटम, समुह का प्रतीक होता है। टोटम का उदय सामूहिक जीवन में होता है। 'अरूहंटा जनजाति' में किसी पत्थर या लकड़ी के चिकनी सतह पर टोटम की अनुकृति ''चुरिंगा'' तैयार की जाती है, इसे चारों ओर घास से लपेटे हुये, स्तम्भ नृत्यांगा पर बांधते हैं। अरुहंटा जनजाति का सामूहिक जीवन यकायक गतिमान हो जाता है। ''नृत्यंगा'' के चारों ओर रात भर गाते बजाते व नाचते हैं। ऐसी अवस्था में जीवन में स्वच्छन्दता भी आ जाती है। सामान्य परिस्थितियों में जो कार्य निषेधित होते हैं उनको भी बुरा नहीं समझा जाता है। ऐसे समूह में सदस्यों को सामूहिक शक्ति का आभास होते है। इस प्रकार टोटम की शक्ति व्यक्ति से बाहर व उससे अधिक है। सामूहिक चेतना के प्रतीक टोटम के प्रति आदर भाव ही धर्म का स्वाभाविक उद्‌गम है।

सामूहिक के कारण वह अपने जीवन के वैयक्तिक पक्ष को भूल जाते हैं। उसके द्वारा किये जाने वाले कार्य सामूहिकता के आवरण में आ जाते हैं। जीवन के सांसारिक, पक्ष की अपेक्षा पवित्र पक्ष में व्यक्ति उत्तेजित, उत्साहित व प्रसन्न हो जाता है। सामूहिक शक्ति, अलौकिक शक्ति की प्रतीक बन जाती है व समूह ईश्वर का प्रतीक बन जाता है। सामूहिक आदर्श, धर्म की उत्पत्ति सामूहिक चेतना में होती है। टोटम, अलौकिक शक्ति का प्रतीक हो जाता है। टोटम तो गोत्र से सम्बन्धित है अत: ईश्वर भी गोत्र अथवा मानव समूह से सम्बंधित है इसलिये समूह की ही ईश्वर के रूप में आराधना होती है। ईश्वर समाज का मानवीकरण है। दुर्खीम ने आदिम समाजों में प्रचलित तीन प्रकार के धार्मिक संस्कारों या कर्मकाण्डों की व्याख्या प्रमुख रूप से ही है। जिन्हें सकारात्मक, नकारात्मक तथा शोकात्मक अनुष्ठान कह सकते हैं धर्म का नकारात्मक पक्ष उन व्यवहारों से सम्बन्धित होता है जिनको सामान्य दशा में करने की मनाही होती है। उदाहरण के लिये किसी समुदाय में सामान्य रूप से टोटम का भोजन करना निषिद्ध होता है। इसके अन्तर्गत धार्मिक

विरक्ति या सन्यासी प्रवृत्ति से संम्बंधित क्रियाएं आती है। सकारात्मक संस्कार सम्पर्क और निकटता से सम्बंधित है। इनका उद्देश्य प्रजननता में वृद्धि करना है। ये आनन्द और उत्साह पैदा करने वाले संस्कार है। शोक संस्कार या पश्चातापमूलक संस्कार का विषय दुख होता है इसमें दुख को भी धार्मिक ढंग से प्रदर्शित किया जाता है। इन संस्कारों को मानतें समय अनुयायियों के मन में दुख और व्याकुलता का भाव विद्यमान रहता है।

16.5 सारांश

इस इकाई में आपने दुर्खीम के धर्म विषयक विचारों का अध्ययन किया है। इस इकाई के प्रारंभ में आपने आत्मवाद तथा प्रकृतिकवाद के अध्ययन के साथ आपने यह जाना कि दुर्खीम किस आधार पर इनका खण्डन करते हैं। इसके पश्चात् आपने दुर्खीम द्वारा बताए गए के मूलतत्वों के विषय में जाना। आपका परिचय धार्मिक विश्वास तथा कर्मकाण्ड, पवित्र तथा पार्थिव, टोटम तथा टोटमवाद जैसी अवधारणाओं से हुआ। आपने देखा कि दुर्खीम किस प्रकार धर्म का उद्गम सरलतम समाज की सामूहिक गतिविधियों में देखते हैं।

16.6 बोध प्रश्न

(क) वस्तुनिष्ठ प्रश्न

प्र० 1 आत्मावाद के सिद्धान्त से कौन सम्बन्धित है—

(i) बेवर (ii) टायलर

(iii) दुर्खीम (iv) मार्क्स

2 प्रकृतिवाद के समर्थक हैं—

(i) टायलर (ii) दुर्खीम

(iii) मैक्समूलर (iv) रेडक्लिफ ब्राउन

प्र०-3 धर्म का सम्बंध है—

(i) पवित्र वस्तुओं से (ii) अपवित्र वस्तुओं से

प्र०-4 टोटम सम्बंधित है—

(i) आदिम समाज से (ii) औद्योगिक समाज से

(iii) उत्तर आधुनिक समाज से (iv) कृषक समाज से

दुर्खीम ने जिस महाद्वीप की जनजातियों के नृजातीय विवरण को अपने धर्म विषयक सिद्धान्त का आधार बनाया है—

(i) आस्ट्रेलिया (ii) अमेरिका

(iii) एशिया (iv) यूरोप

लघुउत्तरीय प्रश्न

(उत्तर दस पंक्तियों में लिखिए)

(1) 'टोटम' तथा टोटमवाद' से आप क्या समझते हैं ?

(2) धार्मिक विश्वास तथा अनुष्ठान या कर्मकांड से क्या आशय है?

(3) सकारात्मक अनुष्ठान, नकारात्मक अनुष्ठान एवं शोकात्मक अनुष्ठान से आप क्या समझते हैं ?

(4) दुर्खीम के अनुसार धर्म की उत्पत्ति मूल में क्या है?

(ग) दीर्घउत्तरीय प्रश्न

1) दुर्खीम ने धर्म के प्रारम्भिक स्वरूप की अवधारणा को किस प्रकार प्रस्तुत किया है ?

2) टोटमवाद के सम्बंध में दुर्खीम के धर्म की उत्पत्ति सम्बंधी विचारों की विवेचना कीजिए।

16.7 बोध प्रश्नों के उत्तर

1) टायलर (ii)

2) मैक्समूलर (iii)

3) पवित्र वस्तुओं से (i)

4) आदिम समाज से (i)

5) आस्ट्रेलिया (i)

इकाई 17 आत्महत्या

इकाई की रूपरेखा

17.0 उद्देश्य

17.1 प्रस्तावना

17.2 आत्महत्या का सम्बोध

17.3 अहंवादी आत्महत्या

  17.3.1 धार्मिक प्रणाली तथा अहंवादी आत्महत्या

  17.3.2 परिवार तथा अहंवादी आत्महत्या

  17.3.3 राजनैतिक व्यवस्था तथा अहंवादी आत्महत्या

17.4 परार्थवादी आत्महत्या

17.5 प्रतिमानविहीन आत्महत्या

17.6 आत्महत्या की सामाजिक प्रकृति

17.7 सारांश

17.8 बोध प्रश्न

17.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

17.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप :

- दुर्खीम द्वारा वर्णित आत्महत्या के सम्बोध का उल्लेख कर सकेंगे।
- आत्महत्या के सामाजिक कारकों तथा दुर्खीम द्वारा वर्णित आत्महत्या के तीन प्रकारों अर्थात् अहंवादी हत्या, परार्यवादी आत्महत्या एवं प्रतिमानविहीन आत्महत्या का विवरण कर सकेंगे।
- आत्महत्या के सामाजिक प्रकृति की विवेचना कर सकेंगे।

17.1 प्रस्तावना

इस इकाई में दुर्खीम द्वारा किए गए आत्मत्या के सामाजिक अध्ययन का ज्ञान प्राप्त करेंगे। दुर्खीम की रचना 'आत्महत्या' (Lesucide) 1897 में प्रकाशित हुई थी। पारसंस A मानते हैं आत्महत्या में जिन अवधारणाओं और विचारों को प्रस्तुत किया गया है वह श्रम विभाजन में उठाये गए विचार हैं। रेमण्ड एरॉ B मानते हैं कि जहाँ श्रम विभाजन की पुस्तक समाप्त होती है वहीं उनकी आत्महत्या की पुस्तक शुरू होती है। आत्महत्या का मुद्दा अत्यधिक रूप से विकसित श्रम से जुड़ा है। आत्महत्या समाज और व्यक्ति सम्बन्धों में असन्तुलन का द्योतक है।

इस इकाई में आत्महत्या के सन्दर्भ में दुर्खीम के विचारों को जानेगें। हम यह भी देखेंगे कि दुर्खीम किस प्रकार आत्महत्या को सामाजिक कारकों की परिधि में लाते हैं। इसी इकाई में हम दुर्खीम द्वारा बताए गये आत्महत्या के तीन प्रकारों— अहंवादी आत्महत्या, परार्थवादी आत्महत्या तथा प्रतिमानविहीन आत्महत्या का सोदाहरण ज्ञान प्राप्त करेंगे। तथा घातक आत्महत्या की भी चर्चा करेंगे।

इकाई के अंत में हम आत्महत्या की सामाजिक प्रकृति को समझने का प्रयास करेंगें।

17.2 आत्महत्या का संबोध

दुर्खीम ने अपनी रचना के प्रारंभ में ही आत्महत्या को परिभाषित किया। दुर्खीम के अनुसार ''आत्महत्या'' शब्द मृत्यु की उन समस्त घटनाओं के लिए प्रयोग किया जाता है, जो स्वयं मरने वाले की सकारात्मक या नकारात्मक क्रिया का प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष परिणाम होता है। जिसके भावी परिणाम को वह जानता है।'' दुर्खीम ने यह स्पष्ट किया है कि आत्महत्या की यह अवधारणा केवल मानव जगत् से सम्बंधित है। दुर्खीम की परिभाषा से स्पष्ट है कि आत्महत्या का आशय ऐसी मृत्यु से है, जो मरने वाले की क्रिया का परिणाम है। यह सकारात्मक व नकारात्मक दोनों हो सकती है। उदाहरणार्थ-यदि कोई व्यक्ति स्वयं जहर खा ले और उसकी मृत्यु हो जाये तो यह आत्महत्या का प्रत्यक्ष व सकारात्मक विकल्प है। जबकि यदि कोई व्यक्ति जानबूझकर किसी कार्य को न करे और वह जानता हो, कि इससे उसकी मृत्यु निश्चित है तो वह नकरात्मक या अप्रत्यक्ष विकल्प है। उदाहरण के लिए-कोई व्यक्ति अन्न, जल, त्याग दें तो वह नकारात्मक या अप्रत्यक्ष विधि से अपनी जीवन लीला को समाप्त कर लेता है। आत्महत्या की प्रमुख विशेषता है कि व्यक्ति सोच विचार कर, चेतन, रूप से, स्वयं के जीवन का अन्त करता है। आत्महत्या का गुण यह है कि वह भलीभांति यह जानता है कि उसकी क्रिया का परिणाम मृत्यु है।

दुर्खीम के लिये आत्महत्या व्यक्तिगत अथवा मनोवैज्ञानिक तथ्य नहीं है, जिसका विश्लेषण वैयक्तिक चेतना के आधार पर किया जा सके। आप यह सोच रहे होंगे कि सामान्य रूप से आत्महत्या एक व्यक्तिगत कार्य का संकेत है। जिसमें व्यक्ति अपने जीवन का अन्त कर लेता है। आप सोचेंगे कि इसमें सामाजिक क्या है? इसीलिये दुर्खीम ने आत्महत्या की घटनाओं का अलग-अलग अध्ययन करने की अपेक्षा किसी विशिष्ट समाज में निश्चित समय के अन्दर होने वाली आत्महत्याओं की घटनाओं का समग्रता के साथ अध्ययन पर बल दिया। अर्थात् यह कार्य भिन्न-भिन्न समाजों में, भिन्न - भिन्न समयों पर हो रहा है। यह कार्य किसी एक व्यक्ति तक सीमित नहीं है। एक से अधिक व्यक्ति और एक से अधिक समय पर होने वाला व्यवहार व्यक्तिगत हो जाता है उसमें सामूहिक लक्षण आ जाते हैं। इसीलिए दुर्खीम आत्महत्या को एक सामाजिक तथ्य मानते हैं। यदि हम विभिन्न समाजों अथवा विभिन्न समूहों में आत्महत्या की व्यापकता को नापना चाहे, तो इसका अनुपात निकाल लेंगे। इस अनुपात के द्वारा विभिन्न समूहों अथवा देशों में तुलना आत्महत्या की दर के रूप में की जा सकती है। दुर्खीम ने आत्महत्या की दर को ही सामाजिक तथ्य माना है, और उसे आत्महत्या की सामाजिक दर या सामाजिक आत्महत्या की दर कहा है।

दुर्खीम ने अपने मत की पुष्टि फ्रांस, इंग्लैण्ड, प्रशिया, बवेरिया, डेनमार्क तथा सैक्सोनी, इन 6 देशों के आंकड़ों के आधार पर की है।

दुर्खीम अपनी पुस्तक के पहले भाग में आत्महत्या के अतिरिक्त सामाजिक कारकों के रूप में मनोवैज्ञानिक, अनुवांशिक एवं भौगोलिक कारकों का उल्लेख करते हैं व इन्हें अस्वीकार करते हैं।

पुस्तक के दूसरे भाग में दुर्खीम आत्महत्या के सामाजिक कारकों का उल्लेख करते हैं। दुर्खीम के अनुसार आत्महत्या की व्याख्या, सामाजिक कारकों जैसे-सामाजिक सुदृढ़ता, सामूहिक चेतना, सामूहिक प्रतिनिधान, तथा प्रतिमानविहीनता के सम्बन्ध में की जानी चाहिये। दुर्खीम आत्महत्या की दर से विभिन्न देशों के सांख्यिकीय विश्लेषण के आधार पर यह मानते हैं कि धार्मिक एकीकरण अथवा पारिवारिक एकीकरण अथवा राजनैतिक एकीकरण, आत्महत्या की दर से विलोमानुपाती अथवा प्रतिलोमानुपाती सम्बंध रखते हैं। अर्थात् समाज में जितना अधिक धार्मिक अथवा पारिवारिक अथवा राजनैतिक एकीकरण होगा, आत्महत्या की दर उतनी ही कम होगी। सामाजिक सुदृढ़ता से भी आत्महत्या की दर का प्रतिलोमानुपाती सम्बन्ध होता है।

दुर्खीम आत्महत्या के आंकड़ों का सांख्यिकीय विश्लेषण कर इन्हें 3 कोटियों में विभक्त करते हैं पारसंस का मानना है कि आत्महत्या के ये प्रकार आत्महत्या के आर्दश प्रारूप है। दुर्खीम का मानना है कि आत्महत्या के तथ्य का प्रत्यक्ष अवलोकन कठिन है, इसीलिये आत्महत्या के प्रकारों का वर्गीकरण उन सामाजिक कारकों के आधारों पर कर सकते हैं जो उन्हें उत्पन्न करते हैं।

दुर्खीम ने मुख्य रूप से 3 प्रकार की आत्म हत्याओं का उल्लेख किया है, जो निम्नलिखित है—

1- अहंमवादी आत्महत्या   2- परार्थवादी आत्महत्या   3- प्रतिमानविहीन आत्महत्या।

इसके अतिरिक्त दुर्खीम 'घातक आत्महत्या' की चर्चा की है परन्तु इस पर विस्तृत विचार नहीं किया है।

दुर्खीम के आत्महत्या के विश्लेषण को निम्न चित्र के आधार पर संक्षेप में प्रस्तुत किया जा सकता है। इसकी विस्तृत विवेचना आगे के पृष्ठों में की गई है।

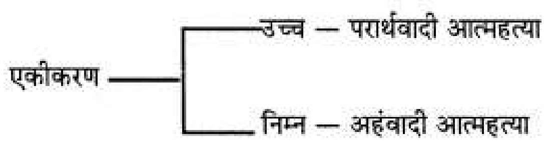

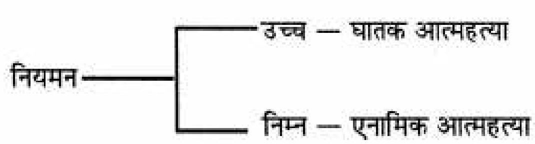

17.3 अंहवादी आत्महत्या (Egoistic Suicide)

दुर्खीम ने विशिष्ट सामाजिक कारकों के संदर्भ में आत्महत्याओं का वर्गीकरण किया है। दुर्खीम ने आत्महत्या का पहला प्रकार अहंवादी आत्महत्या को बताया है यह अतिशय वैयक्तिकता की सामाजिक परिस्थिति है। इसमें व्यक्ति स्वयं को समाज से अधिक महत्व प्रदान करता है। अहंवादी आत्महत्या का मूल कारण सामाजिक समूहों के संगठित होने से है। यदि सदस्य समूह के साथ एकात्मकता का अनुभव करते हैं और सामूहिक जीवन के आदर्शों का पालन करते हैं तो आत्महत्या की प्रवृत्ति कम पायी जाती है। यदि सदस्य सामूहिक गतिविधियों में रूचि नहीं लेते हैं और एकात्मकता की मात्रा कम हो जाती है तो आत्महत्या की प्रवृत्ति बढ़ जाती है। दुर्खीम का मानना है कि आत्महत्या की दर और सामाजिक एकीकरण में विलोमानुपाती सम्बन्ध होता है। अर्थात् सामाजिक एकीकरण अधिक होने पर आत्महत्या की दर कम हो जाती है और सामाजिक एकीकरण कम होने पर आत्महत्या की दर बढ जाती है। दुर्खीम (1897) के

अनुसार अहंवादी आत्म हत्या की दशा, वह दशा है जिसमें व्यक्तिगत अहं की शक्ति, सामाजिक अहं की तुलना में बढ़ जाती है। अतिशय व्यक्तिवाद से उत्पन्न होने वाली आत्महत्या के इस प्रकार को हम अहंवादी आत्महत्या कह सकते हैं।

दुर्खीम का मानना है कि धार्मिक समूह, परिवार, और राजनैतिक व्यवस्था की संगठनात्मक अवस्था के आधार पर अहंवादी आत्महत्या के कारणों की व्याख्या की जा सकती है उनका मानना है कि—

1. आत्महत्या की दर तथा धर्म द्वारा होने वाले एकीकरण में विलोमानुपाती सम्बंध होता है।
2. आत्महत्या की दर तथा पारिवारिक सम्बंध में विलोमानुपाती सम्बंध होता है।
3. राजनैतिक संगठनात्मकता तथा आत्महत्या की दर में विलोमानुपाती सम्बन्ध होता है।

17.3.1 धार्मिक प्रणाली तथा अहंवादी आत्महत्या

दुर्खीम ने यूरोप के विविध धर्मों के अनुयायियों जो यूरेप के विविध भागों में रहते थे, में आत्महत्या की दर का अध्ययन किया। दुर्खीम का मानना है कि जो धर्म व्यक्तियों की स्वतन्त्रता को सीमित करते हैं, धार्मिक समूह अधिक दृढ़ता से एकीकृत होता है, वहां आत्महत्या की दर कम होती है। इसके विपरीत जो धर्म व्यक्तियों को अधिक स्वतन्त्रता प्रदान करते हैं, धार्मिक समूह कम दृढ़ होते हैं वहाँ आत्महत्या की दर अधिक होती है। दुर्खीम का मानना है कि यूरोप में प्रोटेस्टैण्ट धर्म कैथोलिक धर्म की तुलना में अधिक उदार है और व्यक्तियों को अधिक स्वतन्त्रता प्रदान करते हैं। दुर्खीम ने अपने विश्लेषण में पाया कि प्रोटेस्टैण्ट मतावलम्बियों में आत्महत्या की दर, कैथोलिक मतावलम्बियों से ज्यादा होती है। दुर्खीम के अनुसार इटली, पुर्तगाल और स्पेन, जैसे कैथोलिक देशों में आत्महत्या के दर डेनमार्क, प्रशिया, जैसे प्रोटेस्टैण्ट देशों में बहुत कम है। आपके मन में यह प्रश्न उठता है कि यह अंतर कही राष्ट्रीयता में अंतर अथवा विभिन्न क्षेत्रों में रहने के कारण तो नहीं है। दुर्खीम वैज्ञानिक विधि से इस शंका का समाधान करते हैं। उन्होंने एक ही समाज में प्रोटैस्टैण्ट व कैथोलिक समुदायों में आत्महत्या की दर का अध्ययन किया, और पाया कि एक ही समाज में प्रोटेस्टैण्ट व कैथोलिक समुदायों में आत्महत्या की दर भिन्न-भिन्न है और प्रोटेस्टैण्ट समुदाय में आत्महत्या की दर कैथोलिक समुदाय से ज्यादा है। दुर्खीम कहते हैं कि यहूदियों में अत्महत्या की दर प्रोटेस्टैण्ट व कैथोलिक दोनों से कम पायी जाती है। उनका मानना है कि यहूदी समुदाय में पृथक जीवन अपनाने के कारण प्रोटेस्टैण्ट तथा कैथोलिक की अपेक्षा एकता अधिक पायी जाती है, व्यक्तिगत निर्णयों का स्थान नहीं है, जो कि आत्महत्या की दर को कम करता है।

हमें आशा है कि दुर्खीम द्वारा धार्मिक समूहों द्वारा व्यक्तिगत स्वतंत्रता को नियंत्रित करने तथा अहंवादी आत्महत्या की दर से सहसम्बंध को आप समझ सकते हैं। आइये अब परिवार, और अहंवादी आत्महत्या के मध्य सम्बन्धों को समझने का प्रयास करेंगें।

17.3.2 परिवार तथा अहंवादी आत्महत्या

दुर्खीम का मानना है कि परिवार आत्महत्या के विरुद्ध एक शक्तिशाली सुरक्षा है। वह जितना अधिक दृढ़ता से संगठित होता है उतना ही अधिक वह आत्महत्या से रक्षा करने में समर्थ होता है। विघटित परिवार में व्यक्ति निजी अहं पर निर्भर रहता है व आत्महत्या की ओर प्रेरित होता है। दुर्खीम ने विभिन्न देशों में वैवाहिक स्थिति, आयु, लिंग के साथ आत्महत्या के सम्बंध का निरूपण करने वाले आंकड़ों का संग्रह किया और निम्न निष्कर्ष प्रदान किये। दुर्खीम का मानना है कि विवाहित व्यक्तियों की अपेक्षा अविवाहित व्यक्तियों में आत्महत्या की दर कम होती है। विवाहितों में पति-पत्नी में सामंजस्य नहीं बैठने के कारण होने वाले तनावों से अहंवादी आत्महत्या की दर बढ़ जाती है। दुर्खीम बताते हैं कि विवाहित व्यक्यिों की तुलना में विधुर आत्महत्या अधिक करते हैं क्योंकि उनका जीवन अधिक एकांकी हो जाता है।

17.3.3 राजनैतिक व्यवस्था तथा अहंवादी आत्महत्या

दुर्खीम ने राजनैतिक संगठन की दृढ़ता तथा आत्महत्या की दर के मध्य सम्बन्ध को दर्शाया है। दुर्खीम का मानना है कि सरल समाजों में आत्महत्या की दर कम होती है, परन्तु उत्तरोत्तर विकास के साथ आत्महत्या की दर बढ़ती जाती है। दुर्खीम मानते हैं कि जब किसी देश के राजनैतिक सुदृढ़ता में कमी होती है तो आत्महत्या की दर बढ़ जाती है। जैसे ही कोई राष्ट्र विघटित होता है, लोगों में अहंवादी आत्महत्या का चलन बढ़ जाता है। रोम व ग्रीस में परम्परागत राजनैतिक व्यवस्था के अवसान के समय आत्महत्या की दर बढ़ गयी थी। दुर्खीम यह मानते हैं कि जब कोई राष्ट्र संक्रमण काल से गुजरता है तो आत्महत्या की दर घटने लगती है। उदाहरण के लिये फ्रांस में क्रांति के समय आत्महत्या की दर घट गयी है। जर्मनी तथा फ्रांस के बीच 1870-71 में हुये युद्ध में फ्रांस तथा जर्मनी दोनों में आत्महत्या की दर में कमी आयी थी। इसका कारण यह है कि इस अवस्था में व्यक्तिगत अहं में कमी आती है, व सामूहिकता की भावना प्रधान हो जाती है। बी. आर. चौहान (1994) का मानना है कि जो युद्ध कुछ वंशों के हित में होते हैं और जन भावना को उजागर नहीं कर पाते हैं, वह आत्महत्या की दर को नहीं घटा पाते हैं।

17.4 परार्थवादी आत्महत्या (Altruistic Suicide)

परार्थवादी आत्महत्या से आशय आत्महत्या के उस प्रकार से है जिसमें व्यक्ति समाज के हित लिए स्वयं को न्यौछावर कर देता हैं अर्थात् यह आत्महत्या व्यक्ति और समाज के सबल सम्बंध का द्योतक है। दुर्खीम परार्थवादी आत्महत्या का मुख्य उदाहरण भारत में प्रचलित जौहर प्रथा अथवा सती प्रथा को मानते हैं।

दुर्खीम का दूसरा उदाहरण जहाज के एक कैप्टन का है जो क्षति को सहन न कर सकने के कारण अपने जीवन को समाप्त कर लेता है। इसके अतिरिक्त दुर्खीम डेनमार्क के फौजियों का उदाहरण देते है जो वृद्धावस्था व बीमारी की अपेक्षा आत्महत्या को श्रेयस्कर मानते हैं। अहंवादी आत्महत्या में व्यक्ति उद्देश्यहीन होता है जबकि परार्थवादी आत्महत्या में व्यक्ति के सामने उद्देश्य होता है जिसकी पूर्ति के लिए व्यक्ति अपने प्राण त्याग देता है। यह आत्महत्या त्याग व विरक्ति की भावना से की जाती है। अत: इसे परार्थवादी आत्महत्या कहना उचित है। इन आत्महत्याओं जिनका उद्देश्य चाहे देश प्रेम हो,अथवा सामाजिक सम्मान अथवा ईश्वरानुराग। इनमें परार्थवादी मनोवृत्ति की प्रधानता रहती है। इस प्रकार की आत्महत्या करने वालों के प्रति सामाजिक सहानुभूति का प्रदर्शन किया जाता है।

17.5 प्रतिमानविहीन आत्महत्या (Anomic Suicide)

आत्महत्या का तीसरा प्रकार प्रतिमानविहीन आत्महत्या है। प्रतिमानविहीनता का आशय उस स्थिति से है जब समाज में मर्यादायें शिथिल हो जाती हैं। व्यक्यिों का आचरण समाज द्वारा अपेक्षित प्रतिमानों के अनुरूप नहीं होता है, मर्यादाओं का लोप परिवार, और आर्थिक जगत पर भी पड़ता है। जो इस प्रकारान्तर से आत्महत्याओं की प्रकृति की दर को प्रभावित करता है।

दुर्खिम ने संग्रहित तथ्यों के द्वारा आत्महत्या की दर व आर्थिक संकट में सह सम्बन्ध स्थापित किया है। दुर्खीम ने वियना, प्रशिया बवेरिया आदि के आंकड़ों के माध्यम से स्पष्ट किया है कि आर्थिक संकट के समय आत्महत्या की दर बढ़ जाती है। इसके साथ-साथ दुर्खीम यह भी जानते हैं कि आर्थिक संमृद्धि के आने से भी आत्म हत्यायें बढ़ती है। दुर्खीम ने 1870 से 1889 तक की अवधि में रोम में आत्महत्याओं का खाका प्रस्तुत किया है जिसमें आत्म हत्या की दर में वृद्धि हुयी थी, यह काल रोम की आर्थिक प्रगति का काल था। आर्थिक संपन्नता व आर्थिक विपन्नता दोनों ही असमान्य स्थितियाँ है, इस असमान स्थिति में

सामूहिक व्यवस्था में अस्थिरता उत्पन्न हो जाती है और प्रतिमान विहीनता की स्थिति दिखायी देने लगती है। प्रतिमानविहीनता में के संबोध का प्रयोग दुर्खिम ने क्रम विभाजन सर्वप्रथम किया। प्रतिमान विहीनता दुर्खीम के चिन्तन की एक केन्द्रीय अवधारणा है। औद्योगिक समाज जिनका दुर्खीम ने अध्ययन किया, उनका श्रमविभाजन से गहरा सारोकार है, अत: प्रतिमानविहीनता की स्थिति से भी औद्योगिक समाजों को रूबरू होना पड़ता है। अधिक संपन्नता और अधिक विपन्नता दोनों की प्रतिमान विहीनता को जन्म देती है। जिसका प्रभाव आत्महत्या की दर पर पड़ता है। आवश्यकतायें साधनों का अनुकूल रहने पर व्यक्ति सुखी रहता है, परन्तु आवश्यकतायें बढ़ने एवं साधन न बढ़ने पर व्यक्ति में कुंठा का जन्म होता है। जो उसे प्रतिमान विहीनता की ओर ले जाती है। ध्यान देने योग्य बात यह है कि दरिद्रता और आत्महत्या की दर में कोई सहसम्बन्ध नहीं है। दुर्खीम ने आयरलैण्ड का उदाहरण दिया है जहाँ आत्महत्या बहुत कम होती है और गरीबी भी ज्यादा है। वास्तव में प्रतिमानविहीन आत्महत्या की दर का अचानक आर्थिक जगत् में लाये उतार-चढ़ावों में सकारात्मक सह-सम्बन्ध होता है।

दुर्खीम ने आर्थिक परिस्थितियों के साथ वैवाहिक जीवन में भी प्रतिमानविहीनता का अनुभव किया। दुर्खीम के अनुसार जो आत्महत्यायें वैवाहिक विसंगतियों के कारण होती है, वे प्रतिमानविहीन आत्मा हत्यायों की श्रेणी में होती है। दुर्खीम ने स्पष्ट किया है कि विवाहित व्यक्तियों की तुलना में परित्यक्त व्यक्ति चार गुना अधिक आत्महत्यायें करते हैं। परिव्यक्त व्यक्ति विधुर तथा विधवाओं से भी अधिक आत्महत्यायें करते हैं। वास्तव में वैवाहिक जीवन में उत्पन्न प्रतिमानविहीनता, इन्हें तलाक की ओर ले जाकर आत्महत्या की पृष्ठभूमि तैयार करता है। तात्कालिक यूरोप के अनुभव से मिले निष्कर्षों के आधार पर भी यह मानते हैं कि तलाक की दशा में पुरुष अधिक आत्महत्या करते हैं और जहाँ तलाक कम होते हैं, वहाँ स्थियाँ आत्महत्या की ओर अधिक प्रेरित होती है। इसका कारण यह है कि विवाह जैसी कठोर संस्थायें नियंत्रण की दृष्टि से जितनी शिथिल होती है, स्त्रियों को उतनी स्वतन्त्रता होती है।

आत्महत्या के इन तीन प्रारूपों की सीमा रेखा से परे भी आत्महत्यायें होती है जिन्हें घातक आत्महत्या के नाम से सम्बोधित किया जा सकता है। ये आत्महत्यायें अत्यधिक नियंत्रण के कारण उन लोगों के द्वारा की जाती है, जिनका भविष्य अति अनुशासन के कारण नष्ट होता दिखता है। अत्यधिक नियंत्रण इन व्यक्तियों को असहाय बनाता है व उनकी कामनाओं की पूर्ति में बाधा उत्पन्न करता है। उदाहरण के लिए—कोई संततिविहीन नारी यदि माँ न बन सके, भले ही इसमें उसके पति का दोष हों, ऐसी दशा में उसके द्वारा की जाने वाली आत्महत्या, प्रतिमानविहीन आत्महत्या की श्रेणी में आती है। दुर्खीम ने प्राचीन रोमन साम्राज्य की दास व्यवस्था का उल्लेख करते हुए कहा है कि दास सामाजिक नियमों के कठोर नियंत्रण के कारण अपनी प्रस्थिति से मुक्त नहीं हो सकते थे। फलत: वो आत्महत्या कर लेते थे। दुर्खीम इसे घातक आत्महत्या मानते हैं।

17.6 आत्महत्या की सामाजिक प्रकृति

दुर्खीम ने अपनी पुस्तक के अंतिम भाग में सामाजिक घटना के रूप में आत्महत्या की व्याख्या की है। वह आत्महत्या को एक सामाजिक तथ्य मानते हैं। इसके लिये वह आत्महत्या की दर का निर्धारण सामाजिक कारकों द्वारा करते हैं। दुर्खीम मानते हैं कि किसी विशिष्ट समाज की नैतिक संचरना आत्महत्या की संख्या को निश्चित करती है। दुर्खीम मानते हैं कि प्रत्येक समाज अपने इतिहास के प्रत्येक काल में आत्महत्या के प्रति निश्चित रूचि रखता है। समान मृत्यु दर तथा आत्महत्या की दर के आंकड़ों के तुलनात्मक विवेचन से दुर्खीम ने यह सिद्ध किया कि आत्महत्या की वार्षिक दर में सामान्य वार्षिक मृत्यु दर से भी कम

परिवर्तन होते हैं। दुर्खीम का मानना है कि वैयक्तिक दशायें भिन्न-भिन्न व्यक्तियों को आत्महत्या की प्रेरणा देती है, परन्तु वह किसी समाज में किसी समूह में आत्महत्या की प्रवृत्ति को नहीं पैदा कर सकती है। अर्थात् वैयक्तिक दशायें, आत्महत्या की दर को प्रभावित नहीं करती है। इसलिये वैयक्तिक दशायें समाजशास्त्र की नहीं, वरन् मनोविज्ञान की विषय वस्तु है।

दुर्खीम, क्वेटलेट, तथा टार्डे के सिद्धान्तों की अलोचना करते हैं। क्वेटलेट मानते हैं कि सामाजिक घटनाओं की व्याख्या प्रत्येक समाज में बहुमत में पायी जाने वाली विशेषताओं को आधार बनाकर औसत प्रारूप अथवा औसत मनुष्य के सिद्धान्त के आधार पर की जा सकती है। क्वेटलेट औसत प्रारूपों का निर्धारण, व्यक्तिगत प्रारूपों का अर्थगणितीय माध्य निकालकर करते हैं और इसीलिये क्वेटलेट आत्महत्या की दर की व्याख्या भी औसत प्रारूप के आधार पर करते हैं। दुर्खीम मानते हैं कि समाज में सभी लोग आत्महत्या के प्रति आसक्त नहीं होते हैं, फिर भी समाज में आत्महत्या की दर नियमित होती है। अत: औसत के सिद्धान्त के आधार पर आत्महत्या की दर से स्थायित्व और नियमितता की व्याख्या करना संभव नहीं है। दुर्खीम मानते हैं कि आत्महत्या का सम्बन्ध समाज के नैतिक पर्यावरण से होता है। भिन्न-भिन्न समूहों में नैतिक पर्यावरण भिन्न-भिन्न तथा दीर्घकाल तक अपरिवर्तनीय होने से आत्महत्या की दर में स्थिरता रहती है। 'टार्डे' अपने आत्महत्या के सिद्धान्त को 'अनुकरण' के आधार पर समझाते हैं, उनका मानना है कि विचार व भावनायें एक दूसरे को हस्वान्तरित होती है। दुर्खीम इस आधार पर आत्महत्या की व्याख्या को निषेधित करते हैं और टार्डे की वैयक्तिक व्याख्या को त्रुटिपूर्ण मानते हुये इसे सामाजिक कारकों का परिणाम मानते हैं। दुर्खीम ने सामूहिक प्रवृत्तियों व सामहिक भावनाओं का सारगर्भित विवेचन किया है, उनके अनुसार आत्महत्या का अध्ययन समाज की नैतिक मान्यताओं तथा सामूहिक प्रवृत्तियों के संदर्भ में किया जा सकता है। व्यक्ति की व्यक्तिगत प्रवृत्तियों से भिन्न यह सामाजिक प्रवृत्तियां मनुष्यों के पारस्परिक संपर्क के फलस्वरूप उत्पन्न होती है। दुर्खीम का मानना है कि सामाजिक जीवन का निर्माण प्रतिनिधियों से होता है। सामूहिक प्रतिनिधान (representation) सामूहिक चेतना से उत्पन्न होते हैं तथा वैयक्तिक चेतना (व्यक्तियों की चेतना) से परे होते हैं। अत: आत्महत्या की प्रेरक शक्ति व्यक्तिगत चेतना से बाहर सामूहिक चेतना में उत्पन्न होती है। अब आपके सामने यह स्पष्ट हो गया होगा कि दुर्खीम किस प्रकार मनोवैज्ञानिक व भौगोलिक कारकों के दरकिनार करके आत्महत्या के सामाजिक कारकों की व्याख्या करते हैं और इसे एक सामाजिक तथ्य के रूप में प्रतिस्थापित करते हैं।

17.7 सारांश

इस इकाई में आपने दुर्खीम की आत्महत्या की अवधारणा का अध्ययन किया। इकाई के प्रारंभ से अंत तक आपने देखा कि दुर्खीम किस प्रकार आत्महत्या को सामाजिक कारकों से सम्बद्ध करने में सफल हुए हैं। आशा है आप आत्महत्या के सम्बोध, उसकी सामाजिक प्रकृति को समझ सके होंगे। दुर्खीम के यूरोपीय अनुभवों पर आधारित आत्महत्या के विविध प्रकारों की व्याख्या, संभवत: आपके सामने आत्महत्या की विस्तृत रूपरेखा प्रस्तुत कर सकी होगीं। इन प्रकारों के सांचे में रखकर आप अपने समाज में होने वाली आत्महत्याओं का अध्ययन सामाजिक धरातल पर कर सकते हैं।

17.8 बोध प्रश्न

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1- दुर्खीम के अनुसार अहंवादी आत्महत्या की दर किस धर्म के अनुयायियों में सर्वाधिक पायी जाती है—

संदर्भ ग्रन्थ सूची

दुर्खीम की मूल पुस्तकें :

(1) Durkheim, Emile : De la division du travail social. F. Alcian, Paris, 1893.

(2) Durkheim, Emile : Les regles de la methode sociologique. F. Alcan, Paris, 1895.

(3) Durkheim, Emile : Le Suicide. F. Alcan, Paris, 1897.

(4) Durkheim, Emile : Les formes elementaries de la vie religieuse. F. Alcan. Paris, 1912.

अंग्रेजी में अनुदित पुस्तकें एवं अन्य पुस्तकें

(1) Abraham & Morgan : Sociological Thought From Comte to Sorokin, Mac Millan India Limited, Madras, 1985.

(2) Durkheim, Emile : 'The Division of Labour in Society, ' Trans, George Simpson Free Press.

(2) Durkheim, Emile : 'The Rules of Sociologic..l Method', Trans. George Catlin, Cambridge University Press.

(3) Durkheim, Emile : 'Suicide', Trans. Spaulding and Simpson, Free Press,New York.

(4) Durkheim, Emile : 'Elementary Forms of Religious Life', Trans, Free Press, N.Y.

(5) Parsons, T. : 'The Structure of Social Action,' The Free Press, New York, 1937.

(6) Nisbet, R. A. : 'The Sociology of Emile Durkheim,' Oxford University Press, New York, 1974.

(7) Aron, Raymond : Main Currents in Sociological Thought 2, Region Books, London, 1970.

हिन्दी माध्यम में उपलब्ध पुस्तकें

(1) चौहान, बी. आर. 'समाज विज्ञान के प्रेरणा स्रोत', ए० सी० ब्रदर्स, उदयपुर, 1994.

(2) दर्खाइम, एमिल, 'समाजशास्त्रीय पद्धति के नियम', अनुवादक-हरिशचंद्र उप्रेती, राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी, जयपुर 1982,

(3) दोषी एवं जैन, 'सामाजिक विचारक, रावत पब्लिकेशन, जयपुर, 1997.

(4) श्रीवास्तव, सुरेन्द्र कुमार, 'समाज विज्ञान के मूल विचारक,' उत्तर प्रदेश हिन्दी ग्रंथ अकादमी, लखनऊ

(5) शर्मा, ओम प्रकाश, दर्खाइम एक अध्ययन', विवेक प्रकाशन, दिल्ली, 1983-84.

(6) निगम, कृष्णा, उच्च सा जिक सिद्धान्त, मध्य प्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल, 1984.

(i) यहूदी (ii) प्रोटेस्टैण्ट (iii) कैथोलिक

2- दुर्खीम की प्रथम रचना जो कि 1893 में प्रकाशित हुयी, का नाम क्या है—

(i) समाजशास्त्रीय पद्धति के नियम (ii) समाज में श्रम विभाजन

(iii) आत्महत्या (iv) धार्मिक जीवन के प्रारम्भिक स्वरूप

3- 'आत्महत्या' कृति के प्रकाशन का वर्ष है—

(i) 1893 (ii) 1895 (iii) 1897

4- आत्महत्या की किस दसा में व्यक्ति का अहं समाज से बड़ा होता है—

(i) परार्थवादी आत्महत्या (ii) प्रतिमानविहीन आत्महत्या

(iii) अहंवादी आत्महत्या (iv) घातक आत्महत्या

5- सती प्रथा किस प्रकार की आत्महत्या का उदाहरण है।

(i) अहंवादी आत्महत्या (ii) परार्थवादी आत्महत्या

(iii) प्रतिमानविहीन आत्महत्या

लघुउत्तरीय प्रश्न (उत्तर दस पंक्तियों में लिखिए)

1- 'आत्महत्या' से दुर्खीम का क्या आशय है?

2- दुर्खीम की आत्महत्या की प्रकृति सामाजिक क्यों है?

3- अहंवादी आत्महत्या धर्म व परिवार से किस प्रकार सम्बन्धित है ?

4- परार्थवादी आत्महत्या अहंवादी आत्महत्या से किन संदर्भों में भिन्न है?

5- प्रतिमान विहीन आत्महत्या किसे कहते हैं?

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1- दुर्खीम द्वारा प्रस्तुत 'आत्महत्या' की अवधारणा का विश्लेषण कीजिये ?

2- आत्महत्या के किन्ही 2 प्रकारों का सोदाहरण विवेचन कीजिये ?

17.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

1- (ii) प्रोटेस्टैण्ट

2- (ii) समाज में श्रमविभाजन

3- (iii) 1897

4- (iii) अहवादी आत्महत्या

5- (ii) परार्थवादी आत्महत्या

खण्ड

5

मैक्स वेबर

इकाई 18

वेबर का पद्धतिशास्त्र

इकाई 19

वेबर के आदर्श प्रारूप की व्याख्या

इकाई 20

धर्म और अर्थ व्यवस्था

इकाई 21

शक्ति और सत्ता

इकाई 22

वेबर के बाद का समाजशास्त्र

सन्दर्भ सूची

परामर्श समिति

प्रो० देवेन्द्र प्रताप सिंह — अध्यक्ष
कुलपति
उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय,
इलाहाबाद

डॉ० एच० सी० जायसवाल — कार्यक्रम संयोजक
परामर्शदाता
उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इला०

डॉ० आर० के० बसलस — सचिव
कुल सचिव
उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय,
इलाहाबाद

विशेषज्ञ समिति

प्रो० वी० के० पंत — विषय विशेषज्ञ
से०नि०आचार्य एवं विभागाध्यक्ष
कुमाऊँ विश्वविद्यालय, नैनीताल

प्रो० डी० पी० सक्सेना — विषय विशेषज्ञ
से० नि० आचार्य
गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर

प्रो० पी० एन० पाण्डेय — विषय विशेषज्ञ
आचार्य एवं पूर्व विभागाध्यक्ष
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

डा० मंजूलिका श्रीवास्तव — संरचनात्मक विषय विशेषज्ञ
स्ट्राइड, इग्नू, नई दिल्ली

पाठ्यक्रम लेखन समिति

MASY-02 : – *पाश्चात्य सामाजिक विचारधारा*

खण्ड एक : अनूप कुमार सिंह, प्रवक्ता , डी०ए०वी० कालेज, कानपुर 5 इकाई (आकारगत 3)
खण्ड दो : पवन कुमार मिश्र, प्रवक्ता, लखनऊ विश्वविद्यालय 4 इकाई (आकारगत 3)
खण्ड तीन : डॉ० अनिल कुमार मिश्र, प्रवक्ता, डी०ए०वी० कालेज, कानपुर 4 इकाई
खण्ड चार : मणीन्द्र कुमार तिवारी, प्रवक्ता, डी०ए०वी० कालेज, कानपुर 4 इकाई
खण्ड पाँच : पवन कुमार मिश्र, प्रवक्ता, लखनऊ विश्वविद्यालय 5 इकाई (आकारगत 4)
सम्पादन : प्रो० वी० के० पंत

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

सर्वाधिकार सुरक्षित, इस कार्य के किसी भी अंश की उ० प्र० राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद की लिखित अनुमति के बिना मिमियोग्राफ अथवा किसी अन्य साधन से पुन: प्रस्तुति अनुमन्य नहीं है।

दूरस्थ शिक्षा परिषद नई दिल्ली के सहयोग से प्रकाशित।

खण्ड 5 का परिचय : मैक्स वेबर

इस खण्ड में समाजशास्त्र के प्रारंम्भिक पथ प्रदर्शकों में प्रमुख स्थान प्राप्त जर्मन समाजशास्त्री मैक्स वेबर (1864-1920) के प्रमुख समाजशास्त्रीय विचारों की जानकारी दी गयी है। इस खंण्ड का प्रारम्भ मैक्स वेबर के जीवन परिचय से होता है जिसमें मैक्स वेबर के प्रमुख कार्य तथा उनका संक्षिप्त जीवनवृत्त प्रस्तुत किया गया है।

वेबर के सिद्धान्तों का समाजशास्त्र में महत्वपूर्ण स्थान है। वेबर के सिद्धान्तों से प्रभावित होकर कालांतर में समाजशास्त्र में कई नए सैद्धान्तिक परिप्रेक्ष्य विकसित हुए। इस खण्ड की प्रथम इकाई में वेबर का पद्धतिशास्त्र संक्षेप में स्पष्ट किया गया है। इस इकाई में वेबर की सामाजिक पृष्ठ भूमि पर भी चर्चा की गयी है। इस इकाई के अध्ययन से आपको वेबर के सिद्धान्तों को समझने के लिए एक व्यापक दृष्टि प्राप्त होगी। वस्तुत: वेबर एक जटिल विचारक माने जाते हैं। अत: इनके सिद्धान्तों को उनकी संपूर्णता में समझने के लिए वेबर की अध्ययन पद्धति को समझना आवश्यक है।

वेबर की अध्ययन पद्धतियों का एक प्रमुख अंग ''आदर्श प्रारूप '' है। इस खण्ड की इकाई- 2 में वेबर के आदर्श प्रारूप के संबंध में चर्चा की गयी है । वेबर ने आदर्श प्रारूप की अवधारणा को प्रमुख पद्धतिशास्त्रीय उपकरण के रूप में इस्तेमाल किया है। इस इकाई के अध्ययन से आपको वेबर के आदर्श प्रारूप को समझने में मदद मिलेगी। इसके साथ ही इस इकाई के अध्ययन से वेबर के सामाजिक क्रिया के आदर्श प्रारूपों को भी आप विस्तार से समझ पाएंगे । इस खण्ड की इकाई - 3 वेबर के धर्म के समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य पर केन्द्रित है। इस इकाई में वेबर द्वारा संसार के छह महान धर्मों ईसाई, हिन्दू, बौद्ध, इस्लाम, कनफ्युशियस तथा यहूदी पर किए गये अध्ययन की चर्चा के साथ साथ इनकी अर्थव्यवस्था से संबंधों पर भी प्रकाश डाला गया है। इस इकाई के अध्ययन से आपको यह जानकारी मिलेगी कि कैसे ईसाइयत की एक प्रमुख शाखा प्रोटेस्टेंट मत की विचारधारा ने पूंजीवाद के उद्‌भव में अपना योगदान दिया। इस इकाई का अध्ययन आपको वेबर के भारतीय समाज के मूल्यों पर दिये गये विचारों तथा उनकी समालोचना के संबंध में व्यापक दृष्टिकोण विकसित करने में भी मदद करेगा।

इकाई - 4 वेबर के राजनैतिक समाजशास्त्र से संबंधित है। इस इकाई में वेबर के शक्ति तथा सत्ता के आदर्श प्रारूपों की चर्चा की गयी है। वेबर ने नौकरशाही को सत्ता के एक प्रारूप का उदाहरण माना है। इस इकाई में वेबर की नौकरशाही की अवधारणा के प्रमुख लक्षणों की चर्चा के साथ-साथ इसकी विकासशील देशों विशेषकर भारत के संदर्भ में प्रासंगिकता पर भी चर्चा की गयी है।

इस खण्ड की इकाई - 5 समाजशास्त्र पर वेबर के सिद्धान्तों के प्रभाव पर चर्चा करती है। समाजशास्त्र के दो अन्य महान विचारकों दुर्खीम तथा कार्ल मार्क्स की तरह मैक्स वेबर ने भी समाजशास्त्र को बहुत गहराई से प्रभावित किया। इनके प्रभाव में समाजशास्त्र में घटना क्रम विज्ञान (फिनामेनालोजी) तथा लोक विधि विज्ञान (एथनोमेथडोलोजी) जैसे नवीन समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्यों का विकास हुआ। वेबर वादी प्रभाव में विकसित व्याख्यात्मक समाजशास्त्र की यह नवीन धारा मानवीय गतिविधियों को एक नए परिप्रेक्ष्य में स्पष्ट करती है तथा नए अर्थ उद्‌घाटित करती है।

जीवन परिचय : मैक्स वेबर (1864-1920)

पारिवारिक पृष्ठ भूमि — जर्मनी के महान विचारक मैक्स वेबर का जन्म 21 अप्रैल सन 1864 में जर्मनी के इरफूर्ट थूरिंगिया नामक स्थान पर एक संपन्न परिवार में हुआ। वेबर के पिता जो पश्चिम जर्मनी के वस्त्र निर्माताओं के परिवार से संबंधित थे, सक्रिय राजनीति में रुचि रखते थे। बर्लिन के नगर पार्षद के रूप में उनके राजनैतिक जीवन की शुरु आत हुई तथा बाद में वे प्रशा के हाउस आफ डेपुटीज के सदस्य बन गये। वेबर के पिता एक प्रमुख उदारवादी राजनीतिज्ञ थे। वे इरफुर्ट के न्यायाधीश भी रहे जहां वेबर का जन्म हुआ था। वेबर के पिता आमोद-प्रमोद का जीवन व्यतीत करने में रुचि रखते थे। वेबर की माता हालेन फालनस्टेन एक उच्च घराने की महिला थीं तथा काल्विनवादी विचारों में अत्यन्त विश्वास करती थीं। वेबर की माँ के विचार उनके पिता के विचारों से भिन्न थे जिसकी वजह से वेबर के परिवार में तनाव रहता था।

प्रारंम्भिक शिक्षा तथा समाजीकरण — वेबर का लालन-पालन एक ऐसे परिवार में हुआ जिसमें शिक्षा, सम्पन्नता तथा राजनैतिक वातावरण मौजूद था। बचपन में शारीरिक रूप से कमजोर वेबर खेल के बजाय पुस्तकों में अधिक रुचि रखता था। वेबर ने बचपन में ही अपने पत्रों में होमर, वीरगिल, सिसरो तथा लीवी जैसे विद्वानों के विचारों का उल्लेख करना शुरू कर दिया था। विश्वविद्यालय में अध्ययन के लिए जाने के पूर्व ही वेबर स्पिनोजा तथा कोंत के विचारों को पढ़ चुका था। इसके अलावा वेबर उस समय के प्रसिद्ध इतिहासवेत्ताओं ट्रेटजक, साइबल, दिल्ले तथा मामसेन इत्यादि के संपर्क में आ चुका था। वेबर के स्कूली शिक्षा काल में उसके अध्यापक वेबर की अनुशासनहीनता की शिकायत भी करते थे। इसकी प्रमुख वजह यह थी कि वेबर बचपन में संकोची तथा अन्तर्मुखी प्रकृति का था।

1882 में 18 वर्ष की आयु में वेबर हैडलबर्ग विश्वविद्यालय में आया। यहां आकर संकोची तथा अलग-थलग रहने वाला वेबर अचानक सक्रिय हो गया तथा समाज में लोगों से मिलने जुलने लगा। लेकिन वेबर ने 3 सत्रों के पश्चात् अपनी शिक्षा पूरी किये बगैर स्ट्रासवर्ग में सेना की नौकरी शुरू कर दी। जब वेबर स्ट्रासबर्ग में सैन्य नौकरी कर रहे थे तब यहां वे अपने चाचा इतिहासकार हरमन बाम-गार्टन तथा उनकी पत्नी इडा के संपर्क में आए। इस

मैक्स वेबर

दम्पत्ति का उनके जीवन पर काफी प्रभाव पड़ा। हरमन एक उदारवादी व्यक्ति थे। उनकी पत्नी इडा का धार्मिक विचारों के प्रति गहरा लगाव था। अपनी माता तथा अपनी चाची के प्रभाव में वेबर पर प्रोटेस्टेण्ट नैतिकता का काफी गहरा प्रभाव पड़ा। चाचा बॉमगार्टन ने वेबर को एक उभरते हुए प्रभावशाली बौद्धिक व्यक्ति के रूप में देखा। सन 1893 में अपने चाचा बामगार्टन की मृत्यु के समय तक वेबर के लिए वे ही राजनैतिक व बौद्धिक मामलों में परामर्शदाता थे।

दो वर्ष की सैनिक नौकरी के पश्चात वेबर ने अपनी शिक्षा पूरी करने के लिए बर्लिन विश्वविद्यालय में प्रवेश ले लिया। बर्लिन विश्वविद्यालय में वेबर ने 1889 में "हिस्ट्री आफ कामर्शियल सोसायटी इन द मिडिल ऐजेज" पर अपनी पी-एच0 डी0 तथा "रोमन एग्रेरियन हिस्ट्री एण्ड इट्स सिगनिफिकेन्स फार

पब्लिक एण्ड प्राइवेट ला'' पर अपना पोस्ट डाक्टोरल शोध प्रबंध लिखा। इसके उपरांत वेबर बर्लिन विश्वविद्यालय में प्राध्यापक बना।

युवावस्था एवं बौद्धिक विकास — 1893 में वेबर का विवाह उनके पिता की ओर की रिश्तेदार 22 वर्षीय लड़की मेरियन शिनटजर जो एक डाक्टर की लड़की थी, के साथ हुआ। 1894 में वेबर को फ्राइबर्ग विश्वविद्यालय में अर्थशास्त्र के प्रोफेसर के रूप में नियुक्ति मिली। यहाँ 1895 में द नेशनल स्टेट एण्ड इकानॉमिक पॉलिसी पर दिये गये वेबर के भाषण ने उसको बहुत ख्याति दिलाई। 1896 में हीडलबर्ग जहां उसने अध्ययन किया था, अर्थशास्त्र के प्रोफेसर के रूप में कार्य संभाला। 1898 में जब वेबर 34 वर्ष के थे, पारिवारिक तनावों तथा अन्य कारणों की वजह से बीमार पड़ गये। ऐसे समय में वेबर ने डाक्टरों की सलाह पर भ्रमण करना शुरू किया। 1902 में स्वस्थ होने के उपरांत वेबर ने पुन: शैक्षणिक कार्य प्रारम्भ किये । 1903 में वे हाइडलबर्ग में पुन: प्रोफेसर नियुक्त हुए तथा आर्किव फ्यूअर सोशलविजनशैफ्ट तथा 'सोशल पोलिटिक' नामक पत्रिकाओं का संपादन किया।

1904 में उसने सामाजिक तथा आर्थिक मुद्दों पर, सामाजिक विज्ञानों में वस्तुपरकता के प्रश्न पर तथा प्रोटेस्टेंट एथिक एण्ड द स्पिरिट ऑफ कैपीटलिज्म के पहले भाग के रूप में महत्वपूर्ण लेख प्रकाशित किये। उसी वर्ष एक शैक्षिंक निमन्त्रण पर वह अमरीका भी गया। वेबर अमरीका के आर्थिक विकास तथा वहां की संस्कृति से भी प्रभावित हुआ। वस्तुत: वेबर के आगामी वर्ष उसके शैक्षणिक गतिविधियों के लिए बहुत महत्वपूर्ण थे । 1910 में वेबर ने टॉनीज व सिमल के साथ 'जर्मन सोसियोलाजिकल सोसायटी' की स्थापना की।

वेबर एक उदारवादी राजनीतिज्ञ तथा राष्ट्रवादी था। वेबर अपनी उदारवादिता के चलते जर्मन नेताओं की युद्ध नीतियों से संतुष्ट नहीं था और उसने प्रथम विश्व युद्ध में जर्मन नेताओं की आलोचना की। हालांकि वेबर को इसके लिए राजनैतिक धमकियों तथा दबावों का भी सामना करना पड़ा। 1915-1920 के मध्य वेबर ने सक्रिय राजनीति में भाग लेने के साथ-साथ शैक्षणिक गतिविधियों में भी सक्रियता को बनाए रखा।

प्रथम विश्वयुद्ध के दौरान उसने धर्म के समाजशास्त्र पर अपना अध्ययन पूरा किया। 1915-20 के मध्य उसके कुछ अन्य प्रमुख अध्ययन 'द रिलीजन ऑफ चाइना : कन्फूशियनिज्म एण्ड ताओइज्म, द रिलीजन आफ इंडिया : द सोशियालोजी आफ हिन्दुइज्म एण्ड बुद्धिज्म, एन्शियेंट जूडाइज्म इत्यादि थे। 1918 में वेबर वियना में तथा 1919 में म्युनिख में समाजशास्त्र के प्रोफेसर बने। 1919 में वेबर ने म्युनिख विश्वविद्यालय में साइंस एज ए वोकेशन एण्ड पालिटिक्स एज ए वोकेशन पर अपना प्रसिद्ध भाषण दिया। वेबर ने इस काल में विर्टशाफ्ट तथा गेसलशाफ्ट पर भी गहन कार्य किया परन्तु वह इसे पूरा नहीं कर सका। बाद में उसकी मृत्यु के पश्चात इसका अनुवाद प्रकाशित हुआ । 14 जून 1920 को मैक्स वेबर का न्यूमोनिया की वजह से देहांत हो गया।

वेबर की प्रमुख रचनाएं — वेबर की प्रमुख रचनाओं की सूची अनुक्रम में नीचे प्रस्तुत की गयी है। इस सूची में प्रतिष्ठित समाजशास्त्रियों द्वारा अनुवादित तथा सम्पादित पुस्तकें भी शामिल है। (1905 - 1905) 1930 द प्रोटेस्टेंट एथिक एण्ड द स्पिरिट आफ कैपीटलिज्म (अनुवादक टालकर पारसंस, आर. एच. टानी) एलन एण्ड अनविन : लंदन (1915) 1951 द रिलीजन आफ चाइना : कन्फ्यूशीएनिज्म एण्ड ताओइज्म फ्री प्रेस : ग्लैन्को (1904 - 1905) तथा (1917) 1949 मैक्स वेबर आन द मैथडोलाजी आफ सोशल साइन्सेज (अनुवाद व संपादित एडवर्ड शिल्स एण्ड एच. ए. फिन्च) फ्री प्रेस : ग्लैन्को (1916 - 1917) 1952 द रिलीजन आफ इंडिया : द सोशियोलाजी ऑफ हिन्दूइज्म एण्ड बुद्धिज्म (अनुवाद व संपादित हंस एच गर्थ एण्ड डॉन मार्टिन्डेल) फ्री प्रेस : ग्लैन्को

(1917) 1952 ऐंशियंट जुडाइज्म फ्री प्रेस : ग्लैन्को (1919-1920) 1950 जनरल इकोनॉमिक हिस्ट्री (अनुवाद फैंक. एच. नाइट) फ्री प्रेस : ग्लैन्को

(1921) 1958 द सिटी फ्री प्रेस : ग्लैन्को

(1922) 1957 द थ्योरी आफ सोशल एण्ड इकानॉमिक आरगानाइजेशन (अनुवाद व संपादित हैंडरसन व पारसंस) फ्री प्रेस: ग्लैन्को

(1906-1924) 1958 फ्राम मैक्स वेबर : एसेज इन सोसियोलॉजी (अनुवाद व संपादित गर्थ एण्ड सी. राइट मिल्स) आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस : न्यूयार्क

इकाई 18 वेबर का पद्धतिशास्त्र

इकाई की रूपरेखा

18.0 उद्देश्य

18.1 प्रस्तावना

18.2 पद्धति शास्त्र : व्याख्या और महत्व

18.2.1 पद्धतिशास्त्र की व्याख्या

18.2.2 पद्धतिशास्त्र का महत्व

18.3 वर्स्टेहन (फर्स्थेन)

18.4 आदर्श प्रारूप

18.5 कार्य कारण संबंध

18.6 कार्य कारण विश्लेषण का वेबर के विचारों में प्रयोग

18.6.1 धर्म व सामाजिक पविर्तन

18.6.2 वेबर का स्तरीकरण संबंधी दृष्टिकोण

18.7 समाजशास्त्र में मूल्य

18.8 सारांश

18.9 बोध प्रश्न

18.10 बोध प्रश्नों के उत्तर

18.11 कुछ उपयोगी पुस्तकें

18.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप :

- वेबर के पद्धतिशास्त्र की व्याख्या कर सकेंगे।
- वेबर के कार्यकारण संबंधी विचारों का विश्लेषण कर सकेंगे।

18.1 प्रस्तावना

इस इकाई को 6 भागों में बांटा गया है। पहले भाग में पद्धति शास्त्र का विश्लेषण किया गया है। इसके बाद के भागों में वेबर के पद्धतिशास्त्र के चारों प्रमुख भागों की व्याख्या प्रस्तुत की गयी है। दूसरे भाग में वेबर के वर्स्टेहन के संबंध में चर्चा की गयी है। तीसरे भाग में वेबर के आदर्श प्रारूप के संबंध में चर्चा की गयी है। चौथे भाग में वेबर के कार्य कारण संबंधी विचारों की चर्चा की गयी है तथा इसे मार्क्स के साथ तुलना करते हुए प्रस्तुत किया गया है। पांचवें भाग में कार्यकारण विश्लेषण का वेबर के विचारों में प्रयोग के संबंध में चर्चा की गयी है। इसके दो उपभाग हैं । प्रथम उपभाग में वेबर के धर्म व सामाजिक

परिवर्तन संबंधी प्रथा द्वितीय उपभाग में वेबर के स्तरीकरण संबंधी दृष्टिकोण को प्रस्तुत किया गया है। छठवें भाग में वेबर द्वारा समाजशास्त्र में प्रयुक्त किए गये मूल्य संबंधी विचारों को प्रस्तुत किया गया है ।

18.2 पद्धतिशास्त्र : व्याख्या और महत्व

18.2.1 पद्धति शास्त्र की व्याख्या

पद्धपि शास्त्र से तात्पर्य शोध तकनीक की उस प्रणाली या प्रक्रिया से है जिसके द्वारा किसी समस्या का अध्ययन किया जाता है। यहाँ आपको यह बताना प्रासंगिक होगा कि शोध तकनीक व पद्धतिशास्त्र में अंतर है। शोध तकनीक का प्रयोग कर समाजशास्त्री समाज से आंकड़े इकट्ठे करते हैं । पद्धतिशास्त्र की मदद से समाजशास्त्री उन आँकड़ों का विश्लेषण करते हैं। शोध तकनीक पद्धति शास्त्र का छोटा-सा हिस्सा मात्र है। पद्धति शास्त्र में अनेक तकनीकों का समन्वय होता है। विभिन्न तकनीकों का समन्वय कर समाजशास्त्रियों द्वारा अपने विशिष्ट पद्धतिशास्त्र को विकसित किया जाता है।

18.2.2 पद्धतिशास्त्र का महत्व

किसी विचारक के समस्त परिप्रेक्ष्य की झलक हमें उसके पद्धतिशास्त्र में मिलती है। समाजशास्त्र समाज के अध्ययन से संबंधित है। समाजशास्त्री समाज में मनुष्यों द्वारा प्रयुक्त व्यवहारों, समाज की समस्याओं का अध्ययन करता है। समाजशास्त्रीय पद्धतिशास्त्र में इन महत्वपूर्ण तथ्यों का विश्लेषण शामिल है। पद्धतिशास्त्र के अध्ययन द्वारा किसी विचारक विशेष के अध्ययन के उद्देश्यों को समझा जा सकता है। इसलिए समाजशास्त्रियों के पद्यति शास्त्र का विश्लेषण न केवल महत्वपूर्ण है बल्कि रुचिकर भी है।

मैक्स वेबर एक जटिल विचारक है। उनके अध्ययनों को समझने के लिए उनके पद्धति शास्त्र को समझना आवश्यक है। वेबर अपने संपूर्ण अध्ययनों में अपने पद्धतिशास्त्र के चारों प्रमुख अंगों का प्रयोग करते हैं। इस इकाई के विश्लेषण से आपको यह पता चलेगा कि वस्तुत: वेबर ने समाज को किस दृष्टिकोण से देखा है।

18.3 वर्स्टेहन (फर्स्थेन)

वेबर के अनुसार समाजशास्त्र वह विज्ञान है जो सामाजिक क्रिया का व्याख्यात्मक बोध कराने का प्रयास करता है। वेबर के मत में समाजशास्त्र संदर्भ में की गयी क्रिया और पारस्परिक क्रिया को दिए गये व्यक्तिपरक अर्थ पर जोर देता है। वेबर इस तथ्य से इन्कार करता है कि सामाजिक क्रियाओं को प्रत्यक्षवादी दृष्टिकोण से समझा जा सकता है। प्रत्यक्षवाद प्राकृतिक विज्ञानों की पद्धति है जो वास्तविकता को व्यक्ति से बाहर घटित हुआ मानती है। वेबर का बल इस तथ्य पर था कि समाजशास्त्री को किसी क्रिया का अर्थ समझने के लिए कर्ता द्वारा उस क्रिया के संदर्भ में लगाए गये अर्थों को समझना चाहिए। दूसरे शब्दों में वेबर प्रत्यक्षवादियों के विपरीत वास्तविकता को व्यक्ति के भीतर घटित हुआ मानता है इस प्रकार वेबर समाजशास्त्र के लिए विशिष्ट विषय वस्तु और पद्धतियों की रूपरेखा प्रस्तुत करता है।

प्रत्यक्षवादियों द्वारा प्रस्तुत यह विचार कि प्राकृतिक विज्ञान तथा समाजशास्त्र की पद्धति तथा उद्देश्य एक ही हैं का वेबर खंडन करता है। यहाँ एक अन्य समाजशास्त्री दुर्खीम का जो कि प्रत्यक्षवादी पद्धति का समाजशास्त्र में प्रमुख प्रवक्ता है, से वेबर का स्पष्ट अंतर दिखाई देता है। वेबर का मत है कि मानवीय क्रियाओं को वस्तु के रूप में नहीं समझा जा सकता। इसके विपरीत मनुष्यों में एक प्रकार की अंदरुनी अभिप्रेरणा होती है जिसे समझने का समाजशास्त्रियों को प्रयास करना चाहिए । इसी तथ्य को समझने के

लिए वेबर 'फर्स्थेन या समझना' शब्द का प्रयोग करता है। इसे निम्न प्रकार से भली भांति स्पष्ट किया जा सकता है।

वेबर का मत है कि एक प्राकृतिक वैज्ञानिक द्वारा किसी प्राकृतिक तथ्य का परीक्षण बाहर से ही होता है। उदाहरणार्थ किसी भौतिक शास्त्री द्वारा किसी वस्तु का मापन एवं परीक्षण बाहर से ही होता है। लेकिन एक समाजशास्त्री द्वारा किसी समाज को समझने का प्रयास मनुष्य होने के नाते उस समाज के सहभागी सदस्य होने की हैसियत से ही किया जा सकता है। किसी समाजशास्त्री द्वारा किसी मनुष्य की क्रिया को उसके द्वारा लगाये गये अर्थों में ही समझा जा सकता है वेबर के मत में फर्स्थेन वह पद्धति है जिसके द्वारा समाजशास्त्री इन अर्थों तक पहुँच सकता है। इस प्रकार फर्स्थेन की पद्धति के द्वारा समाजशास्त्री को कर्ता की भावनाओं तथा उसकी उसके क्रिया की परिस्थिति के संबंध में समझ को विश्लेषित करना चाहिए। समाजशास्त्रीय विश्लेषण को आसान बनाने के लिए वेबर ने एक महत्वपूर्ण पद्धति विकसित की। यह पद्धति आदर्श प्रारूप के नाम से जानी जाती है।

18.4 आदर्श प्रारूप

वेबर के लिए आदर्श प्रारूप एक ऐसी पद्धति है जो अध्ययन की जाने वाली घटना की मूलभूत विशेषताओं को चित्रित करती है। यह एक प्रकार से किसी सामाजिक वास्तविकता की आदर्श तस्वीर है। उदाहरण के लिए यदि लोकतंत्र का आदर्श प्रारूप तैयार करना है तो हम उसके सर्वाधिक आदर्श लक्षणों को आदर्श प्रारूप में रखेंगे। इसमें दलीय व्यवस्था, संप्रभु संविधान, वयस्क मताधिकार, कानून के समक्ष समानता, स्वतंत्र न्यायपालिका, स्वतंत्र प्रेस इत्यादि शामिल होंगे। इस आदर्श प्रारूप को समाजशास्त्री मापदंड बनाकर समाज की वास्तविकताओं की तुलना कर सकते हैं। वेबर ने प्रोटेस्टेंट नैतिकता व पूंजीवादी प्रकृति के आदर्श प्रारूपों का प्रयोग कर इन दोनों के बीच संबंध को स्पष्ट किया है। वेबर ने 'मता' के आदर्श प्रारूपों तथा 'सामाजिक क्रिया' के आदर्श प्रारूपों का भी निर्माण किया है।

18.5 कार्य कारण संबंध

वेबर की पद्धति का यह एक महत्वपूर्ण हिस्सा है। वेबर सामाजिक क्रिया का व्याख्यात्मक बोध (फर्स्थेन) कर तथा उसके अध्ययन के लिए आदर्श प्रारूप को निर्मित करने पर बल देता है। इसके साथ ही वेबर अपने अध्ययन के लिए कारणवादी व्याख्या पर भी बल देता है। वेबर का मत है कि समाज की जटिलता के कारण किसी एक तथ्य की व्याख्या करने के लिए कोई एक अथवा संपूर्ण कारण दे सकना संभव नहीं है। अत: वेबर का मत है कि किसी एक घटना की व्याख्या एक कारणवादी आधार पर नहीं करनी चाहिए। यहां वेबर की मार्क्स से स्पष्ट टकराहट दिखाई देती है। वैसे यह कहा भी जाता है कि वेबर अपने जीवन काल में जिंदगी भर मार्क्स के भूत के साथ गंभीर वैचारिक संघर्ष में उलझे रहे (गिडेन्स, 1992)

18.6 कार्य कारण विश्लेषण का वेबर के विचारों में प्रयोग

18.6.1 धर्म व सामाजिक परिवर्तन

इसे मार्क्स के साथ तुलना करते हुए विश्लेषित करना आसान है। मार्क्स के अनुसार सामाजिक परिवर्तन केवल और केवल आर्थिक दशाओं से संबंधित है। मार्क्स के मत में समाज की वैचारिक संरचना में परिवर्तन उसकी आर्थिक दशाओं में परिवर्तन पर निर्भर है। वेबर सामाजिक घटनाओं के विश्लेषण के

लिए बहुकारकवादी व्याख्या पर बल देते हैं। उदाहरण के लिए वेबर ने यह दर्शाया कि कैसे तर्क संगतिकरण की प्रक्रिया के रूप में घटित प्रोटेस्टेंट नैतिकता के विचारों ने पूंजीवाद के उद्‌भव को संभव बनाया। लेकिन वेबर का यह भी कहना नहीं है कि मात्र धार्मिक मूल्य ही आधुनिक पूंजीवाद के विकास का कारक है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि मार्क्स के मत में धर्म समाज की वैचारिक संरचना का अंग है जो आर्थिक दशाओं पर निर्भर है। इसके साथ ही मार्क्स का यह भी मत था कि धर्म सामाजिक परिवर्तन के रास्ते में अफीम के रूप में रोड़ा बन जाता है।

18.6.2 वेबर का स्तरीकरण संबंधी दृष्टिकोण

वेबर का यह मत था कि समाज का विभाजन किसी एक आधार पर स्पष्ट नहीं किया जा सकता। वेबर की इस अवधारणा को भी मार्क्स के संबंध में बखूबी स्पष्ट किया जा सकता है। मार्क्स का मत है कि समाज दो प्रभावी मुख्य वर्गों उत्पादन के साधनों के मालिक तथा उस पर कार्य करने वाले मजदूरों के रूप में बँटा हुआ है। दूसरे शब्दों में मार्क्स के लिए समाज का बंटवारा आर्थिक आधार पर है तथा यही अंतिम वास्तविकता है। लेकिन यदि हम वेबर के बहुकारणवादी विश्लेषण की समीक्षा करें तो हम यह पाते हैं वेबर के स्तरीकरण का मॉडल अधिक विस्तृत तथा बहुआयामी है। वेबर ने समाज में वर्गों के विभाजन की चर्चा की तथा इसे आर्थिक आधार पर स्पष्ट किया। उनके मत में किसी व्यक्ति की वर्ग स्थिति वस्तुत: उसकी बाजार स्थिति है जिनके पास एक जैसी बाजार स्थिति होती है उनके पास एक जैसे जीवन अवसर होते हैं इस प्रकार वेबर ने वर्गों की परिभाषा करते हुए उन्हें चार भागों में विभाजित किया। ये हैं —

1. संपत्ति युक्त उच्च वर्ग
2. संपत्ति विहीन श्वेत वसन कामगार वर्ग
3. पेटी बुर्जुआ
4. हाथ से कार्य करने वाले मजदूर वर्ग

लेकिन वेबर के लिए समाज का स्तरीकरण केवल आर्थिक आधार पर ही स्पष्ट नहीं किया जा सकता। वेबर के मत में समाज में प्रस्थिति समूह भी होते हैं । प्रस्थिति समूह ऐसे लोगों से मिलकर बना होता है जिनके पास एक जैसी सामाजिक सम्मान की मात्रा होती है। इस प्रकार समाज विभिन्न प्रस्थिति समूहों के आधार पर भी बंटा होता है। वेबर के लिए जहां वर्ग आर्थिक पुरस्कारों के असमान वितरण से संबंधित है वहीं प्रस्थिति समूह सामाजिक सम्मान के असमान वितरण से संबंधित हैं।

वेबर ने वर्ग तथा प्रस्थिति समूह के अलावा दल (Party) को भी सामाजिक स्तरीकरण का निर्धारक माना है। वेबर ने बताया है कि चूंकि दलों का संबंध शक्ति या सत्ता से है इसलिए इसके आधार पर भी समाज में स्तरण होता है । समाज में सभी लोग समान रूप से शक्तिशाली नहीं होते । दलों के माध्यम से समाज में शक्ति का उपयोग होता है। उसी के आधार पर व्यक्ति की समाज में राजनैतिक पकड़ या नियंत्रण होता है। अत: हम यह कह सकते हैं कि दल या सत्ता के आधार पर भी समाज में विभाजन होता है। वेबर के लिए समाज में विभाजन केवल आर्थिक आधार पर ही नहीं होता। वर्ग, प्रस्थिति तथा दल मिलकर स्तरीकरण को निर्धारित करते हैं । हालांकि वेबर का यह भी मत है कि इनमें से एक या दो भी मिलकर समाज में स्तरीकरण कर सकते हैं।

18.7 समाजशास्त्र में मूल्य

समाजशास्त्री दुर्खीम ने अपने सामाजिक तथ्यों के अवलोकन के नियमों को विकसित करते हुए वस्तुनिष्ठ अध्ययन पर जोर दिया। दुर्खीम का मत था कि समाजशास्त्री को अध्ययन करते वक्त अपने समस्त

मूल्यों को हटा देना चाहिए तथा पूर्वाग्रह रहित होकर अध्ययन करना चाहिए। लेकिन समाजशास्त्रियों में इस तथ्य को लेकर विवाद है कि क्या समाजशास्त्र प्राकृतिक विज्ञानों की भाँति मूल्य विमुक्त तथा वस्तुनिष्ठ विज्ञान हो सकता है? वेबर के अनुसार किसी शोध कर्ता के लिए अध्ययन के विषय के चुनाव में मूल्यों की महत्वपूर्ण भूमिका होती है! कोई शोध कर्ता अपने मूल्यों से प्रेरित होकर ही किसी विषय का चुनाव करता है। उदाहरण के लिए यदि कोई समाजशास्त्री जाति व्यवस्था का अध्ययन करता है तो इस चुनाव के पीछे उसके मूल्यों की भूमिका होती है। इस प्रकार वेबर प्रत्यक्षवादियों के विचारों के खिलाफ खड़ा दिखाई देता है।

लेकिन वेबर ने मूल्य उन्मुखता (Value orientation) तथा मूल्य निर्णय के बीच स्पष्ट अंतर किया है। वेबर के मत में कोई शोध कर्ता किसी विषय के अध्ययन के लिए किन्हीं मूल्य उन्मुखताओं द्वारा अभिप्रेरित होता है। इसे स्वयं वेबर के संदर्भ में भी समझा जा सकता है। इस खंड की शुरुआत में वेबर के जीवन परिचय में आपने पढ़ा होगा कि वेबर पर अपनी मां तथा चाची इडा के प्रोटेस्टेंट नैतिकता के विचारों का गहरा प्रभाव पड़ा था। वेबर द्वारा प्रोटेस्टेंट नैतिकता तथा अर्थव्यवस्था के मध्य संबंधों पर आधारित अध्ययन वेबर की मूल्य उन्मुखता की अवधारणा का बखूबी प्रमाण देते हैं। लेकिन वेबर का यह भी मत था कि शोध कर्ता को उस विषय पर किसी प्रकार का नैतिक निर्णय नहीं देना चाहिए। उसे विषय के संबंध में तटस्थता बरतनी चाहिए। उसका काम तथ्यों का अध्ययन करना है न कि यह निर्णय देना कि वह अच्छा या बुरा है।

18.8 सारांश

इस खंड में हमने आपको वेबर के पद्धतिशास्त्र के संबंध में बताया है कि इसे दुर्खीम तथा मार्क्स के साथ तुलनात्मक परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत किया गया है। इस खण्ड के अध्ययन के पश्चात आपको आगे की इकाइयों को समझने के लिए एक व्यापक पृष्ठभूमि प्राप्त होगी। इस खंड में आपने यह भी जाना कि वेबर समाज में विद्यमान स्तरीकरण के संबंध में क्या दृष्टि रखता है। इसके साथ ही आपको संक्षिप्त रूप से यह भी जानकारी मिली कि कैसे वेबर प्रत्यक्षवादियों से अलग हैं। आपने यह भी जाना कि वेबर आधुनिक पूजीवाद के उद्‌भव के संदर्भ में क्या विचार रखता है।

18.9 बोध प्रश्न

(अ) निम्न प्रश्नों के उत्तर सही अथवा गलत के आधार पर दें —

प्र. 1 वेबर का मत है कि समाज में स्तरण को केवल आर्थिक आधार पर ही स्पष्ट किया जा सकता है। सही / गलत

प्र. 2 वेबर का मत है कि समाजशास्त्री को किसी विषय के अध्ययन के पश्चात नैतिक निर्णय देना चाहिए सही/ गलत

18.10 बोध प्रश्नों के उत्तर

उत्तर प्र. 1 गलत प्र. 2 गलत

(ब) वेबर का यह क्यों मानना था कि सामाजिक क्रियाओं में अध्ययन के लिए प्रत्यक्षवादी पद्यति

का उपयोग करना एक महान भूल ह। वबर इस समस्या को कैसे सुलझाता है?

(कृपया 200 शब्दों में उत्तर दें)

18.11 कुछ उपयोगी पुस्तकें

ऐरों, रेमण्ड (1970) मेन करेंट्स इन सोशियोलाजिकल थॉट भाग – 2 पेगुइन : लंदन

कोजर, लुविस (1996) मास्टर्स आफ सोशियोलाजिकल थॉट : आइडियाज इन हिस्टारिकल एण्ड सोशल कांटक्ट्स" रावत प्रकाशन जयपुर

गिडेन्स, ऐन्थोनी (1992) : 'कैपिटलिज्म एण्ड मार्डन सोशल थियरी : एन एनालिसिस आफ द राइटिंग्स आफ मार्क्स, दुर्खीम एण्ड मैक्स वेबर" कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस, कैम्ब्रिज।

इकाई 19 वेबर के आदर्श प्रारूप की व्याख्या

इकाई की रूपरेखा

19.0 उद्देश्य

19.1 प्रस्तावना

19.2 आदर्श प्रारूप : व्याख्या और विशेषताएं

19.2.1 व्याख्या

19.2.2 विशेषताएं

19.3 वेबर के आदर्श प्रारूपों के प्रकार

19.3.1 विशिष्ट ऐतिहासिक तत्वों के आदर्श प्रारूप

19.3.2 सामाजिक यथार्थ के अमूर्त तत्व

19.3.3 किसी विशिष्ट व्यवहार की पुनर्रचना

19.4 सारांश

19.5 कुछ उपयोगी पुस्तकें

19.6 बोध प्रश्न

19.7 बोध प्रश्नों के उत्तर

19.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरांत आप :

- बेबर के आदर्श प्रारूप का अर्थ तथा उसकी विशेषताएं का विश्लेषण कर सकेंगे।
- मैक्स वेबर ने अपने अध्ययनों में इसका कैसे प्रयोग किया इसका उल्लेख कर सकेंगे।

19.1 प्रस्तावना

मैक्स वेबर ने अपने अध्ययनों के लिए एक सैद्धान्तिक उपकरण आदर्श प्रारूप का निर्माण किया है। प्रस्तुत इकाई में वेबर के आदर्श प्रारूप की व्याख्या प्रस्तुत की गयी है। इस इकाई में आदर्श प्रारूपों का अर्थ, उनकी विशेषताएं तथा उनके वेबर द्वारा अपने अध्ययनों में प्रयोग पर चर्चा प्रस्तुत की गयी है। इस इकाई में वेबर के सामाजिक क्रिया के प्रारूपों पर विस्तार से प्रकाश डाला गया है। स्थान-स्थान पर उपयुक्त उदाहरणों का भी समावेश किया गया है जिससे पाठ्यक्रम सुगम व बोधगम्य हो सके।

19.2 आदर्श प्रारूप : व्याख्या और विशेषताएं

19.2.1 व्याख्या

आइडियल टाइप या आदर्श प्रारूप दो शब्दों का संयुक्त रूप है । जिसका अर्थ यह है कि यह एक ऐसा प्रारूप है जिसमें सोच विचार कर लक्षणों को रखा गया है। इसका यथार्थ जीवन से कुछ सम्बन्ध तो है,

पर वह पूरी तरह यथार्थ में नहीं देखी जाती। इस अर्थ में आदर्श प्रारूप एक ऐसी अवधारणा है जिसका निर्माण यथार्थ के उन तत्वों को सावधानीपूर्वक एवं विश्लेषणात्मक तरीके से चयन करके एकत्रित किया गया है जो उस घटना विशेष के अध्ययन में सहायक हो सकें। आदर्श प्रारूप सामान्य या औसत टाइप नही है, न समस्त लक्षणों का संकुल;.बल्कि वह विशेष व आवश्यक लक्षणों का संकुल है। उदाहरण के लिये यदि हम लोकतंत्र का आदर्श प्रारूप बनायें तो हमें इसके विशेष व आवश्यक लक्षणों को सावधानी पूर्वक और विश्लेषणात्मक तरीके से चयनित करना होगा। इस आधार पर हम निम्न लक्षणों को लोकतन्त्र के आदर्श प्रारूप में रख सकते हैं-

1. संविधान
2. वयस्क मताधिकार आधारित लोकतंत्र
3. राजनैतिक दल व्यवस्था
4. स्वतंत्र न्यायपालिका
5. स्वतंत्र विधायिका
6. स्वतंत्र कार्यपालिका एवं
7. स्वतंत्र प्रेस

वेबर के अनुसार यह तथ्य उल्लेखनीय है हालांकि आइडियल टाईप का निर्माण उन तथ्यों से होता है जो यथार्थ में पाये जाते हैं, ये पूर्ण यथार्थता का न तो प्रतिनिधित्व करते हैं और न ही इसकी व्याख्या करते हैं यह तार्किक दृष्टि से 'विशुद्ध टाईप' है। वेबर के अनुसार अपनी सैद्धान्तिक विशुद्धता में यह बौद्धिक निर्माण किसी वास्तविक इकाई में कहीं नहीं पाया जाता। आइडियल टाईप का केवल निर्माण ही नहीं होता इन्हें परिस्थितियों के अनुसार बनाया, संवारा और निखारा भी जाता है, ताकि अध्ययन निश्चित हो सके। इसलिये हम कह सकते हैं कि आइडियल टाईप वह सैद्धान्तिक उपकरण है जो विषय को सरल बनाने, समझाने व विश्लेषण करने में हमारी सहायता करता है और स्पष्टता को हटाकर हमारे अध्ययन को अधिक व्यवस्थित बनाता है।

19.2.2 विशेषताएं

आदर्श प्रारूप की कुछ प्रमुख विशेषताएं इस प्रकार हैं:

1. आइडियल टाईप औसत व सामान्य अवधारणा नही है। अर्थात इनको परिभाषित उन विशेषताओं के आधार पर नहीं किया जाता जो औसत या सामान्य रूप में पायी जाती हैं बल्कि उनके आधार पर जिन्हें अध्ययन विशेष के लिए आवश्यक समझा जाता हो।
2. यह आदर्शात्मक दृष्टि से आइडियल नहीं है न ही इसका प्रयोग अच्छे अथवा बुरे के अर्थ में किया गया है। यह एक प्रकार की "टाईप" या विशिष्ट श्रेणी है जिसका प्रयोग किसी भी घटना को समझने से है चाहे वह वेश्यावृत्ति से सम्बन्धित हो या धार्मिक कृत्यों से।
3. आइडियल टाईप न तो पूर्ण वास्तविकता का प्रतिनिधित्व करती है और न ही सब कुछ की व्याख्या करती है। यह सम्पूर्णता के किसी एक भाग की समझ है।
4. यह सच्चाई की न तो व्याख्या करती है और न ही वेबर के अनुसार यह उपकल्पना है, किन्तु घटना के विश्लेषण व उसे समझने दोनों में सहायता करती है। यहाँ यह स्पष्ट करना

आवश्यक है कि ''व्याख्यात्मक'' व ''विश्लेषणात्मक'' अवधारणाओं में अंतर है और आइडियल टाईप दूसरे प्रकार की अवधारणा है। जैसे वेबर का अनुसरण करते हुए हम विभिन्न मतों को लें और उनका महत्व आर्थिक उत्थान में देखें तो हमें मतों की अवधारणा का पुनर्निर्माण करना पड़ेगा (उन विशेषताओं को ध्यान में रखते हुए जिन्होंने आर्थिक उत्थान में विशेष सहयोग दिया हो) इस प्रकार 'मत' की अवधारणा बन गयी। इसी तरह यदि हमें किसी घटना की व्याख्या के बजाय विश्लेषण करना हो तो हम व्याख्यात्मक अवधारणाओं का आईडियल टाईप के अनुरूप में पुनर्निर्माण कर सकते हैं।

5. इस प्रकार आइडियल टाईप का प्रयोग कार्य कारण व्याख्या के लिये भी हो सकता है लेकिन जो पहले कहा जा चुका है निर्धारित अर्थ में नहीं।

6. आइडियल टाईप सामान्यीकरण व तुलनात्मक अध्ययन दोनों ही में सहायक है जैसे कि वेबर के अध्ययनों से स्पष्ट है।

7. आइडियल टाईप प्रयोग सिद्ध शोध को निर्देशित करने का कार्य करता है और ऐतिहासिक व सामाजिक वास्तविकता को व्यवस्थित ढंग से अध्ययन करने में मदद करता है।

8. आइडियल टाईप का उददेश्य अस्पष्टता व अनिश्चितता को दूर करके अध्ययन को अधिक से अधिक प्रामाणिक बनाना है।

19.3 वेबर के आदर्श प्रारूपों के प्रकार

वेबर ने तीन विशिष्ट रूपों में आदर्श प्रारूपों का प्रयोग किया। ये तीन रूप अमूर्तीकरण के तीन स्तरों के आधार पर विभाजित किये गये हैं। पहले प्रकार के आदर्श प्रारूपों का आधार ऐतिहासिक विशिष्टताओं में होता है, जैसे पश्चिमी नगर, प्रोटेस्टेंट नैतिकता आदि। वास्तव में ये आदर्श प्रारूप विशिष्ट ऐतिहासिक कालों और विशेष सांस्कृतिक क्षेत्रों में निर्दिष्ट होते हैं। दूसरी तरह के आदर्श प्रारूप सामाजिक यथार्थ के अमूर्त तत्वों पर आधारित हैं। उदाहरण के लिए नौकरशाही, सामाजिक क्रिया की अवधारणाएं। सामाजिक यथार्थ के ये तत्व विभिन्न ऐतिहासिक और सांस्कृतिक संदर्भों में पाये जाते हैं। तीसरे प्रकार के आदर्श प्रारूप व्यवहार विशेष की पुनर्रचना से जुड़े हैं। (कोजर 1996) इन तीनों प्रकारों का अलग- अलग विवेचन प्रस्तुत किया गया है।

19.3.1 विशिष्ट ऐतिहासिक तत्वों के आदर्श प्रारूप

वेबर के सिद्धान्तों में तर्क संगतिकरण को वही स्थान प्राप्त है जो दुर्खीम के विचारों में एकता तथा मार्क्स के विचारों में द्वन्द्व को प्राप्त है। वेबर ने सम्पूर्ण ऐतिहासिक तत्वों में से खास विशेषताओं को लेकर पूंजीवाद का आदर्श प्रारूप बनाया। वेबर ने इस प्रारूप की तुलना ईसाइयत के सुधारवादी मतों प्रोटेस्टैंण्ट तथा काल्विन इत्यादि के विचारों से करायी,तत्पश्चात वेबर ने यह स्पष्ट किया कि केवल इन सुधारवादी मतों में ही ऐसी धारणायें सम्मिलित थीं जिनकी वजह से पूंजीवाद का उद्‌भव संभव हो पाया। वेबर के अनुसार तर्क संगतिकरण की प्रक्रिया के विकास के रूप में घटित पूंजीवादी व्यवस्था ईसाई धर्म के इन तर्क संगत सुधारवादी मतों के प्रभाव के कारण अस्तित्व में आ पायी। इन मतों में धार्मिक व आर्थिक गतिविधियों का ऐसा दुर्लभ संयोग है जो न तो कैथोलिक धर्म में है न ही हिन्दू, इस्लाम, कन्फ्यूशियस, यहूदी और बौद्ध धर्मों में पाया जाता है। वेबर ने इन सभी का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया। (विस्तृत अध्ययन के लिये इकाई 20 पढ़िये)।

19.3.2 सामाजिक यथार्थ के अमूर्त तत्व

सामाजिक यथार्थ के ये तत्व अनेक ऐतिहासिक और सांस्कृतिक संदर्भों में पाये जाते हैं । नौकरशाही सत्ता के प्रकार और क्रिया के प्रकार इन अमूर्त तत्वों के प्रमुख उदाहरण हैं। आइये , अब हम इन तीनों उदाहरणों पर विचार करें।

1. **नौकरशाही**— नौकरशाही शब्द का सामान्य अर्थ ऐसे विभागीय और प्रशासनिक अधिकारियों से है जो कड़ी कार्य प्रणाली का पालन करते हैं । मैक्स वेबर ने औद्योगिक समाज में किसी संगठन के लक्ष्यों की विवेकपूर्ण तरीके से प्राप्ति के लिये नौकरशाही को अपरिहार्य माना (मिरोल 1968)

वेबर के अनुसार नौकरशाही संगठनात्मक लक्ष्यों की प्राप्ति के तर्कसंगत अथवा कुशल प्रयासों के लिये सर्वोत्तम प्रशासनिक स्वरूप है। वेबर द्वारा निर्धारित नौकरशाही के आदर्श प्रारूप में अनेक तत्व शामिल हैं। जैसे — क) उच्च श्रेणी का विशिष्टीकरण और स्पष्ट रूप से निर्धारित श्रमविभाजन जिसमें क) सरकारी कार्य के रूप में काम को बाट दिया जाता है ख) सत्ता का पद क्रमानुसार ढाँचा, जिसमें निर्देश और दायित्व के क्षेत्रों का स्पष्ट निर्धारण हो, ग) नियमों की औपचारिक संस्था, जिसमें संगठन का कामकाज चलाया जाए तथा प्रशासन लिखित प्रलेखों पर आधारित हो। घ) संगठन के सदस्यों के परस्पर तथा इसकी सेवाएं लेने वालों के साथ निर्वैयक्तिक संबंध हों च) अधिकारियों की नियुक्ति योग्यता और तकनीकी ज्ञान के आधार पर हो छ) दीर्घ अवधि की नौकरी हो तथा वरिष्ठता और योग्यता के आधार पर पदोन्नति हो, ज) निश्चित वेतन और निजी तथा सरकारी आय के बीच स्पष्ट विभेद हो (विस्तृत अध्ययन के लिये इकाई 21 पढ़िये) ।

2) **सत्ता के प्रकार**— सत्ता के विभिन्न पक्षों को समझने के लिए वेबर ने तीन प्रकार की सत्ता के अनुरूप ही इसके आदर्श प्रारूप बनाए हैं — पारंपरिक , तर्क विधिक और करिश्माई अथवा चमत्कारिक ।

पारंपरिक सत्ता प्राचीन रीति रिवाजों और नियमों की पवित्रता में विश्वास पर आधारित है। तर्क पर आधारित सत्ता कानूनों, आदर्शों और प्रावधानों पर आधारित है। करिश्माई सत्ता का आधार नेता के व्यक्तित्व में निहित है या अनुयायियों द्वारा मान लिये गये असाधारण अथवा चमत्कारी गुण हैं। ऐसे व्यक्ति में लोगों को विश्वास होता है तथा वह उनकी श्रद्धा का पात्र बन जाता है। अवधारणाओं के इन आदर्श प्रारूपों का उपयोग वास्तविक राजनीतिक व्यवस्थाओं को समझने में किया जाता है इनमें से ज्यादातर व्यवस्थाओं में प्रत्येक प्रारूप के अंश होते हैं (विस्तृत अध्ययन के लिये इकाई 21 चढ़िये)

(3) **सामाजिक क्रिया**— अर्थ तथा प्रकार— वेबर की सामाजिक क्रिया की अवधारणा को यहां विस्तार से प्रस्तुत किया गया है। वेबर ने समाजशास्त्र में प्रयुक्त वस्तुपरक अध्ययनों के विपरीत समाजशास्त्र की दशा व दिशा को एक भिन्न परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत किया । वेबर के मत में समाजशास्त्र वह विज्ञान है जो सामाजिक क्रियाओं का व्याख्यात्मक बोध कराने का प्रयास करता है जिससे उनके कारण व प्रभावों की कार्य कारण सम्बन्धों के आधार पर व्याख्या की जा सके। यहां वेबर द्वारा प्रयुक्त व्याख्यात्मक बोध अथवा फर्स्थेन की धारणा जर्मन दार्शनिकों डिल्थे इत्यादि से प्रभावित है। वेबर की फर्स्थेन की धारणा प्रत्यक्षवादी अध्ययनों के विपरीत है। (विस्तृत जानकारी के लिये इसी खण्ड की इकाई 8 के 18.3 भाग को पढ़ें) ।

वेबर ने सामाजिक क्रिया को परिभाषित करते हुए कहा कि सामाजिक क्रियायें वे क्रियायें हैं जिनके प्रति कोई अर्थ प्रयुक्त किया जाये और जब यह अर्थ प्रयुक्त किया जाता है तो वह व्यक्ति के भूत भविष्य

अथवा वर्तमान से जुड़ी होती है। समाजशास्त्र में सर्वप्रथम मैक्स वेबर ने व्यापक रूप से सामाजिक क्रिया की अवधारणा का प्रयोग किया और इस बात पर जोर दिया कि सामाजिक क्रिया समाजशास्त्रीय सिद्धान्त का आधार है (मिशेल, 1968)। वेबर के सामाजिक क्रिया की कुछ प्रमुख विशेषताएं इस प्रकार हैं:

(1) इसमें सभी प्रकार का मानवीय व्यवहार शामिल है,

(2) यह इस व्यवहार को व्यक्तिपरक अर्थ देती है।

(3) इसमें कार्य कर रहे व्यक्ति अथवा समूह परस्पर व्यवहार को ध्यान में रखते हैं।

(4) इसकी दिशा निश्चित होती है।

क्रिया में मानव के वे सभी व्यवहार आते हैं जिन्हें कर्ता अपने लिये अर्थ पूर्ण मानता है। क्रिया सामने दिखायी भी दे सकती है तथा परोक्ष रूप से एकदम विचारों की भी दुनिया में रह सकती है। इसके तीन प्रकार के स्वरूप हो सकते हैं—

1. किसी स्थिति में दखल देना
2. किसी स्थिति से अपने को अलग करना
3. स्थिति को मौन स्वीकृति प्रदान करना।

क्रिया तभी तक सामाजिक होती है जब तक या जहां तक कोई व्यक्ति उसे अर्थ प्रदान करते हुए अन्य व्यक्तियों के व्यवहार को ध्यान में रखते हुए उसे दिशा प्रदान करता है। सामाजिक क्रिया में असहयोग व मौन स्वीकृति शामिल है। यह सभी अन्य व्यक्तियों के भूत, वर्तमान या भावी व्यवहार को ध्यान में रखकर किये जा सकते हैं वेबर ने किसी भी क्रिया को सामाजिक क्रिया मानने से पूर्व निम्न तथ्यों का ध्यान रखने की बात कही है:

(1) सामाजिक क्रिया दूसरे व्यक्तियों के भूत वर्तमान अथवा भावी व्यवहार द्वारा प्रभावित हो सकती है। उदाहरण के लिये यदि कोई व्यक्ति किसीं दूसरे व्यक्ति से अतीत में हुए किसी झगड़े का बदला लेता है तो यह सामाजिक क्रिया है।

(2) प्रत्येक प्रकार की क्रिया, सामाजिक क्रिया नहीं कही जाती। जड़ पदार्थों से प्रभवित क्रिया को सामाजिक क्रिया नहीं माना जा सकता, उदाहरण के लिये बिजली कड़कने पर डर जाना, सामाजिक क्रिया का उदाहरण नहीं है। अकेले बैठकर भगवान का भजन करना भी सामाजिक क्रिया नहीं है लेकिन यदि किसी पुरोहित द्वारा यजमान के प्रति धार्मिक क्रियायें सम्पन्न की जाती हैं तो यह सामाजिक क्रिया है।

(3) मनुष्य का प्रत्येक प्रकार का संपर्क भी सामाजिक क्रिया नहीं होती। उदाहरण के लिये यदि सड़क पर दो साइकिल सवार टकरा जाते हैं व बिना एक दूसरे को कुछ कहे चले जाते हैं तो यह सामाजिक क्रिया नहीं है। इसके स्थान पर यदि टकराने के बाद दोनों में इसको लेकर कोई बातचीत होती है तो इसे सामाजिक क्रिया कहा जायेगा।

(4) कई व्यक्तियों का व्यवहार अथवा अन्य व्यक्तियों द्वारा प्रभावित व्यवहार सामाजिक क्रिया नहीं मानी जा सकती। उदाहरणार्थ बरसात में बौछार से बचने के लिये कई लोग यदि एक साथ छाता खोल लें तो यह एक का दूसरे पर प्रभाव नहीं है बल्कि सभी समान तरीके से एक ही विपत्ति से बचने के प्रयास को दर्शाते हैं।

इसी तरह दूसरे के व्यवहार को मात्र नकल करना सामाजिक क्रिया नहीं कही जाती। लेकिन यदि किसी दूसरे के व्यवहार का अनुकरण इसलिये किया गया है कि वह फैशन बन गया है या परम्परा के अनुकूल है तो यह सभी तत्व क्रिया को अर्थ पूर्ण बना देते हैं और तब उसे सामाजिक क्रिया मान लिया जायेगा।

वेबर के आदर्श प्रारूप की व्याख्या

सामाजिक क्रिया के प्रकार — वेबर ने सामाजिक क्रिया के चार आदर्श प्रारूपों की चर्चा की है । वास्तविकता में इन चारों प्रकार की सामाजिक क्रिया का मिलाजुला रूप ही पाया जाता है, लेकिन विश्लेषण व समझने के लिये वेबर इन्हें आदर्श प्रारूपों में विभाजित कर लेता है।

(1) **लक्ष्यों के संदर्भ में सामाजिक क्रिया अर्थात ज्वेकरैशनल क्रिया** — वे क्रियायें जो किसी लक्ष्य को ध्यान में रखकर की जाती हैं वे लक्ष्योन्मुख सामाजिक क्रिया का उदाहरण मानी जाती हैं। उदाहरण के लिये किसी इंजीनियर द्वारा पुल का निर्माण करना।

(2) **मूल्यों के संदर्भ में सामाजिक क्रिया अथवा वर्टरैशनल क्रिया :** जो क्रियायें किसी मूल्य के प्रति तार्किक दृष्टिकोण के आधार पर की जाती हैं वे मूल्योंन्मुख सामाजिक कियायें कहलाती हैं। उदाहरण के लिये कर्तव्य, सम्मान या किसी उद्देश्य के प्रति निष्ठा के चरम आदर्श के लिये की गयी क्रिया ।

(3) **पारम्परिक क्रिया —** ये क्रियायें ऐसी क्रियायें हैं जो लम्बे समय से स्थापित आदतों व रीति रिवाजों के अनुरूप की जाती हैं । जैसे — कक्षा में अध्यापक के प्रवेश करने पर छात्रों द्वारा उठकर खड़ा हो जाना।

(4) **भावनात्मक क्रिया —** अर्थात वे क्रियायें जो भावनाओं के आधार पर की जाती हैं जैसे किसी से झगड़ा होने पर रोना या नाराज होना।

जैसा कि शुरू में स्पष्ट किया जा चुका है कि वास्तविकता में क्रियाओं के ये आदर्श प्रारूप आपस में मिले हुए भी हो सकते हैं। उदाहरणार्थ किसी सैनिक द्वारा देश की रक्षा के लिये जान देना मूल्योन्मुख सामाजिक क्रिया का उदाहरण है और परम्परागत सामाजिक क्रिया का भी। इसमें भावनायें भी जुड़ी हो सकती हैं । पितृसत्तात्मक परिवारों में शादी के उपरांत लड़की को अपने पति के घर जाना पड़ता है यह परम्परागत सामाजिक क्रिया का उदाहरण है तथा उस समय लड़की व उसके मायके वालों का रोना भावनात्मक सामाजिक क्रिया का उदाहरण है। वेबर के लिये तर्क संगत की अवधारणा महत्वपूर्ण है। यदि वेबर के सामाजिक क्रियाओं के प्रारूपों को तर्क संगत की कसौटी पर रखा जाये तो हम पाते हैं कि केवल ज्वेकरैशनल व वर्टरैशनल क्रियायें ही तर्कसंगत मानी जा सकती हैं शेष दोनों नहीं।

वेबर के अनुसार प्रत्येक सामाजिक क्रिया का कोई न कोई अर्थ व उद्देश्य अवश्य होता है जो दूसरे व्यक्तियों के व्यवहारों से प्रभावित होता है। समाजशास्त्र सामाजिक क्रियाओं का अध्ययन इस रूप में करता है कि एक की क्रियायें दूसरे की क्रियाओं से किस प्रकार प्रभावित होती हैं । वेबर की यह मान्यता है कि यदि किसी घटना के प्रति प्रयुक्त अर्थ को समझे बगैर प्राकृतिक विज्ञानों की भांति उसकी कार्य कारण के आधार पर व्याख्या की जाये तो यह अपूर्ण ही रहेगा। वेबर अर्थपूर्ण सामाजिक क्रिया के अध्ययन को सर्वाधिक महत्व देते हैं और यहीं वेबर का समाजशास्त्र प्रत्यक्षवादी समाजशास्त्र से अलग हो जाता है।

सामाजिक क्रियाओं से सामाजिक सम्बन्धों की स्थापना होती है। वेबर ने छह प्रकार के सामाजिक सम्बन्धों की पहचान की और उनको सामाजिक क्रिया की उन्मुखता के साधन के रूप में देखा। ये छह प्रकार लारसन (1973) द्वारा संक्षिप्त रूप में निम्न प्रकार से परिभाषित किये गये हैं-

(1) रीतियां जो किसी शैली या प्रतिमान के अनुरूप व्यवहार के रूप में परिभाषित की गयी हैं । उदाहरण के लिये सामाजिक शिष्टाचार ।

(2) प्रथायें जो आदतन व्यवहारों के रूप में स्पष्ट की गयी हैं।

(3) तार्किक उन्मुखताएं -जब मानव व्यवहार की समानताएं , कर्ता द्वारा परिस्थिति का प्रयोग निजी हितपूर्ति करने से निर्धारित हों, वे कर्ताओं के विशुद्ध तर्कयुक्त व्यवहार दिशा निर्देशन पर आधारित होंगी।

(4) फैशन, जिन्हें उन सामाजिक क्रियाओं के रूप में परिभाषित किया जाता है जो समकालीन नवी चलन के अनुकरण के परिणाम के रूप में हैं जैसे नवीन वस्त्रों अथवा साज सज्जा का प्रयोग।

(5) परिपाटी - जब व्यवहार चिर परिचित ढंग से किया जाये ।

(6) कानून - जो उन सामाजिक क्रियाओं के रूप में परिभाषित हैं जो संहिताबद्ध अपेक्षाओं के अनुरूप हों।

मूल्यांकन - वेबर ने समाजविज्ञान का प्रारम्भिक बिन्दु सामाजिक क्रिया को माना है । वेबर ने अपनी परिभाषा में ही क्रिया का मानसिक पक्ष निर्धारित कर इसे मानव के बाहर के तथ्य के विकल्प के रूप प्रस्तुत किया। इस आधार पर वेबर व दुर्खीम के प्रारम्भिक बिन्दुओं में भिन्नता लगती है — एक के लि क्रिया और उसका कर्ता के लिये अर्थ दूसरी ओर दुर्खेम के लिये सामाजिक तथ्य व्यक्ति के बाहर है औ उस पर बाध्यकारी है।

वेबर के लिये क्रिया में कर्ता की मनोदशा महत्वपूर्ण है। समाजविज्ञान की विधि के रूप में वेबर ने मानसिक अर्थों को ढूढ़ने में साहित्य व इतिहास का सहारा लेकर विचारों के प्रारूप का निर्माण किया यहां यह उल्लेखनीय है कि वेबर ने इतिहास के परे उन क्रियाओं की व्याख्या करना भी उचित समझा जो जन साधारण के दैनिक जीवन की क्रियाएं हैं यथा बाजार , नगर, सत्ता के प्रकार व कृषि की अर्थव्यवस्था। दूसरी ओर मनोविज्ञान से कुछ आगे मन: स्थिति से उत्पन्न आशाओं व आकांक्षाओं के आइडियल टाईप का निर्माण तथा उसके द्वारा मानव के व्यापक व्यवहार, न कि निजी जीवन की ओर ध्यान दिया।

वेबर के पश्चात् क्रिया का समाजशास्त्र

वेबर के लेखों का टालकट पार्सन्स ने विशद अध्ययन करने के साथ-साथ उनका अनुवाद भी अंग्रेजी किया। उन्होंने क्रिया पर वेबर के योगदान को आधार मानकर उसे और व्यापक बनाया।

पार्सन्स ने मनोवैज्ञानिक फ्रॉयड से एगो व ऑल्टर की शब्दावली का उपयोग किया , एगो कर्ता के रूप प्रगट होता है व ऑल्टर वह व्यक्ति है जो प्रभावित होता है (पार्सन्स 1949)। वेबर में ऑल्टर की यह स्थिति नहीं है । उसकी उपस्थिति कर्ता के ही व्यवहार को मोड़ देती है। इस प्रकार मनोविज्ञान की विकसित शब्दावली का उपयोग पार्सन्स में मिलता है पार्सन्स का मुख्य उद्देश्य क्रिया के व्यापक सिद्धा की खोज की ओर बढ़ना था, जिसमें विभिन्न सामाजिक विज्ञानों में हुए योगदान को नींव के पत्थर के रूप में प्रयुक्त किया जा सके। यह कार्य उन्होंने 'टुवर्ड ए जनरल थियरी ऑफ सोशलएक्शन' में किया। उल्लेखनीय है कि वेबर का ध्यान क्रिया से सामाजिक क्रिया की ओर आ चुका था जबकि पार्सन्स समाज संस्कृति व व्यक्तित्व सभी में क्रिया के आधार पर समन्वय बैठाना चाहते थे जिस प्रयास में उन

ोशल सिस्टम उल्लेखनीय है। वेबर का प्रमुख ध्यान समाज विज्ञान की विधि व क्षेत्र के निर्धारण में और प्रामाणिकता व तुलनात्मक दृष्टि को विकसित करने में था जबकि पार्सन्स का मुख्यत: नई शब्दावली द्वारा संश्लेषण की ओर बढ़ने में व उसकी रूप रेखा बनाने में।

ारसंस ने वेबर के चार प्रकारों को 3 प्रकारों में समाहित किया। उन्होंने उद्देश्योन्मुख सामाजिक क्रिया को यांत्रिक सामाजिक क्रिया, मूल्योन्मुख सामाजिक क्रिया तथा परम्परागत सामाजिक क्रिया को नैतिक सामाजिक क्रिया और भावात्मक सामाजिक क्रिया को संवेगात्मक सामाजिक क्रिया इन तीन प्रकारों में वेबर के बटवारे को रखा। पार्सन्स ने सामाजिक क्रियाओं में पांच दुविधाओं का उल्लेख किया है जबकि वेबर ने ऐसी कोई कल्पना नहीं की। दोनों की व्याख्याओं में काफी अन्तर देखने को मिलता है। वेबर के लिये कोई भी व्यवहार या सामाजिक क्रिया उस व्यक्ति विशेष के लिये अर्थपूर्ण होनी चाहिए। लेकिन पार्सन्स के लिये कोई भी क्रिया सामाजिक रूप में तब महत्वपूर्ण होगी, जब वह लक्ष्य निर्धारित हो, जन्मजात आवश्यकताओं से जुड़ी हुई हो तथा उसका सम्बन्ध विशेष दृष्टिकोण तथा विशेष परिस्थितियों से हो। इतना ही नहीं, पार्सन्स के सामाजिक क्रिया सिद्धान्त के तीन महत्वपूर्ण तत्व हैं— ज्ञानात्मक, अनुभवात्मक तथा क्रियात्मक, जिनका वेबर ने कोई उल्लेख नहीं किया है।

19.3.3 किसी विशिष्ट व्यवहार की पुर्नरचना

इस प्रारूप में ऐसे तत्व शामिल हैं जिनके आधार पर किसी व्यवहार विशेष की तार्किक पुनर्रचना होती है। उदाहरण के लिए वेबर के अनुसार आर्थिक सिद्धान्त की सभी मान्यताएं किसी विशेष परिस्थिति में लोगों के संभावित व्यवहार के आदर्श प्रारूपों की संरचनाएं ही हैं जैसे कि जब लोग पूरी तरह आर्थिक आधार पर ही व्यवहार करें। इसमें आवश्यकता व पूर्ति के कानून, वस्तुओं की उपयोगिता की सीमा आदि शामिल हैं। बाजार में वस्तुओं की पूर्ति ही आवश्यकता के अनुसार उनकी कीमत नियंत्रित करती है। इसी तरह उपभोग के लिये वस्तुओं की उपयोगिता अधिक है या कम, इस पर निर्भर होती है कि बाजार में उपभोग के लिये वे कितनी मात्रा में उपलब्ध हैं। आर्थिक सिद्धान्त अपने मूल रूप में आर्थिक व्यवहार के अनुरूप चलते हैं । यह मूल रूप निश्चित तरीके से परिभाषित किया जाता है।

19.4 सारांश

इस इकाई में वेबर के आदर्श प्रारूप की विस्तृत विवेचना प्रस्तुत की गयी है। वेबर का आदर्श प्रारूप एक मानसिक निर्माण है। आदर्श प्रारूप एक ऐसे प्रारूप के निर्माण की ओर संकेत करता है जिसमें अध्ययन किये जाने वाले घटना के समस्त महत्वपूर्ण लक्षणों को शामिल किया गया है। वेबर ने इसे अध्ययन के पद्धतिशास्त्रीय उपकरण के रूप में देखा। इस इकाई में आप वेबर के विचारों से पार्सन्स के विचारों की तुलना को भी समझ पायेंगे। इस इकाई में आप इस तथ्य से भी अवगत कराया गया है कि वेबर कैसे प्रत्यक्षवादी पद्धति से अलग था।

19.5 कुछ उपयोगी पुस्तकें

(1) काल्विन लारसन, (1973) मेजर थीम्स इन सोशियोलॉजिकल थियरी डेविड मैके, न्यूयार्क

(2) पार्सन्स टी (1949) द स्ट्रक्चर आफ सोशल एक्शन, ग्लेनको इलियानिश

(3) अब्राहम एण्ड मार्गन (1985) सोशियोलॉजिकल थॉट मेकमिलन इंडिया लिमिटेड, जयपुर

(4) मिशेल जी डी (1968) ए डिक्शनरी आफ सोशियालाजी, रूटलेज एण्ड केगन पाल, लंदन

(5) गर्थ एच एण्ड मिल्स (1958) फ्राम मैक्स वेबर : एशेज इन सोशियालाजी, रूटलेज एण्ड केगन पाल, लंदन

(6) कोजर, लुविस (1996) मास्टर्स आफ सोशियोलाजिकल थाट : आइडियाज इन हिस्टारिकल एण्ड सोशल कांटेक्स्ट रावत प्रकाशन, जयपुर

(7) बेन्डिक्स, राइन हार्ड (1969) मैक्स वेबर एक बौद्धिक व्यक्तित्व (हिन्दी में अनुदित द्वारा के. एन. शर्मा) हिन्दी समिति, सूचना विभाग, उ0 प्र0

19.6 बोध प्रश्न

प्र. 1 आदर्श प्रारूप की विशेषताएं पूरी तरह यथार्थ में पायी जाती हैं। यह कथन है —

सही अथवा गलत

प्र. 2 वेबर के मत में सत्ता के प्रारूप हैं —

(अ) 3 (ब) 2 (स) 4 (द) इनमें से कोई नहीं

19.7 बोध प्रश्नों के उत्तर

उत्तर प्र. 1 — गलत

प्र. 2 — (अ) - 3

प्र. 3 वेबर के अनुसार वर्णित सामाजिक क्रिया के प्रकारों की चर्चा करें (दो सौ शब्दों में उत्तर दें)।

प्र. 4 पार्सन्स व वेबर के सामाजिक विचारों की तुलना करें।

इकाई 20 धर्म और अर्थ व्यवस्था

इकाई की रूपरेखा

20.0 उद्देश्य

20.1 प्रस्तावना

20.2 धर्म और अर्थव्यवस्था — अर्थ एवं सम्बन्ध

20.2.1 धर्म

20.2.2 अर्थव्यवस्था

20.2.3 धर्म व अर्थव्यवस्था के बीच परस्पर सम्बन्ध

20.3 प्रोटेस्टैण्ट नैतिकता तथा पूंजीवाद की प्रकृति

20.3.1 पूंजीवाद की प्रकृति

20.3.2 प्रोटेस्टैण्ट नैतिकता की पूंजीवाद के विकास को प्रभावित करने वाली विशेषताएं

20.4 धर्म के सम्बन्ध में वेबर का तुलनात्मक अध्ययन

20.4.1 पश्चिम एशिया में यहूदी धर्म

20.4.2 चीन में कन्फ्यूशियसवाद

20.4.3 भारत में हिन्दू धर्म

20.5 वेबर के धर्म व अर्थव्यवस्था के पारस्परिक विचारों की समीक्षा

20.6 सारांश

20.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें

20.8 बोध प्रश्न

20.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

20.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप :

- वेबर के धर्म व अर्थव्यवस्था पर विचारों का उल्लेख कर सकें।
- धर्म व अर्थव्यवस्था के पारस्परिक सम्बन्धों का विश्लेषण कर सकेंगे

20.1 प्रस्तावना

वेबर अपने धर्म व अर्थव्यवस्था से सम्बन्धित विचारों के लिये सर्वोत्तम रूप से जाने जाते हैं। प्रस्तुत इकाई में वेबर के इन विचारों की विस्तार से चर्चा की गयी है। इस इकाई के अध्ययन से आपको यह

पता चलेगा कि कैसे तर्क संगतिकरण की प्रक्रिया के अन्तर्गत घटित प्रोटेस्टैंण्टवादी विचारों ने एक तार्किक संगठन पूंजीवाद को जन्म दिया। इस इकाई के अध्ययन से आपको यह भी पता चलेगा कि कैसे वेबर ने संसार के अन्य महान धर्मों में वह विशेषतायें नहीं पायीं जो पूंजीवाद को जन्म दे सकते थे।

20.2 धर्म और अर्थव्यवस्था : अर्थ एवं सम्बन्ध

20.2.1 धर्म

धर्म को अलौकिक ताकतों के प्रति विश्वासों की व्यवस्था तथा इसके मानव जीवन पर पड़ने वाले प्रभावों के रूप में परिभाषित किया गया है। धर्म मानव जीवन के सम्मुख मौजूद अनेक कठिन दार्शनिक प्रश्नों का अपने ढंग से समाधान प्रस्तुत करता है। धार्मिक विश्वास जीवन को एक अर्थ प्रदान करते हैं। ये व्यक्ति को उस दुनिया के अस्तित्व के बारे में जिज्ञासाओं का समाधान देते हैं, जिसमें वह रह रहा है ये विश्वास मनुष्य के लिये आचार व्यवहार के नियमित निर्देश व्यवस्थित करते हैं जिन पर चलने की उससे अपेक्षा की जाती है।

20.2.2 अर्थव्यवस्था

अर्थव्यवस्था का सम्बन्ध हमारे समाज द्वारा बनायी गयी वस्तुओं तथा सेवाओं के उत्पादन, उपभोग तथा वितरण से सम्बन्धित मुद्दों से होता है। समाज में क्या उत्पादित किया जाना है? कितना उत्पादित किया जाना है, श्रम का विभाजन कैसे किया जाए? ये कुछ ऐसे प्रश्न हैं जिनका सम्बन्ध अर्थव्यवस्था से होता है।

20.2.3 धर्म व अर्थव्यवस्था के बीच परस्पर सम्बन्ध

धर्म का सम्बन्ध पारलौकिकता से होता है तो अर्थव्यवस्था का सम्बन्ध इहलौकिकता से है। एक दूसरे से अलग दिखायी देने वाली इन दोनों व्यवस्थाओं के बीच में वेबर के अनुसार सम्बन्ध पाया जाता है। वेबर के मत में मानव समाज के विचार, विश्वास, मूल्य तथा विश्व के प्रति दृष्टिकोण ही उसके सदस्यों के कार्य-कलापों जिसमें आर्थिक क्रिया कलाप भी सम्मिलित हैं, का दिशा निर्देश करते हैं। जैसा कि आप जानते हैं कि धर्म मनुष्य के आचार -विचार के लिए कुछ रास्ते तय करता है। इन रास्तों के अनुसार ही धार्मिक अनुयायी अपनी क्रियाओं को करते हैं। इसे एक उदाहरण द्वारा समझा जा सकता है। यह माना जाता है कि आधुनिक विश्व में विज्ञापनों के द्वारा किसी भी वस्तु का बाजार तैयार किया जा सकता है। यदि भारत में गाय के मांस की बिक्री के लिये अरबों रुपयों का विज्ञापन किया जाये तो भी कम से कम भारत के हिन्दू धर्मावलम्बी गाय का मांस नहीं खायेंगे। यहां हिन्दुओं के लिए गाय एक पवित्र वस्तु है अतः हमने देखा कि कैसे इस धार्मिक विश्वास ने अर्थव्यवस्था की प्रकृति को निर्धारित किया।

धार्मिक विश्वासों तथा आर्थिक व्यवहार के बीच इसी सम्बन्ध को वेबर ने अपनी कृतियों में उजागर करने की कोशिश की। उसके अनुसार प्रोटेस्टैण्ट धर्म तथा पूंजीवाद के नाम से विख्यात आर्थिक व्यवस्था के बीच कुछ अनुरूपताएं या समानताएं विद्यमान थीं। वेबर ने कहा कि इन्हीं समानताओं ने पश्चिमी जगत में पूंजीवाद के विकास में सहायता दी। आगे के भाग में हमने वेबर के प्रबन्ध में दिये गये इस प्रमुख तर्क की व्याख्या की है।

20.3 प्रोटेस्टैण्ट नैतिकता एवं पूंजीवाद की प्रकृति

20.3.1 पूंजीवाद की प्रकृति

संपत्ति या लाभ अर्जित करने की इच्छा उतनी ही पुरानी है जितनी कि मानव जाति का इतिहास। संपत्ति

हमेशा से ही शक्ति, प्रस्थिति तथा प्रतिष्ठा का प्रतीक मानी जाती रही है। लेकिन मानव इतिहास में पहले कभी भी सम्पत्ति की इच्छा ऐसा संगठित तथा व्यवस्थित रूप धारण नहीं कर सकी जैसा कि उसने आधुनिक या तार्किक पूंजीवाद में ग्रहण किया है । वेबर इसी तार्किक पूंजीवाद का अध्ययन करना चाहता था।

वेबर के अनुसार पूंजीपति संपत्ति की इच्छा सुखी या विलासी जिंदगी बिताने के लिए नहीं अपितु उसके माध्यम से और अधिक संपत्ति अर्जित करने के लिये करते थे। धन की खातिर धन अर्जित करने की यह प्रबल इच्छा ही आधुनिक पूंजीवाद का सार तत्व है। पूंजीवाद एक ऐसी आर्थिक प्रणाली है जिसका लक्ष्य उत्पादन के तर्क पूर्ण संगठन के माध्यम से असीमित लाभ संचित करना होता है। पूंजीवाद इंग्लैण्ड तथा जर्मनी जैसे पश्चिमी देशों में उभरा जहां औद्योगिक क्रान्ति हो चुकी थी। इन देशों में कारखाना प्रणाली के विकास, उत्पादन की नई तकनीकों की खोज, नए -नए औजारों और मशीनों के प्रयोग ने पूंजीपतियों तथा मालिकों को असीम मात्रा में धन कमाना संभव कर दिया। इसके लिये उत्पादन की प्रक्रिया को तार्किक दृष्टि से संगठित किया जाना जरूरी था अर्थात दूसरे शब्दों में दक्षता तथा अनुशासन लागू करना अनिवार्य था।

वेबर ने पूर्व के पारस्परिक या जोखिम भरे पूंजीवाद और आधुनिक तार्किक पूंजीवाद में अंतर किया। पारम्परिक पूंजीवाद एक जोखिम भरा व्यवसाय था जिसमें दूरस्थ स्थानों से विलासिता की वस्तुओं का आयात करना शामिल होता था। विदेशी रेशम, मसाले, हाथी दांत की वस्तुओं आदि को बढ़ी-चढ़ी कीमतों पर ग्राहकों को बेचा जाता था। इसका उद्देश्य यह होता था कि यथा संभव ज्यादा से ज्यादा मुनाफा कमा लिया जाये, क्योंकि कोई नहीं जानता था कि अगला सौदा कब और कहां हो पायेगा। इस तरह यह एक ही झटके में सौदा करने की कड़ी के रूप में होता था। दूसरी ओर तार्किक पूंजीवाद वस्तुओं के बहुत बड़े पैमाने पर उत्पादन और वितरण पर आधारित होता है। औद्योगिक क्रान्ति तथा कारखाना उत्पादन प्रणाली के कारण ऐसा करना संभव हो गया। तार्किक पूंजीवाद का लगातार विस्तार हो रहा है —इसमें नई विधियों, नये आविष्कारों, नए उत्पादों तथा नए उपभोक्ता वर्गों का समावेश हो रहा है। व्यवस्थित रूप से कार्य होने और नियमित सौदे होने की वजह से इस प्रकार का पूंजीवाद पारम्परिक पूंजीवाद की तुलना में गुणात्मक और मात्रात्मक दोनों रूपों में भिन्न है।

वेबर ने पूंजीवाद की प्रकृति का परम्परावाद से बखूबी अन्तर स्पष्ट किया। परम्परावादी व्यवस्था को हम एक प्रसिद्ध भारतीय कहावत "अजगर करै न चाकरी पंछी करै न काम, दास मलूका कह गये सबके दाता राम" से समझ सकते हैं जबकि तार्किक पूंजीवाद "कार्य ही पूजा है" में विश्वास रखता है। इस प्रकार परम्परावाद पूंजीवाद के विकास में बाधक होता है। परम्परावादी व्यवस्था में श्रमिक अधिक वेतन की अपेक्षा कम काम तथा मेहनत की अपेक्षा आराम को अधिक पसन्द करते थे। वे नयी कार्य विधियों को अपनाने में या तो अक्षम होते थे या अनिच्छुक होते थे।

आइये अब वेबर के द्वारा वर्णित प्रोटेस्टैण्ट धर्म के सिद्धान्तों तथा उसके पूंजीवाद के उद्‌भव से सम्बन्धों की चर्चा करें।

20.3.2 प्रोटेस्टैण्ट नैतिकता की पूंजीवाद के विकास को प्रभावित करने वाली विशेषताएं

प्रोटेस्टैण्ट मत ईसाइयत धर्म की वह शाखा है जो कार्य के प्रति प्रतिबद्धता, कड़ी मेहनत, व्यक्तिवादिता, तार्किक चिंतन तथा धन से धन कमाने की प्रवृत्तियों पर विशेष बल देती है। वेबर के अनुसार इसाई धर्म

की मूल शाखा कैथोलिकों के पाखण्ड पूर्ण विचारों के प्रति तार्किक विद्रोह के रूप में घटित प्रोटेस्टैण्ट व अन्य सुधारवादी मतों यथा काल्विन बैपटिस्ट, मेथडिस्ट के विचारों ने ऐसी प्रतिबद्ध कार्यशक्ति को जन्म दिया जिसके बिना पूंजीवाद का विकास संभव नहीं था।

ऐसा माना जाता है कि वेबर जिन्दगी भर कार्ल मार्क्स के भूत के साथ लड़ते रहे (गिडेन्स, 1992)। मार्क्स ने धर्म को जनता की अफीम माना और इसे सामाजिक परिवर्तन के रास्ते में एक बाधा के रूप में देखा। लेकिन वेबर के इस विवेचन का उद्देश्य यह दिखाना था कि धार्मिक विचार भी परिवर्तन, विशेषकर अर्थव्यवस्था में परिवर्तन को जन्म दे सकता है।

वेबर ने यह पाया कि कैथोलिक धर्म के विचार परम्परावादी जीवन शैली को बढ़ावा देते हैं। कैथोलिकों में पायी जाने वाली विशेषताएं जैसे आरामतलब जीवन, पैसे को भोगविलास पर खर्च करना, धन को इकट्ठा करना इत्यादि विशेषताएं पूंजीवाद के विकास में बाधक हैं। वेबर के मत में कैथोलिकों के खिलाफ चले तार्किक धर्म सुधार आंदोलनों जैसे प्रोटेस्टैण्ट इत्यादि ने ऐसा माहौल तैयार किया जिसने पूंजीवाद को जन्म दिया। इन मतों की प्रमुख विशेषताएं इस प्रकार है।

(1) **इहलौकिक आत्मसंयम** - इसके तहत एक सरल व सादा जीवन बिताने पर जोर दिया गया जो कठोर अनुशासन पर आधारित था।

(2) **कार्य के प्रति बदलती हुई मनोवृत्ति** - प्रसिद्ध अमेरिकी कहावत ''कोई भी काम जो करने लायक है वह अच्छी तरह करने लायक है,'' इन सुधारवादी मतों की मार्ग निर्देशिका बन गयी। वस्तुत: कार्य को पूजा मानने पर जितना इन मतों ने बल दिया, उसका कैथोलिकों में अभाव था।

(3) **छुट्टियों, शराबखोरी, थियेटर तथा अन्य भोगविलास पर प्रतिबन्ध** - कैथोलिकों के आरामतलब व विलासितापूर्ण जीवन के विपरीत इन मतों ने प्रत्येक क्षण को कार्य करने से सम्बन्धित किया। इन मतों में पैसे को भोग विलास पर खर्च करने से मना किया गया । ईमानदारी को सर्वोत्तम नीति माना गया। आनन्दपूर्ण जीवन पर यहां तक प्रतिबंध लगाया गया कि मुस्कराहट जैसी स्वाभाविक प्रक्रिया पर भी प्रतिबंध लगा दिया गया।

(4) **कॉलिंग (ईश्वरीय आह्वान)** — जॉन काल्विन जिसने ईसाइयत के भीतर ही काल्विन मत शुरू किया, ने कॉलिंग की अवधारणा प्रस्तुत की। इस अवधारणा में यह कहा गया कि प्रत्येक कार्य महत्वपूर्ण व पवित्र है। यह केवल कार्य ही नहीं है बल्कि यह ईश्वरीय आह्वान है जिसे दक्षता व प्रतिबद्धतापूर्वक पूरा किया जाना चाहिए।

(5) **मेथडिस्टों ने धरती पर खजाना इकटठा करने को ईश्वर की इच्छा के विपरीत बताया। वस्तुत: इन सारे सुधारवादी मतों ने धन का केवल एक ही उपयोग बताया**— धन से धन कमाना, अर्थात धन का पुनर्निवेश । उल्लेखनीय है कि यह महत्वपूर्ण विचार कैथोलिकों में अनुपस्थित था।

(6) कैथोलिक लोगों की नियति बताया करते थे। मार्टिन लूथर जो कि प्रोटेस्टैण्ट मत का प्रवर्तक था, ने अपनी पुस्तक थीसिस में इस अवधारणा पर प्रहार किया। उसने कहा कि ईश्वर की इच्छा अज्ञात है जो कि कोई नश्वर व्यक्ति समझ नहीं सकता। अत: पादरी जो कि नश्वर व्यक्ति है, किसी व्यक्ति की मदद नहीं कर सकता। ईश्वर ने संसार को अपने आनन्द के लिये बनाया है। अत: प्रत्येक व्यक्ति का यह कर्तव्य होना चाहिए कि वह कठिन परिश्रम करके ईश्वर के आनन्द के साम्राज्य में विस्तार करे और इस प्रकार उसके प्रति अपनी कृतज्ञता अर्पित करे।

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि इन विचारों ने एक ऐसा तार्किक माहौल तैयार किया जिसके बगैर वेबर के मतानुसार तार्किक पूंजीवाद का उद्‌भव और विकास संभवत: संभव न हो पाता। वेबर का उद्देश्य इसी तथ्य को दर्शाना था।

20.4 धर्म के सम्बन्ध में वेबर का तुलनात्मक अध्ययन

20.4.1 पश्चिमी एशिया में यहूदी धर्म

यह धर्म मूल रूप से पश्चिमी एशिया में फिलिस्तीनी क्षेत्र से सम्बन्धित है। यह सबसे प्राचीन एकेश्ववादी धर्म है जो सर्वशक्तिमान एक ईश्वर में विश्वास करता है। उनके पैगम्बर ने उन्हें इस विश्वास के साथ संगठित किया कि वे ईश्वर के चुने हुए प्रतिनिधि हैं और उन्हें पृथ्वी पर ईश्वर का राज्य स्थापित करना है। इस धर्म में वेबर ने हिन्दू, इस्लाम, बौद्ध और कन्फ्यूशियस के विपरीत एक उल्लेखनीय तथ्य यह पाया कि यह धर्म पूंजीवाद को जन्म दे सकता था क्योंकि इसमें भी कड़ी मेहनत, सांसारिक सुखों के प्रति कम लगाव इत्यादि प्रवृत्तियां थी। लेकिन वेबर के मत में ऐतिहासिक कारणों से ऐसा संभव नहीं हो पाया। यहूदी कभी भी संगठित होकर एक स्थान पर टिक नहीं पाये। उनके ऊपर हुए अत्याचारों ने उन्हें हमेशा भागते रहने पर मजबूर किया। उनकी आर्थिक प्रतिबद्धता पैसा उधार देने तक सीमित हो गयी और इस कार्य को उन्होंने सफलतापूर्वक संपन्न भी किया।

20.4.2 चीन में कन्फ्यूशियसवाद

प्राचीन चीन में एक सुविकसित अर्थव्यवस्था विद्यमान थी। उस समय व्यापार, वाणिज्य, वित्त व्यवस्था तथा विनिर्माण कार्य काफी उन्नत थे। इन भौतिक परिस्थितियों की विद्यमानता के बावजूद वहां पश्चिम शैली का पूंजीवाद विकसित नहीं हो पाया। वेबर के अनुसार कन्फ्यूशियस मत की नैतिकता ऐसा नहीं होने देती। कन्फ्यूशियस मत के विचारों को संक्षेप में इस प्रकार व्यक्त करते हैं-

(1) विश्व या ब्रह्मांड की व्यवस्था में विश्वास ।

(2) मनुष्य का ध्येय प्रकृति तथा विश्व के साथ समरसता बनाए रखना होना चाहिए।

(3) हमारा व्यवहार परम्परा द्वारा निदेशित हो। ज्ञान का स्रोत अतीत में ही पाया जाता है।

(4) परिवार तथा वंश के साथ सम्बन्धों तथा दायित्वों की कभी उपेक्षा नहीं की जानी चाहिए।

समरसता, परम्परावाद तथा पारिवारिक दायित्वों पर बल देना लाभ के लिये कमाने के अनथक प्रयास से बिल्कुल भिन्न विचार है। वास्तव में इसके अन्तर्गत पूंजीवाद की प्रवृत्ति को संभवत: गलत आचार माना जाता है।

20.4.3 भारत में हिन्दू धर्म

भारत में धर्म के सम्बन्ध पर चर्चा करते समय वेबर ने हिन्दू धर्म की नैतिकता में तर्क संगत पूंजीवाद के पनपने की संभावना को नकार दिया। उसके अनुसार भारत जैसे जाति प्रथा आधारित समाज में आधुनिक पूंजीवाद का संगठन बिल्कुल असंभव है और न ही पश्चिमी दुनिया से आयातित पूंजीवाद यहां फल फूल सकता है।

लेकिन वेबर का कहना है कि हिन्दू धर्म पूंजीवाद के विकास के लिये उपयुक्त नैतिकता प्रदान नहीं कर सका। कर्म, धर्म तथा पुनर्जन्म के विचारों ने भारतीयों को निराशावादी एवं नियतिवादी बना दिया। चूंकि वर्तमान स्थिति पिछले कर्मो का परिणाम है अत: वेबर के विचारानुसार हिन्दू लोग अपनी वर्तमान आर्थिक स्थिति में सुधार करने के लिए प्रेरित नहीं होते। वेबर का कहना है कि हिन्दू उस तरह की कड़ी

मेहनत करना अभीष्ट नहीं समझते जो पूंजीवाद के लिये जरूरी है। हिन्दू धर्म ''पारलौकिक संयम'' का उपदेश देता है। भौतिक संसार को महत्वहीन मानता है। भौतिक समृद्धि अस्थायी तथा भ्रमित करने वाली होती है, इसलिये उसको कोई महत्व नहीं दिया जाता है।

अनश्वर आत्मा का कल्याण ही ज्यादा महत्वपूर्ण है। वे धर्म जो पारलौकिक संयम पर जोर देते हैं और भौतिक संसार को हीन मानते हैं, पूंजीवाद का संवर्धन करने की अभिवृत्ति पैदा नहीं कर सकते। अत: स्पष्ट है कि भौतिक स्थितियां जैसे वित्त, व्यापार तथा प्रौद्योगिकी ही पूंजीवाद के संवर्धन के लिये काफी नहीं हैं। भारत और चीन दोनों देशों में ये स्थितियां मौजूद थीं, लेकिन इन समाजों की मूल्य व्यवस्थाएं ऐसी थीं कि संपत्ति के लिये संपत्ति अर्जन करने की प्रकृति और इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिये तार्किक संगठन बनाना दोनों का यहां कोई महत्व नहीं था। यह इन समाजों के आदर्शों व नैतिकताओं के अनुरूप नहीं थी।

20.5 वेबर के धर्म और अर्थव्यवस्था के पारस्परिक विचारों की समीक्षा

वेबर ने अपने इस विचार की शुरुआत बहुकारणवादी व्याख्या के आधार पर की। वेबर के अनुसार पूंजीवाद के उद्‌भव के लिये अन्य कारक जैसे विज्ञान व तकनीक का फैलाव, इत्यादि भी जिम्मेदार थे। लेकिन वेबर की इस कृति के संदर्भ में यह कहा जाता है कि वेबर ने सामाजिक परिवर्तन के केवल एक कारक धर्म पर ही ध्यान केन्द्रित किया जिससे वेबर के ये विचार एककारणवादी लगते हैं। वेबर की इस धारणा पर कि ''प्रोटेस्टैण्ट इथिक'' आधुनिक पूंजीवाद के उदय में अंशत:उत्तरदायी था, कुछ विद्वानों ने यह कहकर आपत्ति की है कि व्यापारिक कार्य पर काल्विन ने भी उतने ही अधिक नैतिक प्रतिबंध लगाए जितने कैथोलिक चर्च ने और यह कि काल्विन के नैतिक नियम, यदि उसका पूरा धर्मशास्त्र नहीं तो कैथोलिक धर्म से ही अधिकांशत: लिये गये थे। (जानसन 1990)। एक दूसरी आपत्ति यह की जाती है कि सभी काल्विनवादी धनवान नहीं हुए हैं। स्कॉटलैण्ड के पहाड़ी इलाके और दक्षिणी संयुक्त राज्य अमेरिका के पर्वतीय प्रदेश में काल्विनवाद प्रबलतम है और ये लोग गरीब हैं(जानसन 1990)।

एंथोनी गिडेंस ने जापान के द्वितीय विश्व युद्ध के बाद के विकास का अध्ययन करने के उपरांत यह पाया कि यदि बौद्ध धर्म के विचार पूंजीवाद के विरुद्ध होते तो जापान में आर्थिक विकास संभव न हो पाता।

भारतीय संदर्भ में वेब्रर के विचारों की समालोचना करते हुए अनेक भारतीय समाजशास्त्रियों ने यह पाया कि वेबर ने हिन्दू धर्म सम्बन्धी विचार आधे-अधूरे ढंग से प्रस्तुत किये गए हैं तथा भारत में पूंजीवाद के विकास की सही तस्वीर प्रस्तुत नहीं की। इनका यह मत है कि वेबर ने इसाई धर्म की अलग-अलग इकाइयों का अध्ययन किया जैसे प्रोटेस्टैण्ट, कैथोलिक, मेथिडिस्थ, काल्विन इत्यादि। लेकिन संपूर्ण हिन्दू धर्म को एक अध्ययन के लिये एक इकाई मान लिया। इस संदर्भ में वेबर भारतीय समाज के मारवाड़ी और सिख समुदाय में उद्यमशीलता को नजरअंदाज कर देता है।

समाजशास्त्रियों का यहां तक मत है कि गीता की निष्काम कर्म की अवधारणा की जबरदस्त साम्यता काल्विन में कांलिंग की अवधारणा से मिलती है।

इन तमाम आलोचनाओं के बावजूद इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता है कि वेबर ने अपनी जबरदस्त बौद्धिक क्षमता की सहायता से धर्म और अर्थव्यवस्था के सम्बन्धों को स्पष्ट किया तथा पूंजीवाद के उद्‌भव की एक नये तार्किक ढंग से व्याख्या की।

20.6 सारांश

इस इकाई में वेबर के सर्वाधिक विवादग्रस्त विचारों की चर्चा की गयी है। वेबर ने यह दर्शाया कि कैसे धार्मिक विचार अपने अनुयायियों को निर्देशित करते हैं। वेबर ने यह दिखाया कि धार्मिक विचारों का प्रभाव पूंजीवाद जैसे तार्किक संगठन को बढ़ावा भी दे सकता है और रोक भी सकता है। इस इकाई में ऐसे अन्य धर्मों के विचारों का तुलनात्मक परिप्रेक्ष्य प्रस्तुत किया गया है जो पूंजीवाद विरोधी है। उदाहरण के लिये इस्लाम ब्याज वसूलने पर रोक लगाता है। इस प्रकार के विचार पूंजीवाद के उद्‌भव में बाधा पहुंचाते हैं।

20.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें

(1) हरलम्बाव और हील्ड (1985) आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस न्यू देहली

(2) जानसन, हेरी एम (1990) समाजशास्त्र एक विभ्यित विवेचन कलयाणी पब्लिशर्स (योगेश अटल द्वारा हिन्दी में अनुदित) लुधियाना

(3) चौहान ब्रजराज (1994) समाज विज्ञान के प्रेरक स्रोत ए सी ब्रदर्स उदयपुर

20.8 बोध प्रश्न

प्र. 1 वेबर ने प्रोटेस्टैण्ट के अलावा अन्य किस धर्म में पूंजीवाद के लिये सहायक दशायें पायीं—

(अ) हिन्दू (ब) इस्लाम (द्य) यहूदी (द) बौद्ध

20.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

उत्तर (स) यहूदी

प्र. 2 वेबर के अनुसार हिन्दू धर्म के विचार किस तरह पूंजीवाद विरोधी थे?

(कृपया पचास शब्दों में उत्तर दें)।

प्र. 3 वेबर के प्रोटेस्टैण्ट नैतिकता तथा पूंजीवाद के उद्‌भव से सम्बन्धित विचारों का आलोचनात्मक मूल्यांकन कीजिये?

इकाई 21 शक्ति और सत्ता

इकाई की रूपरेखा

21.0 उद्देश्य

21.1 प्रस्तावना

21.2 शक्ति और सत्ता की अवधारणा

- 21.2.1 शक्ति
- 21.2.2 सत्ता
- 21.2.3 सत्ता के आदर्श प्रारूप

21.3 नौकरशाही

- 21.3.1 नौकरशाही के मुख्य लक्षण
- 21.3.2 नौकरशाही में अधिकारी वर्ग की विशेषताएँ
- 21.3.3 वेबर के नौकरशाही के आदर्श प्रारूप की विकासशील देशों के संदर्भ में तुलना
- 21.3.4 नौकरशाही की अवधारणा का मूल्यांकन

21.4 सारांश

21.5 कुछ उपयोगी पुस्तकें

21.6 बोध प्रश्न

21.7 बोध प्रश्नों के उत्तर

21.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप :

- शक्ति व सत्ता की वेबर द्वारा परिभाषित अवधाणाओं का वर्णन कर सकेंगे।
- सत्ता के तीन प्रकारों पारम्परिक, करिश्माई और तर्क-विधिक की विस्तार से व्याख्या कर सकेंगे।
- तर्क-विधिक सत्ता का प्रयोग नौकरशाही द्वारा किस तरह किया जाता है. उसकी विवेचना कर सकेंगे।

21.1 प्रस्तावना

इस इकाई में शक्ति व सत्ता से सम्बन्धित वेबर के महत्वपूर्ण विचारों पर प्रकाश डाला जायेगा। इस इकाई में यह भी स्पष्ट किया जायेगा कि वेबर के अनुसार बतायी गयी नौकरशाही की प्रमुख विशेषताएं क्या है। इसके साथ ही इस इकाई के अध्ययन से आप यह भी समझ पायेंगे कि नौकरशाही से सम्बन्धित वेबर के विचारों और विकासशील समाजों में मौजूद नौकरशाही की विशेषताओं में क्या प्रमुख अंतर है।

21.2 शक्ति और सत्ता की अवधारणा

21.2.1 शक्ति

सामान्य प्रयोग में ''शक्ति'' शब्द का अर्थ है ताकत अथवा नियंत्रण की क्षमता। समाजशास्त्री इसकी परिभाषा एक व्यक्ति अथवा समूह की अपनी इच्छा पूर्ण करने तथा अपने निर्णयों एवं विचारों को कार्यान्वित करने के सामर्थ्य के रूप में करते हैं। इसमें दूसरों की इच्छा से विपरीत भी उन्हें प्रभावित करने अथवा उनके आचरण को नियंत्रित करने की क्षमता निहित है। मैक्स वेबर के अनुसार, शक्ति सामाजिक सम्बन्धों का एक पहलू है। इसका सम्बंध एक व्यक्ति द्वारा दूसरे के आचरण पर अपनी इच्छा थोपने की संभावना से है। शक्ति का अस्तित्व सामाजिक अन्तर्क्रिया में है और यह असमानता की स्थितियाँ पैदा करती हैं क्योंकि जिसके हाथ में शक्ति है वह इसे दूसरों पर थोपता है। शक्ति का प्रभाव अलग - अलग स्थिति में अलग-अलग होता है। वेबर की शक्ति ही इस अवधारणा में यह निहित है कि कोई व्यक्ति किसी दूसरे पर अपनी इच्छा को उसकी इच्छा के बगैर थोप सकता है। वेबर की मान्यता है कि जीवन के सभी क्षेत्रों में शक्ति का प्रयोग संभव है।

वेबर ने शक्ति के दो परस्पर - विरोधी स्रोतों का उल्लेख किया है। ये इस प्रकार हैं :—

(1) वह शक्ति जो औपचारिक मुक्त बाजार में पनपने वाले हितों के मेल से प्राप्त होती है।

(2) सत्ता की एक स्थापित प्रणाली, जो आदेश देने के अधिकार तथा उसके पालन के कर्तव्य का निर्धारण करती है। उदाहरण के लिये सेना में एक जवान अपने अधिकारी का आदेश मानने को बाध्य है। अधिकारी को आदेश देने की शक्ति - सत्ता की स्थापित प्रणाली से मिली है।

(3) शक्ति की चर्चा करते समय हमें उसकी वैधता पर विचार करना पड़ना है वेबर के अनुसार, यही वैधता सत्ता का मूल पक्ष है।

21.2.2 सत्ता

सत्ता के लिये वेबर द्वारा प्रयुक्त जर्मन शब्द ''हैरशाफ्ट'' का अनुवाद कई रूपों में हुआ है। कुछ समाजशास्त्रियों ने इसे सत्ता कहा है, जबकि कुछ विद्वानों ने इसका अनुवाद ''प्रभुत्व'' अथवा ''आदेश'' किया है। ''हैरशाफ्ट'' का अर्थ है, ऐसी स्थिति जिसमें ''हैर'' अथवा स्वामी अन्यों पर प्रभुत्व जमाता है अथवा हुक्म चलाता है। रेमों एरों के अनुसार, हैरशाफ्ट की परिभाषा स्वामी की वह क्षमता है, जिसमें वह उन लोगों से आज्ञापालन करवाता है जो सैद्धान्तिक रूप से उसके प्रति आज्ञाकारी हैं। (एरों, 1970)। इस इकाई में हमने वेबर की ''हैरशाफ्ट'' की अवधारणा को सत्ता शब्द द्वारा व्यक्त किया है। शक्ति व सत्ता में बुनियादी अंतर यह है कि शक्ति का अर्थ किसी अन्य को नियंत्रित करने की क्षमता अथवा योग्यता से है, जबकि सत्ता से अभिप्राय वैध शक्ति से है। इसका अर्थ यह है कि शासक को आदेश देने का अधिकार है और वह उसके अनुपालन की अपेक्षा कर सकता है। सत्ता की व्यवस्था के अस्तित्व के लिये निम्नलिखित तत्वों का होना आवश्यक है :—

(i) कोई शासक अथवा शासकों का समूह,

(ii) कोई व्यक्ति / समूह, जिस पर शासन किया जाता है,

(iii) शासित लोगों के आचरण को प्रभाति करने की शासक की इच्छा जो आदेशों के माध्यम से व्यक्त होती है।

(iv) शासित द्वारा प्रदर्शित आज्ञा-पालन के रूप में शासकों के प्रभाव का प्रमाण,

(v) इस बात का प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष प्रमाण कि शासित लोगों ने यह तथ्य स्वीकार कर लिया है कि शासक के आदेशों का अवश्य पालन किया जाना है।

इस प्रकार सत्ता का अभिप्राय शासक और शासित के बीच पारस्परिक सम्बन्ध होना आवश्यक है। शासक ये मानते हैं कि उन्हें सत्ता का प्रयोग करने का वैध अधिकार है। दूसरी ओर, शासित लोग शासक की इस शक्ति को स्वीकार करते हैं और उसका पालन करते हैं, जिससे उसकी वैधता और पुष्ट होती है।

21.2.3 सत्ता के आदर्श प्रारूप

वेबर के अनुसार सत्ता का अभिप्राय वैधता से है। वेबर के अनुसार वैधता की तीन प्रणालियाँ है, और इनमें से प्रत्येक के अनुरूप नियम है, जो आदेश देने की शक्ति को औचित्य प्रदान करते हैं। वैधता की इन्हीं तीन प्रणालियों को सत्ता के प्रकारों का नाम दिया गया है। ये हैं —

(i) पारम्परिक सत्ता

(ii) करिश्माई अथवा चमत्कारित सत्ता

(iii) तर्क -विधिक सत्ता

(i) **पारम्परिक सत्ता** — वैधता की इस प्रणाली को वेबर के सामाजिक क्रिया के प्रारूप में पारम्परिक सामाजिक क्रिया के प्रारू प में रखा जाता है। यह प्रणाली परम्पराओं की मान्यता पर आधारित होती है। इस सत्ता का आधार यह है कि किसी विशेष सत्ता का सम्मान इसलिए किया जाना चाहिए क्योंकि यह युग-युगान्तरों से चली आ रही है। पारम्परिक सत्ता के अन्तर्गत शासक पीढ़ी दर पीढ़ी मिली प्रस्थिति के कारण व्यक्तिगत सत्ता का उपभोग करते हैं। उसके आदेश रीति-रिवाओं के अनुरूप होते हैं और उन्हें शासित लोगों से अपना आदेश मनवाने का भी अधिकार होता है। जो लोग उनके आदेशों का पालन करते हैं- वे उनकी प्रजा कहलाते हैं। यह प्रजा व्यक्तिगत निष्ठा के कारण अथवा प्राचीन काल से मान्यता प्राप्त पद के प्रति पवित्र सम्मान के कारण अपने स्वामी के आदेशों का पालन करती है। पारम्परिक सत्ता का संचालन लिखित नियमों और विधानों के अन्तर्गत नहीं होता। यह पीढ़ी दर पीढ़ी विरासत में मिलता है। पारम्परिक सत्ता का कार्यान्वयन सगे-सम्बंधियों तथा समर्थकों के बल पर किया जाता है। पारम्परिक सत्ता में व्यक्ति का शासन होता है। वेबर ने इसके उदाहरणों में राज्यतंत्र, पितृसत्तात्मक परिवार तथा वृद्ध तंत्र को प्रमुख रूप से गिनाया है। वेबर ने इस प्रकार की सत्ता को तर्कहीन माना है। इसलिये आधुनिक विकसित समाज में यह सत्ता बहुत कम पायी जाती है।

(ii) **करिश्माई सत्ता**—करिश्मा शब्द का शब्दकोशीय अर्थ है ईश्वरीय वरदान। यह ईश्वर की कृपा से मिली योग्यता होती है। वेबर के अनुसार यह "दूसरों पर लागू एक प्रकार की शक्ति है; जिसे लोग सत्ता के रूप में मानते हैं। जिस व्यक्ति के पास करिश्मे का गुण है उसकी सत्ता दैविक ध्येय, अंतर्दृष्टि, नैतिक गुण आदि से सम्बंधित मिथक के रूप में देखी जा सकती है। करिश्मा या चमत्कार का अर्थ है कुछ व्यक्तियों के असाधारण गुण। ऐसे गुण से इन व्यक्तियों में सामान्य लोगों की निष्ठा तथा भावनाओं पर अधिकार कर लेने की क्षमता आ जाती है। करिश्माई सत्ता किसी व्यक्ति के प्रति असाधारण आस्था और उस व्यक्ति द्वारा बतायी गयी जीवन-शैली पर आधारित होती है। ऐसी सत्ता की वैधता व्यक्ति की अलौकिक या मायावी

शक्ति में निहित होती है। ऐसे नेता चमत्कारों, सैनिक या अन्य प्रकार की विजयों अथवा अपने अनुयायियों की आकस्मिक समृद्धि के माध्यम से अपनी शक्ति का प्रदर्शन करते हैं। जब तक ये करिश्माई नेता अपने अनुयायियों या समर्थकों की नजर में अपनी चमत्कारिक शक्तियों को सिद्ध करते रहते हैं, तब तक उनकी सत्ता बराबर बनी रहती है।

करिश्माई सत्ता वेबर द्वारा बताये गये अन्य दो प्रारूपों से बहुत ज्यादा भिन्न है। परम्परागत व तर्क-विधिक सत्ता प्रशासन की स्थायी अवस्थाएँ हैं जो प्रतिदिन के जीवन के रूटीन कार्यों से सम्बंधित है। इनकी तुलना में करिश्माई सत्ता अस्थायी व्यवस्था है। करिश्माई सत्ता के उदाहरण विस्तृत क्षेत्र से लिये जा सकते हैं, जिसमें राजनैतिक नेताओं से लेकर धार्मिक नेताओं तक शामिल हैं। इनकी क्रियाएँ सभ्यताओं के विकास की अवधि को प्रभावित करती हैं। इस प्रकार के उदाहरणों में महात्मा गाँधी, हिटलर, इत्यादि उदाहरणों को रखा जा सकता है। वेबर के मत में इस प्रकार की सत्ता में व्यक्ति का शासन होता है न कि कानून का। वेबर के द्वारा वर्णित सत्ता का प्रारूप भावनात्मक सामाजिक क्रिया के अन्तर्गत रखा जाता है।

करिश्माई सत्ता परम्परागत विश्वासों अथवा लिखित नियमों पर आधारित नहीं होती। यह अपनी विशेष क्षमता के बल पर शासन करने वाले नेता के विशेष गुणों का ही परिणाम होती है। करिश्माई सत्ता संगठित नहीं होती, अत: इसमें कर्मचारियों अथवा प्रशासनिक तंत्र की आवश्यकता नहीं होती। नेता और उसके सहयोगियों का अपना कोई निश्चित व्यवसाय नहीं होता और वे प्राय: पारिवारिक दायित्वों से विमुख रहते हैं। ये गुण कभी-कभी चमत्कारिक व्यक्तियों को क्रांतिकारी भी बना देते हैं, क्योंकि वे सभी परम्परागत सामाजिक प्रतिमानों तथा दायित्वों को अस्वीकार कर चुके होते हैं। व्यक्तिगत गुणों पर आधारित होने के कारण सम्बद्ध नेता की मृत्यु अथवा उसके लापता होने की स्थिति में उत्तराधिकार की समस्या पैदा होती है। जो व्यक्ति नेता का स्थान लेता है, संभव है उसमें वैसी चमत्कारिक शक्ति न हो। ऐसी स्थिति में नेता का मूल संदेश लोगों तक पहुँचाने के लिये जब किसी प्रकार का संगठन विकसित होता है, तब मूल करिश्माई सत्ता तो पारम्परिक सत्ता या तर्क-विधिक सत्ता का रूप ग्रहण कर लेती है। वेबर के अनुसार यह करिश्मा अथवा चमत्कार का सामान्यीकरण है (गिडेंस, 1992)।

(iii) तर्क-विधिक सत्ता—यह शब्द सत्ता की उस प्रणाली का बोध कराता है, जो तार्किक भी है तथा कानूनी भी। यह सत्ता नियमित कर्मचारी वर्ग में निहित है, जो कुछ लिखित कानूनों एवं नियमों के अन्तर्गत काम करते हैं। जो लोग इस सत्ता का प्रयोग करते हैं; उन्हें इसी काम के लिये नियुक्त किया जाता है और ये नियुक्ति उनकी योग्यताओं के आधार पर की जाती है। ये योग्यताएं निर्धारित तथा संहिताबद्ध होती हैं। जिनके पास यह सत्ता होती है, उनका यह व्यवसाय होता है तथा वे इसके लिये वेतन पाते हैं। इस प्रकार यह एक तार्किक प्रणाली है।

यह वैधानिक इसलिए है क्योंकि यह देश के कानून के अनुरूप है जिसे लोग मान्यता देते हैं और उसका पालन करना अपना कर्तव्य समझते हैं। लोग आदेशों और नियमों तथा उन नियमों को कार्यान्वित करने वालों की स्थिति तथा पद दोनों की वैधता को स्वीकार करते हैं एवं उसका सम्मान करते हैं। तर्कविधिक सत्ता आधुनिक समाज का विशिष्ट पहलू है। यह तार्किकता की प्रक्रिया की अभिव्यक्ति है। हमें याद रखना चाहिए कि वेबर ने तार्किकता को पश्चिमी सभ्यता की मुख्य विशेषता माना है। वेबर के अनुसार यह मानव चिंतन तथा विचार-विमर्श की विशेष देन है। (गर्थ तथा मिल्स, 1952)।

तर्क विधिक सत्ता के संचालन के ढंग को अच्छी तरह से समझने के लिए ''नौकरशाही'' का विवेचन करना आवश्यक है। नौकरशाही के माध्यम से ही तर्क-विधिक सत्ता को कार्यान्वित किया जाता है। अगले भाग में इसी विषय की विवेचना की गयी है।

21.3 नौकरशाही

21.3.1 नौकरशाही के मुख्य लक्षण

मैक्स वेबर ने बताया है कि जहाँ कानून का शासन पाया जाता है वहाँ एक नौकरशाही संगठन निम्न सिद्धान्तों से निर्देशित होता है। (बेनडिक्स, 1969)

(1) **नियमों का महत्व**—नौकरशाही में अधिकारियों एवं कर्मचारियों के कार्यों का निर्धारण अवैयक्तिक नियमों द्वारा होता है। ये नियम स्थायी होते हैं तथा निरन्तर इनका पालन कराने की एक व्यवस्था होती है। इस प्रकार नौकरशाही में विभिन्न पदाधिकारियों के कार्य नियमों द्वारा परिभाषित और स्पष्टरूप से विभाजित होते हैं। ये पद व्यक्ति विशेष को ध्यान में रखकर नहीं बनाये जाते वरन् किसी पद से जुड़े हुए होते हैं।

(2) **स्पष्ट एवं निश्चित कार्य क्षेत्र**—नौकरशाही में नियमों द्वारा विभिन्न पदाधिकारियों में कार्य, अधिकार एवं सत्ता का स्पष्ट विभाजन पाया जाता है। इसमें श्रम-विभाजन होता है जिससे कार्य को कुशलता एवं दक्षता के आधार पर सम्पन्न किया जाता है।

(3) **भर्ती पद्धति** —नौकरशाही में अधिकारियों एवं कर्मचारियों की भर्ती प्रतियोगी परीक्षाओं एवं साक्षात्कार आदि के द्वारा होती है।

(4) **संस्तरण** — नौकरशाही संगठन के विभिन्न पदों में उच्चता एवं निम्नता का एक निश्चित क्रम पाया जाता है। उच्च अधिकारी अपने नीचे के कर्मचायिों के कार्यों की देख-रेख करते हैं, उन्हें आदेश देते हैं। निम्न कर्मचारियों को भी अपने से उच्च अधिकारियों को शिकायत एवं अपील करने की छूट होती है। नौकरशाही में सभी पद परस्पर जुड़े हुए एवं संगठित होते हैं।

(5) **प्रशिक्षण**—चूँकि नौकरशाही का कार्य जटिल और विशेषीकृत होता है अत: सम्बंधित कार्यों को सुचारु रूप से सम्पन्न कराने के लिए अधिकारियों को प्रशिक्षण दिया जाता है।

(6) **पदों के एकाधिकार का अभाव**—नौकरशाही में किसी भी पद पर किसी भी व्यक्ति का एकाधिकार नहीं होता, अत: आवश्यकतानुसार अधिकारियों के स्थानान्तरण भी किये जाते हैं। दक्षता से कार्य करने पर पदोन्नति एवं निर्धारित कार्यों एवं नियमों की अवहेलना करने पर पदावनति भी की जा सकती है।

21.3.2. नौकरशाही में अधिकारी वर्ग की विशेषताएं

उपर्युक्त नियमों एवं विशेषताओं के कारण नौकरशाही में पदाधिकारियों की स्थिति में अग्रांकित विशेषताएं देखी जा सकती हैं—

(1) दफ्तर का कार्य अधिकारी लोग एक पेशे की तरह करते हैं। इसके लिए वे प्रशिक्षण प्राप्त करते हैं, प्रतियोगी परीक्षाओं में बैठते हैं और ये अपने कार्य के प्रति ईमानदार होते हैं।

(2) नौकरशाही में कर्मचारियों को साधारण लोगों की अपेक्षा उच्च प्रतिष्ठा प्राप्त होती है। इसमें निम्न पदाधिकारियों की नियुक्ति उच्च पदाधिकारी करते हैं। इसमें पद सामान्यत: स्थायी होते हैं। वेतन

का भुगतान प्रति माह किया जाता है तथा इसमें पदोन्नति की भी व्यवस्था पायी जाती है।

(3) वह व्यक्तिगत रूप से स्वतन्त्र होता है तथा अपने पद पर समझौते के आधार पर नियुक्त होता है।

(4) वह अवैयक्तिक नियमों के अनुसार सत्ता का प्रयोग करता है और शासकीय दायित्वों के निष्ठापूर्वक निर्वाह के द्वारा अपनी वफादारी व्यक्त करता है।

(5) उसकी नियुक्ति तथा पद पर आसीनता उसकी तकनीकी योग्यता पर निर्भर करती है।

(6) उसका प्रशासकीय कार्य पूर्ण-कालिक व्यवसाय होता है।

(7) उसके काम को नियमित वेतन, वेतन-वृद्धि तथा पदोन्नति के रूप में पुरस्कृत किया जाता है।

उपर्युक्त विवेचन के बाद अब हम आधुनिक जगत में नौकरशाही की प्रमुख विशेषाओं एवं उसके परिणामों पर विचार करेंगे—

(1) वेबर के अनुसार, इस (नौकरशाही) प्रकार का संगठन प्रशासन के अन्य सभी प्रकारों से तकनीकी दृष्टि से श्रेष्ठ होता है।

(2) आधुनिक नौकरशाही की एक अन्य प्रमुख विशेषता प्रशासन के साधनों का केन्द्रीयकरण है।

(3) आधुनिक नौकरशाही की तृतीय विशेषता इसका सामाजिक तथा आर्थिक अन्तरों या विभेदों को बराबर या समाप्त करने की दृष्टि से प्रभाव है।

(4) एक पूर्णत: विकसित नौकरशाही सत्ता सम्बन्धों की एक ऐसी व्यवस्था निर्मित करती है जो व्यावहारिक दृष्टि से अविनाशी है।

21.3.3 वेबर के नौकरशाही के आदर्श प्रारूप की विकासशील देशों के संदर्भ में तुलना

नौकरशाही वह मानवीय मशीन है जो निर्धारित लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए निरन्तर क्रियाशील रहती है। वेबर के मत में यह सत्ता के तार्किक वैधानिक स्वरूप का सर्वाधिक प्रभावी रूप है। वेबर नौकरशाही की निम्न विशेषतओं के आधार पर यह स्पष्ट करता है कि दूसरे संगठन की तुलना में नौकरशाही संगठन तकनीकी रूप से श्रेष्ठ है—

1. श्रम का विभाजन (दक्षता का क्षेत्र)
2. पद सोपान
3. नियम और नियमावलियां
4. लिखित अभिलेख
5. जीविका प्रणाली
6. मौद्रिक वेतन
7. अवैयक्तिकता
8. दक्षता (कुशलता)

नौकरशाही के अधिकारियों की निम्न विशेषताएँ हैं—

1. वैयक्तिक रूप से स्वतन्त्र
2. तकनीकी कुशलता के आधार पर नियुक्ति तथा नियोजन
3. प्रशासकीय कार्य अधिकारियों के लिये पूर्णकालिक होता है।
4. अधिकारियों का निजी जीवन अधिकारिक जीवन से भिन्न होता है।
5. तटस्थता, अनामिता तथा अवैयक्तिकता होती है।

हांलाकि नौकरशाही के कुछ लक्षण दुष्प्रकार्यात्मक रूप से भी व्यक्त होते हैं, जैसे अलगाव, लाल फीताशाही, भावशून्यता आदि। वेबर के द्वारा बताई गयी विशेषताओं से भिन्न विशेषता भी विकासशील देशों में पायी जाती है। इन दोनों प्रकार की विशेषताओं को तुलनात्मक रूप से इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है।

	वेबर	विकासशील देश
1.	कार्य व सत्ता का बंटवारा, नीति-निर्णयन से अलगाव तथा नीति को लागू किया जाना।	प्राय: सत्ता व जिम्मेदारी में असामंजस्य, राजनेताओं और नौकरशाहों में घनिष्ठ गठजोड़
2.	नियमबद्धता, अवैयक्तिक, एकरूपता और न्यायपूर्ण	जिम्मेदारी को महत्व न देना, नियम और नियमावलियां साधन के बजाए साध्य बन जाते हैं। विधि को लागू व्यक्तिगत आधारों पर किया जाता है।
3.	निजी तथा लोक जीवन का पृथक्करण	ऊपरी कमाई करने की प्रवृत्ति सामान्य हो जाती है।
4.	विशेषज्ञता तथा प्रशिक्षण	विदेशों में प्रशिक्षण-अप्रासंगिक, प्रबंधन तथा लेखांकन तकनीकों का अविसकित होना, प्रशिक्षित अक्षमता।
5.	प्रशासनिक दायित्वों का निवहन एकमात्र दायित्व	● अधिकारिक पद का दुरुपयोग अपने निजी हितों के संवर्धन के लिये करते हैं। ● समय पाबन्द नहीं होते हैं तथा उनमें अनुपस्थिति की प्रवृत्ति होती है।
6.	आजीवन रोजगार - जो उनकी कार्य प्रणाली में वस्तुनिष्ठता सुनिश्चित करता है।	● औसत दर्जे के प्रशासन का कारण : जड़त्व; लोगों के प्रति भावशून्यता, ● स्थानांतरण की नीति स्थायित्व को प्रभावित करती है।

किसी भी मशीन अथवा संरचना के प्रभावी रूप से कार्य करने के लिये आवश्यक है कि, संरचना वहाँ की संस्कृति के अनुकूल हो। अत: नौकरशाही को काम पर लगाने से पहले सुसंगत आचारों को समाज में

अधिरोपित करना होगा तथा क्रियाशील व्यक्तियों की सोच को उसके अनुसार ढालना होगा। भारत जैसे अल्प-विकसित राष्ट्र में आचार तथा संस्कृति नौकरशाही व्यवस्था के अनुरूप नहीं है। उदाहरण के लिए भारतीय समाज जाति आधारित समाज है। यहाँ अज्ञानता, निरक्षरता, कर्मकाण्ड (अनुष्ठान), सत्ता का दैवीकरण, इत्यादि देखने को मिलता है। (बलराम, 2000)।

अत: विकासशील समाजों के नौकरशाही संगठन वेबर द्वारा संकलित नौकरशाही से सर्वथा भिन्न है। साथ ही साथ यहां का सामाजिक सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य वेबर की नौकरशाही के अनुकूल नहीं है।

एक अन्य महत्वपूर्ण तथा ध्यान देने योग्य तथ्य यह है कि विकसित और विकासशील राष्ट्रों के लक्ष्य तथा उद्देश्य भी सर्वथा भिन्न होते हैं। विकसित राष्ट्रों में स्थायित्व अत्यधिक महत्वपूर्ण होता है तो वहीं विकासशील राष्ट्रों में संवृद्धि तथा विकास महत्वपूर्ण लक्ष्य होता है। वेबर की नौकरशाही नियम तथा नियमावलियों से दृढ़ता से जुड़े होने के कारण यथा-स्थिति वादी हो जाती है। इसीलिए वेबर की नौकरशाही विकासशील समाजों के विकासात्मक लक्ष्यों को प्राप्त करने की दिशा में कम प्रासंगिक है। क्या हमें नौकरशाही संगठनों को हटा देना चाहिए? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि न तो नौकरशाही को हटाना संभव है न ही ऐसा करना उचित होगा। नौकरशाही व्यवस्था नि:संदेह अपनी प्रकति में बहुत मजबूत है तथा तकनीकी रूप से बहुत दक्ष है। यह विकास की प्रक्रिया के लिए पूर्वपेक्षा भी है। इसलिए नौकरशाही संरचना से दूर न हटकर हमें इसे विकासशील समाजों की आवश्यकताओं तथा मूल्यों के योग्य बनाने का प्रयास करना होगा।

नौकरशाही के ढांचे को—

1. जवाबदेह बनाना होगा
2. इसकी कार्यप्रणाली में पारदर्शिता लानी होगी।
3. इसे गतिशील, नवप्रवर्तनकारी, लचीला तथा जनोन्मुख बनाना होगा तथा
4. सूचना प्रौद्योगिकी क्षेत्र के विकास का इस्तेमाल करना होगा।

यह कहा जा सकता है कि नौकरशाही संगठन को विकासशील देशों में प्रशासन के लिए उपयुक्त बनने के लिए यह आवश्यक है कि इसे जवाबदेह, उत्तरदायी, पारदर्शी तथा तकनीकीपरक होना होगा। (सिंह, 2000)

21.3.4 नौकरशाही की अवधारणा का मूल्यांकन

वेबर के नौकरशाही के आदर्श प्रारूप का कई समाजशास्त्रियों ने अपने-अपने ढंग से मूल्यांकन किया है। मर्टन (1968) का मत है कि नौकरशाह नियमों के अनुसार कार्य करने को प्रशिक्षित होते हैं, लेकिन यदि कोई नयी स्थिति आती है जो कि नियमों के तहत शामिल नहीं की गयी है तो इनका प्रशिक्षण गैर लचीलेपन को जन्म देता है। मर्टन का मत है कि नौकरशाही में प्रयुक्त नियम-कानून लालफीताशाही को जन्म देते हैं।

ब्लाऊ (1963, 1974) का मत है कि वेबर ने नौकरशाही के औपचारिक स्वरूप पर ज्यादा जोर दिया है जबकि नौकरशाही के अनौपचारिक स्वरूप पर ध्यान नहीं दिया है। ब्लाऊ के मत में नौकरशाही की दक्षता और कार्य कुशलता बहुत हद तक नौकरशाही के अनौपचारिक ढांचे पर निर्भर करती है। गूल्डनर (1954) ने अमेरिका के एक जिप्सम प्लान्ट का अध्ययन करते हुए यह बताया कि खान के ऊपर सतह पर नौकरशाही का ढांचा ज्यादा विकसित है जबकि निचली सतह पर अर्थात खान के भीतर नौकरशाही के

स्वरूप का कोई अर्थ नहीं रह जाता है। इसका कारण यह है कि खान के भीतर की परिस्थितियाँ भिन्न प्रकार की होती हैं, जिनका पहले से अनुमान नहीं लगाया जा सकता। गूल्डनर ने इस संदर्भ में एक खदान श्रमिक के वाक्य को उद्‌धृत किया है। उस श्रमिक के मत में "यहाँ नीचे हम कोई नियम नहीं मानते, हम अपने बांस खुद हैं।" इस अध्ययन के आधार पर गूल्डनर ने यह मत दिया कि नौकरशाही प्रशासन गैर रूटीन तथा ऐसी परिस्थितियाँ जिनका पहले से अनुमान नहीं लगाया जा सकता, के लिये उपयुक्त नहीं है।

नौकरशाही तंत्र में औपचारिकता व नियमबद्धता इस सीमा तक बढ़ जाती है। कि ये जीवन को नीरस बना देती है। वेबर द्वारा प्रस्तुत नौकरशाही के प्रारूप में कुछ विरोधाभास है। जैसे कई बार यह विवाद चल पड़ता है कि एक विशेषज्ञ को बड़ा माना जाये या नौकरशाही से सम्बंधित एक अधिकारी को। ऐसी विवादास्पद स्थिति में संगठन की कार्यकुशलता कई बार बढ़ने के बजाय घट जाती है।

नौकरशाही के दुष्प्रकार्यों की विवेचना से हमें यह नहीं समझ लेना चाहिए कि नौकरशाही का कोई प्रकार्यात्मक या लाभदायक पक्ष नहीं है। नौकरशाही के लाभ आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक एवं प्रशासनिक सभी क्षेत्रों में पाये जाते हैं। आधुनिक समाज के आर्थिक विकास में नौकरशाही व्यवस्था ने अपूर्व योग दिया है। इसका कारण यह है कि यह व्यवस्था प्रमुखत: विवेक या बुद्धि पर आधारित हैं। विवेकपूर्ण क्रिया का उत्तम उदाहरण नौकरशाही व्यवस्था ही है। यही कारण है कि इसमें सभी कार्य नियमों के अन्तर्गत अधिक कुशलता के साथ होते हैं। यह सही है कि मैक्स वेबर द्वारा प्रस्तुत नौकरशाही सिद्धान्त के अन्तर्गत राजनीतिक विकास का सही अनुमान नहीं लगाया गया और यही कारण है कि उनके द्वारा प्रस्तुत नौकरशाही तंत्र की आलोचना की गयी। लेकिन बेन्डिक्स (1969) की मान्यता है कि यह सही है कि वेबर ने उस राजनीतिक विकास का अनुमान नहीं लगाया था जिसने उनके इस विश्लेषण को उपयुक्त बनाया परन्तु चूँकि उनका इस प्रकार का प्रयोग संभव और फलदायक है, इसलिए वेबर की प्रतिभा का यही आश्चर्यजनक प्रमाण है। वेबर स्वयं नौकरशाही के बढ़ते हुए प्रभाव से चिन्तित भी थे। वेबर ने उन लोगों जो यह मानते थे कि आगे आने वाले दिनों में सर्वहारा वर्ग की तानाशाही होगी, को यह बताया कि सर्वहारा वर्ग की तानाशाही नहीं बल्कि नौकरशाही की तानाशाही होगी (बोन्डिक्स, 1969)। वेबर का यह मत था कि इस प्रकार बढ़ती हुई तर्क संगति की प्रकिया जीवन को नीरस बना देती है और मनुष्य अपने ही बनाए तर्कसंगतरुपी लोहे के पिंजरे में कैद हो जाता है।

21.4 सारांश

इस इकाई में आपने यह जाना कि वेबर के लिए शक्ति व सत्ता का क्या अर्थ है। शक्ति व सत्ता की अवधारणायें वेबर के राजनैतिक समाजशास्त्र के केन्द्र में हैं। इसी इकाई में हम तार्किक-विधिक संगठन नौकरशाही की विस्तृत चर्चा प्रस्तुत की गयी, जिसमें विकासशील देशों में इसकी प्रासंगिकता तथा इसका आलोचनात्मक पहलू भी शामिल है। वेबर तर्कसंगतिकरण की प्रक्रिया के बढ़ते हुए प्रभावों के नकारात्मक पहलुओं से भी अछूते नहीं रहे और अपने अध्ययनों में इसको शामिल किया।

21.5 कुछ उपयोगी पुस्तकें

(i) गर्थ, एच् एण्ड मिल्स, (1958) फ्राम मैक्स वेबर : एशेज इन सोशियालाजी, रुटलेस एण्ड केंगन पाल, लंदन ।

(ii) रिट्‌लर, जार्ज, (1992) सोशियालाजिकल थियरी, मैकग्राहिल, न्यूयार्क।

21.6 बोध प्रश्न

प्र०-1 वेबर के अनुसार निम्नलिखित में से कौन सा सत्ता का प्रकार नहीं है :

(a) पारम्परिक सत्ता (b) तर्क-विधिक सत्ता (c) करिश्माई अथवा चमत्कारिक सत्ता

(d) व्यक्तिगत सत्ता

प्र०-2 पारम्परिक सत्ता को किसके द्वारा वैधता मिलती है:

(a) देश का कानून (b) प्राचीन परंपराएं (c) नेता की श्रेष्ठ उपलब्धियां

(d) उपर्युक्त सभी।

21.7 बोध प्रश्नों के उत्तर

उत्तर - प्र०-1 (d)

प्र०-2 (b)

प्र०-3 वेबर के पारम्परिक सत्ता के प्रारूप की अवधारणा की चर्चा करें (कृपया 50 शब्दों में उत्तर दें)।

प्र०-4 ''वेबर की नौकरशाही का आदर्श प्रारूप विकासशील देशों के लिएं अनुपयुक्त है।'' इस कथन का आलोचनात्मक मूल्यांकन प्रस्तुत करें।

इकाई 22 वेबर के बाद का समाजशास्त्र

इकाई की रूपरेखा

22.0 उद्देश्य

22.1 प्रस्तावना

22.2 वेबर के संक्षिप्त विचार

22.3 वेबर के विचारों का समाजशास्त्र पर प्रभाव

22.3.1 वेबर के आदर्श प्रारूप का उपयोग

22.3.2 घटना क्रमविज्ञान

22.3.3 लोकविधि विज्ञान

22.4 वेबर के विचारों की भारतीय समाज के संदर्भ में प्रासंगिकता

22.5 सारांश

22.6 कुछ उपयोगी पुस्तकें

22.7 बोध प्रश्न

22.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

22.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त आप :

- वेबर के विचारों ने कैसे वाद के समाजशास्त्र की दशा व दिशा को प्रभावित किया इस पर टिप्पणी कर सकेंगे।
- वेबर के विचारों की भारतीय समाज के संदर्भ में क्या प्रासंगिकता है? इसका विश्लेषण कर सकेंगे।

22.1 प्रस्तावना

इस इकाई में वेबर के कुछ महत्वपूर्ण विचार संक्षेप में प्रस्तुत किये गये हैं। इस इकाई में यह स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है कि वेबर की अवधारणाओं का अन्य समाजशास्त्रियों ने अपने सिद्धान्तों में किस तरह से प्रयोग किया है। इसी इकाई में आपको यह जानकारी मिलेगी कि वेबर के विचारों ने कालान्तर में ''व्याख्यात्मक समाजशास्त्र'' की धारणा को जन्म दिया। इसके साथ ही एक संक्षिप्त विवेचन वेबर के विचारों का भारतीय समाज के संदर्भ में प्रासंगिकता पर प्रस्तुत किया गया है।

22.2 वेबर के संक्षिप्त विचार

वेबर के अनुसार समाजशास्त्र वह विज्ञान है जो सामाजिक क्रिया का व्याख्यात्मक बोध कराने का प्रयत्न करता है। वेबर ने अपने व्याख्यात्मक बोध अथवा फर्स्थेन की पद्धति को स्पष्ट करते हुए यह कहा कि

वास्तविकता व्यक्तित्व के भीतर घटित होती है न कि प्रत्यक्षवादियों के विचारानुसार व्यक्ति के बाहर। इस प्रकार वेबर समाजशास्त्र के लिये विशिष्ट विषय वस्तु और पद्धतियों की रूपरेखा प्रस्तुत करता है।

वेबर ने समाजशास्त्रीय विश्लेषण को आसान बनाने के लिए एक महत्वपूर्ण पद्धति विकासित की जो आदर्श प्रारूप के नाम से जानी जाती है। वेबर के लिये आदर्श प्रारूप एक ऐसी पद्धति है जो अध्ययन की जाने वाली घटनाओं की मूलभूत विशेषताओं को चित्रित करती है। यह किसी सामाजिक वास्तविकता की आदर्श तस्वीर प्रस्तुत करती है। वेबर सामाजिक क्रिया का व्याख्यात्मक बोध (फर्स्थेन) करने तथा उसके अध्ययन के लिये आदर्श प्रारूप को निर्मित करने पर बल देता है।

22.3 वेबर के विचारों का समाजशास्त्र पर प्रभाव

वेबर की अवधारणाओं का बाद के समाजशास्त्रियों ने बखूबी प्रयोग किया। इसके साथ ही वेबर के विचारों ने समाजशास्त्र में व्याख्यात्मक समाजशास्त्र की धारा का प्रतिपादन किया। इस खण्ड की इकाई-दो में आपने यह देखा कि पारसंस ने अपने क्रिया के समाजशास्त्र में मैक्स वेबर के सामाजिक क्रिया के विचारों को अपना स्रोत बनाया। अगले भाग में वेबर के आदर्श प्रारूप की अवधारणा के उपयोग पर एक संक्षिप्त चर्चा प्रस्तुत की गयी है। इसके अलावा व्याख्यात्मक समाजशास्त्र के विकास को भी स्पष्ट किया गया है।

22.3.1 वेबर के आदर्श प्रारूप का उपयोग

वेबर ने अपने आदर्श प्रारूप की अवधारणा को अध्ययन के पद्धति शास्त्रीय उपकरण के रूप में विकसित किया। पिछली इकाइयों में वेबर के द्वारा प्रयुक्त आदर्श प्रारूपों पर विस्तृत चर्चा प्रस्तुत की जा चुकी है, जिसमें क्रिया के आदर्श प्रारूप, शक्ति व सत्ता के आदर्श प्रारूप, पूँजीवाद और प्रोटेस्टैण्ट नीति के आदर्श प्रारूप इत्यादि। वेबर के नौकरशाही के आदर्श प्रारूप का इस्तेमाल करते हुए राइन हार्ड बेन्जिक्स ने संसार के छह देशों का अध्ययन किया। वेबर की नौकरशाही के आदर्श प्रारूप पर बर्न्स और स्टाकर (1966), गूल्डनर (1954), ब्लाऊ (1963, 1974) के अध्ययन भी चर्चित हैं। एक अन्य अध्ययन जो कि विकास के माडल से सम्बन्धित है। को स्पष्ट करते हुए होशलिट्ज ने पार्सन्स के प्रतिमा चरों को आदर्श प्रारूप के रूप में चित्रित करते हुए विकास के ''आदर्श प्रारूपवादी उपागम'' को प्रस्तुत किया। समाजशास्त्री ग्राम और नगर के सातत्य की अवधारणा को भी आदर्श प्रारूप के रूप में समझाते हैं (सिन्धी और गोस्वामी, 1998)।

22.3.2 घटनाक्रम विज्ञान

वेबर के फर्स्थेन की अवधारणा ने समाजशास्त्र में व्याख्यात्मक धारा को जन्म दिया। इस धारा के आगामी विद्वानों में शूट्ज तथा गारफिन्केल का नाम प्रमुख रूप से उल्लेखनीय है। शूट्ज (1972), ने समाजशास्त्र में अध्ययन के लिये घटनाक्रम वित्रान (फिनोमेनोलाजी) को जन्म दिया। शुट्ज के अनुसार प्रघटनाशास्त्र वस्तुओं में रु चि नहीं रखता अपितु उनके अर्थों में, और अर्थो का निर्माण मस्तिष्क करता है। प्रघटनाशास्त्र उपागम में सबसे महत्वपूर्ण योगदान शूट्ज का माना जाता है। वे जन्म से आस्ट्रेयिन थे और अन्तत: अमेरिका में बस गये थे। हसर्ल, वेबर, बर्गनस, रिकर्ट का उन पर विशेष प्रभाव पड़ा। अमेरिका में वे जेम्स व मीड से प्रभावित हुए। इन सब लेखकों के प्रभावों से शूट्ज ने एक समन्वित सैद्धान्तिक प्रारूप प्रस्तुत करने में महत्वपूर्ण योगदान दिया। इसी प्रारूप को वर्तमान में समाजशास्त्र में प्रघटनाशास्त्रीय उपागम का नाम दिया जाता है। हर्सल का प्रघटनाशास्त्र दर्शनशास्त्रीय बौद्धिकता पर आधारित था। दूसरी ओर वेबर का वर्सथन समाजशास्त्र में व्यावहारिकता लाने के लिए उपयोगी था। शूट्ज की विद्वता ने दोनों

को समन्वित किया। शूट्ज के शब्दों में समाजशास्त्र का उद्देश्य लौकिक जगत् के सार-स्वरूप को उजागर कर विश्लेषित करना है। ऐहिक विश्व को साधारण-ज्ञान पर परिभाषित किया जाता है। शूट्ज के अनुसार दिन-प्रतिदिन का जीवन प्रभावी यथार्थ है। यह जीवन सामाजिक, भौतिक, भौगोलिक वस्तुओं से बना है। जिसके अन्तर्गत व्यक्ति रहते हैं, कार्य करते हैं व परस्पर सम्बन्धों का निर्वाह करते हैं। लोगों की इस विश्व के प्रति स्वाभाविक अभिवृत्ति होती है। वे इसके अस्तित्व पर प्रश्न चिन्ह नहीं लगाते और न ही उसकी निरन्तरता में कोई शक करते हैं। दैनिक जीवन के बारे में अगर किन्हीं दो आम व्यक्तियों को प्रश्न पूछे जाएं तो एक से उत्तर आयेंगे, लोगों के परिप्रेक्ष्य व धारणाएं समानता का बोध कराती है। शूट्ज ने यह प्रश्न उठाया कि समान धारणा बनती कैसे है जबकि हर व्यक्ति का जीवन-वृतान्त भिन्न है। हालांकि हर बालक जन्म के समय विशिष्ट परिवार में जन्म लेता है पर शनै:-शनै: वह सतत समाज की सूचनाओं को ग्रहण करता रहता है। इस प्राप्ति को शूट्ज ने ज्ञान भंडार की संज्ञा दी है। हर व्यक्ति अपने ज्ञान भंडार के आधार पर व्यक्तिगत परिप्रेक्ष्य को निर्मित करता है। समान अर्थों की उत्पत्ति अंतरविषयपरकता के आधार पर निर्मित होती है। यह अंतरविषयपरकता मनुष्य की चेतना की अंतरनिहित सामाजिकता की द्योतक है। साथ ही यह व्यक्ति का स्व, विश्व अनुभव का वह आयाम है जिसमें अर्थों की साझेदारी है।

22.3.3 लोकविधि विज्ञान

लोकविध विज्ञान (एथनोमेथडोलाजी) भी व्याख्यात्मक समाजशास्त्र की परम्परा के अन्तर्गत विकसित एक अन्य महत्वपूर्ण अध्ययन पद्धति है। इस पद्धति के प्रमुख प्रवर्तक गारफिन्केल (1967) माने जाते हैं। यह पद्धति संरचनात्मक, प्रकार्यात्मक उपागम के विरोध में एक दूसरा पक्ष प्रस्तुत करती है। यह उपागम उस विशेष सामाजिक यथार्थ का निर्माण विश्लेषण करता है जिसमें विशिष्ट पद्धतियों के माध्यम से किसी समाज के सदस्य परस्पर एक दूसरे से संचार के माध्यमों के द्वारा अर्थयुक्त आदान-प्रदान करते हैं जो कि दिन प्रतिदिन की घटनाओं में अभिव्यक्त होता है।

नृजाति पद्धतिशास्त्र प्रमुख रूप से तीन तथ्यों का महत्व देता है—

(i) दिन प्रतिदिन की क्रियाएं,

(ii) भाषा व उसका सामाजिक पक्ष

(iii) स्थितियों के मानदण्डात्मक पक्ष एवं व्यक्तियों के द्वारा विशिष्ट संदर्भ स्थितियों में मानदण्डों की अनुपालना की प्रक्रियाओं की वास्तविकता।

यह उपागम दिन-प्रतिदिन की क्रियाओं के प्रत्यक्ष अध्ययन पर बल देता है: किस तरह से आम व्यक्ति बात करते हैं, विचार विमर्श करते हैं, तर्क करते हैं, सीखते हैं, प्रेम रखते हैं, और अपने द्वारा परिभाषित अर्थ देकर अपनी क्रियाओं व व्यवहार को सम्पन्न करते हैं। साथ ही इन सबको एक व्यवस्थित स्वरूप प्रदान करते हैं जिससे कि अर्थ का निर्माण किया जा सके।

22.4 वेबर के विचारों की भारतीय समाज के संदर्भ में प्रासंगिकता

मैक्स वेबर की भारत के लिये प्रासंगिकता (चौहान, 1994) पर अधिकांश विवाद उनकी निम्नांकित कृतियों पर आधारित हैं : भारत का धर्म (रिलीजन ऑफ हिन्दूइस्म एण्ड बुद्धिस्म), प्रोटेस्टैण्ट आचरण और पूंजीवाद के सार तत्व (द प्रोटेस्टैण्ट ईथिक एण्ड स्पिरिट ऑफ कैपीटलिज्म) अर्थ तंत्र और समाज (इकॉनामी एण्ड सोसाइटी) तथा कुछ निबंध जो समाज विज्ञान में निबंध (एसेज इन सोशियोलाजी) में

i) आर्थिक विकास और भारतीय धर्म, आचरण, व मूल्य,

ii) तार्किकता और उसकी प्रकृति का भारतीय सामाजिक सांस्कृतिक व्यवस्थाओं में स्थान,

iii) वेबर के भारतीय धर्म का संस्कृति के बारे में उल्लिखित मतों की पुष्टि में दिये गये यथार्थपूर्ण वक्तव्यों के बारे में प्रामाणिकता तथा वस्तुनिष्ठता पर लगाए गए प्रश्न चिन्ह ।

iv) कुछ प्रश्न वेबर के समाज विज्ञान पर सामान्य रूप से प्रविधि की पर्याप्तता पर भी उठाये गये हैं।

मिल्टन सिंगर ने औद्योगिक नेतृत्व, हिन्दू आचरण पद्धति और समाजवाद के जीवन्त तत्व के अध्ययन में वेबर द्वारा हिन्दू धर्म पर प्रतिपादित स्थापनाओं यथा पूर्व-निर्धारित भाग्य पर विश्वास और उनके आर्थिक व औद्योगिक साहस पर कई प्रश्न चिन्ह लगाए। वे लिखते हैं :

''परम्परागत'' भारतीय समाज एक बदलता हुआ समाज रहा है और जिन हिन्दुओं ने इन परिवर्तनों को क्रियान्वित किया है उन्हें इन नये तत्वों या तरीकों के अपनाने में किसी जाति, कर्मकांड, पंथ या धर्म ने तो रोका नहीं।'' वेबर स्वयं हिन्दू धर्म में लचीलेपन तथा साधनों के प्रयोग करने की क्षमता की प्रशंसा कर चुके हैं, काल्विन तथा हिन्दू दर्शन में ऐसी कई समानताएं है कि यह स्पष्ट नहीं हो पाता कि एक विश्वास का मानसिक प्रभाव दूसरे के से इतना विपरीत हो। भाग्य और व्यक्तिगत होनी पर बल देने वाली दोनों मीमांसाओं में ''मुक्ति की चिन्ता'' तो मतावलम्बियों में आनी ही चाहिए। दोनों में मेहनत और अपने निर्दिष्ट कार्य के प्रति लगन एक नैसर्गिक दायित्व के रूप में प्रतिष्ठित है। अपनी कार्य कुशलता व निर्दिष्ट कार्य के प्रति लगन एक नैसर्गिक दायित्व के रूप में प्रतिष्ठित है। अपनी कार्य कुशलता व निर्दिष्ट कार्य के प्रति लगाव इस लोक से परे की मुक्ति के लक्ष्य से जुड़े हैं। भगवद्गीता में तो यह सम्बन्ध स्पष्ट है जो गृहस्थ, नारी व शूद्र को मुक्ति का मार्ग दिखाती है यदि वे अपने कर्त्तव्य का पालन बिना फल की इच्छा या स्वार्थ के वशीभूत होकर करते रहे। तिलक, गाँधी और अन्य आधुनिक नेताओं ने ''प्रोटेस्टैण्ट ईथिक'' (आचरण) व गीता की समानता का प्रयोग आर्थिक राजनीतिक आन्दोलनों के औचित्य सिद्ध करने में किया।

भारत में आधुनिकता के अध्येताओं के लिए अब तो बौद्धिक रूप से भी आर्थिक विकास में धर्म की नकारात्मक भूमिका प्रस्थापित करना संभव नहीं रहा। चाहे उद्योगों में हों या कृषि, आधुनिक तकनीकी अपनाने, शिक्षा, आधुनिक संचार विधि, नये प्रबंधन की क्षमताएं या संगठनों तक पहुंच की बात हो, भारत के सभी लोगों ने हिन्दुओं के अग्रणी पक्ति में रहते हुए तर्क युक्त विधियों व कार्य प्रणाली को अपनाया है। इस बारे में गुन्नार मिर्डाल तथा विलियम कैप जैसे विद्वानों के द्वारा व्यक्ति शंकाएं निर्मूल सिद्ध हुई हैं। इन्होंने हिन्दू धर्माचरण की संरचना के लचीलेपन और व्यावहारिकता वाले तत्वों को भली-भांति समझा। जैसे-जैसे भारत में आधुनिक संस्थाओं की ग्राह्यता के अध्ययन बढ़े हैं, तथ्यात्मक रूप में इन तत्वों की उपस्थिति के प्रमाण आते जा रहे हैं और हिन्दू धर्माचरण की व्यावहारिकता उजागर होती जा रही है।

22.5 सारांश

इस इकाई में वेबर के विचारों ने जिस तरह समाजशास्त्र की दशा व दिशा को प्रभावित किया, उसकी विस्तृत चर्चा प्रस्तुत की गयी है। इसके साथ ही वेबर के विचारों की भारतीय समाज के संदर्भ में

प्रासंगिकता पर भी विवेचन प्रस्तुत किया गया है। इस विवेचन में आपने विभिन्न विद्वानों के इस सम्बन्ध में विचारों को जाना है।

22.6 कुछ उपयोगी पुस्तकें

(i) हरलम्बास और हील्ड, (1985) आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, न्यू देहली।

(ii) चौहान, ब्रजराज, (1994) समाज विज्ञान के प्रेरक स्रोत, ए. सी. ब्रदर्स, उदयपुर

(iii)

सिंधी, नरेन्द्र कुमार तथा गोस्वामी, वसुधाकर (1998), राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी।

22.7 बोध प्रश्न

प्र०-1 वेबर के विचार विशेषकर धर्म विषयक विचारों को भारतीय समाजशास्त्रियों ने भारत के संदर्भ में पूरी तरह प्रासंगिक माना हा। यह कथन—

(a) सही है (b) गलत है (c) आंशिक सत्य है (d) इनमें से कोई नहीं।

प्र०-2 व्याख्यात्मक समाजशास्त्र के परिप्रेक्ष्य का मूल्यांकन प्रस्तुत करें (कृपया 200 शब्दों में उत्तर दें)।

प्र०-3 वेबर के विचार भारतीय संदर्भ में कहां तक प्रासंगिक है ? टिप्पणी करें।

22.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

उ० (a)

संदर्भ सूची

यहाँ उन पुस्तकों की सूची प्रस्तुत की गयी है जिनका संदर्भ इस इकाई के विवेचन में लिया गया है। इस सूची में वेबर की अपनी पुस्तकें शामिल नहीं की गयी हैं। हालांकि उनका संदर्भ पूरे विवेचन में लिया गया है। वेबर की अपनी पुस्तकों की सूची शुरू में खण्ड परिचय में दे दी गयी हैं।

(i) गिडेन्स, एन्थोनी (1992) ''कैपीटलिज्म एण्ड माडर्न सोशल थियरी : एन एनालिसिस आफ द राइटिंग्स आफ मार्क्स, दुर्खीम एण्ड मैक्स वेबर,'' कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस, कैम्ब्रिज।

(ii) कोजर, लुविस, (1996), ''मास्टर्स आफ सोशियोलाजिकल थॉट : आइडियाज इन हिस्टारिकल एण्ड सोशल कांटेक्सट,'' रावत प्रकाशन, जयपुर,

(iii. ऐरों, रेमन्ड, (1970), ''मेन करेन्ट्स इन सोशियोलाजिकल थॉट, भाग-2, पेंगुइन: लंदन।

(iv) कांल्विन लारसन, (1973), मेजर थीम्स इन सोशियोलाजिकल थियरी, डेविड मैके, न्यूयार्क

(v) पार्सन्स, टी, (1949), द स्ट्रक्टर आफ सोशल एक्शन, ग्लेनको इलियोनिश।

(vi) अब्राहम एण्ड मार्गन, (1985), सोशियोलाजिकल थाट, मैकानिलम इंडिया लिमिटेड, जयपुस

(vii) मिशेल जी. डी., (1968), ए डिक्शनरी आफ सोशियालाजी, रुटलेज एण्ड केगन पाल, लंदन

(viii) बेन्डिक्स, राइन हार्ड, (1969) मैक्स वेबर, एक बौद्धिक व्यक्तित्व (हिन्दी में अनुदित द्वारा के. एन. शर्मा) हिन्दी समिति, सूचना विभाग, उ०प्र०

(ix) हरलम्बास और हील्ड, (1985), आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी, प्रेस, न्यू देहली

(x) जानसन, हेरी, एम, (1990) समाजशास्त्र एक विधिवत विवेचन, कल्याणी पब्लिशर्स (योगेश अटल द्वारा हिन्दी में अनुदित) लुधियाना.

(xi) चौहान, ब्रजराज, (1994), समाज विज्ञान के प्रेरक स्रोत, ए. सी. ब्रदर्स उदयपुर.

(xii) सिंधी, नरेन्द्र कुमार तथा गोस्वामी, वसुधाकर, (1998) राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी

(xiii) रिट्जर, जार्ज, (1992), सोशियोलाजिकल थियरी, मैग्राहिल, न्यूयार्क

(xiv) शूट्ज, अल्फ्रेड, (1972), द फिनोमेनोलाजी आफ सोशल वर्ल्ड, राइनमैन, लंदन

(xv) गारफिन्केल, होराल्ड, (1967), इस्टडीज इन इथनोमेथडोलाजी, प्रेन्टिस हाल

(xvi) बर्न्स एवं स्ट्राकट, (1966) मैनेजमेन्ट आफ इनोवेशन, तवीस्टाक, लंदन

लेख -

(i) बलराम, अनुराग-''वेबेरियन मांडल आफ ब्यूरोक्रेसी द बेस्ट फिट/मिस फिट फार डेवलेपमेन्ट एडमिनीस्ट्रेशन''

तथा

(ii) सिंह, जसपाल—''इफेक्टिवनेस. आफ ब्यूरोक्रेसी, आइ. आइ. पी. ए. जर्नल, (2000) नयी दिल्ली।

NOTES

NOTES

NOTES